प्रचुर विद्वान् और प्रसिद्ध विद्या प्रेमी

आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी,

उपकुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय

को

सादर समर्पित !

विषय सूची

प्रतिनिधि प्रणाली से सुविधा—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—निर्वा संघ-संघ का क्षेत्र, साधारण निर्वाचक संघ— विशेष निर्वाचक संघ—सं निर्वाचक संघों की आवश्यकता—संयुक्त निर्वाचन से लाभ—मताधिकार सिद्धान्त—व्यापक मताधिकार—मताधिकार का महत्व—मताधिकार के अधिकार स्त्रियों का मताधिकार निर्वाचकों की योग्यता श्रम और स्वावलंबन सम्पत्ति योग्यता—वयस्क मताधिकार—निर्वाचकों का कर्त्तव्य—अभ्यर्थी के गुण—रूप आदर्श—मतों का गुप्त रहना—एकमत प्रणाली—अनेकमत प्रणाली [क] 'ए अभ्यर्थी, एकमत' प्रणाली; [ख] एकत्रीभूत मत पद्धति; [ग] एकल संक्रा मत पद्धति निर्वाचन के परिणाम की व्याख्या।

११—विधान और सर्वोच्चसत्ता ३३

विधान का स्रोत—आधुनिक विधानों का आधार—१. व्यक्ति; २. वस्तु— विधानों के विभाग—१. संविधान शास्त्र; २. प्रशासन सम्बन्धी विधान; ३. दं सम्बन्धी विधान, ४. अन्तर्राष्ट्रीय विधान—१. स्वतन्त्रता के सम्बंध में; २. समान नता के सम्बन्ध में; ३. सम्पत्ति के सम्बन्ध में; ४. अपराध निर्णय के सम्बन्ध में; ५. राजनीति के सम्बन्ध में; ६. युद्ध के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान; ७. उदासीनता के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान; ८. व्यापार सम्बन्धी उदासीनता के विषय में—सर्वोच्चसत्ता की परिभाषा सर्वोच्चसत्ता—[क] राज्य का आंतरिक स्वरूप—[ख] राज्य का वाह्यस्वरूप—सर्वोच्चसत्ता तथा विधान सर्वोच्चसत्ता के चिन्ह तथा गुण—सर्वोच्चसत्ता सिद्धांत का उदय—सर्वोच्चसत्ता सिद्धांत की आलोचना सामयिक राज्यों में राज्य की सर्वोच्चसत्ता का स्थान— राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता का सिद्धांत—आस्टिन का सर्वोच्चसत्ता सिद्धांत—बहुलवाद और सर्वोच्चसत्ता।

राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त

अध्याय १

विषय-प्रवेश

सृष्टि के आदि में मानव-जाति की उत्पत्ति के आरम्भ से ही मानव-ज्ञान की निरन्तर उन्नति होती चली आ रही है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, दार्शनिक तथा जन साधारण द्वारा जो मानव-ज्ञान की वृद्धि हुई है उसका अनुभव आज हम भली भाँति कर सकते हैं। तत्ववेत्ताओं ने इस ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्राकृतिक विज्ञान, दूसरा सामाजिक विज्ञान। प्राकृतिक विज्ञान क्षेत्र के अन्तर्गत रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, गणित, भूगर्भ विद्या, इत्यादि हैं। इतिहास, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि, सामाजिक विज्ञान क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस पुस्तक में हम अपने विषय को राजशास्त्र तक ही सीमित रक्खेंगे। परन्तु जिस प्रकार एक मुद्रा के दो पार्श्व होते हैं उसी प्रकार विज्ञान के प्रत्येक विषय के दो पार्श्व हैं—एक सैद्धान्तिक, दूसरा व्यावहारिक। अतः राजनैतिक विज्ञान के व्यावहारिक पार्श्व का साधारण वर्णन करते हुए हम उसके सैद्धान्तिक पार्श्व की विशेष रूप से विस्तृत विवेचना करेंगे।

राजशास्त्र का महत्व—प्रथम महासमर (१९१४-१८) के अन्त से संसार में मानव जाति के दैनिक जीवन में बड़ा परिवर्तन हो गया है। मनुष्य समाज के साधारण जीवन में कोई इतना महत्वपूर्ण तथा आकर्षक विषय प्रतीत नहीं होता जितना राजनीति। उदाहरणार्थ, अपने ही देश को लीजिए। इस महासमर से पूर्व हमारे देशवासी राजनैतिक विषय पर कभी इतना ध्यान नहीं देते थे। हमारे देश की ९० प्रतिशत जनता ग्रामीण है। ये ग्राम निवासी शताब्दियों से एक सी दशा में रहते चले आ रहे थे। भारतवर्ष पर अनेकों आक्रमण हुए, अनेक बार राज्य परिवर्तन हुए तथा क्रान्तियाँ हुईं, परन्तु यहाँ की साधारण ग्रामीण जनता के ऊपर इन घटनाओं का कोई विशेष प्रभाव न

पड़ा और ज्यों की त्यों अपनी सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति में अचल रहा। परन्तु प्रथम महासमर (१९१४-१८) के अन्त से भारत की जनता की दशा में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। प्रत्येक भारतवासी समाचारपत्रों को सुनना, देखना, पठन-पाठन करना तथा उनके राजनैतिक विषयों पर आलोचना करना अपना कर्तव्य समझने लगा है। जो बात नगर के निकट के ग्रामों में दृष्टि-गोचर होती है वही बात नगर अथवा रेल के स्टेशनों से सैकड़ों मील दूरस्थ ग्रामों की जनता में भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य अपने जीवन के दोनों पार्श्वों (व्यक्तिगत तथा सामाजिक) को भली प्रकार जान गया है। अपने व्यक्तिगत अधिकार और कर्त्तव्यों को समझता हुआ मनुष्य अपने को समाज का एक मुख्य अंग समझता है, और समाज का मुख्य अंग समझते हुए वह समाज के प्रति अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यों को भली प्रकार समझता है। केवल समाज का अंग ही नहीं बल्कि वह अपने को एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित समाज का अंग समझता है। सारांश यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने को राजनैतिक समुदाय का एक मुख्य अंग समझता है।

प्रथम महासमर के पश्चात् रूस में जो समाजवाद की लहर उठी उसके प्रभाव से यूरोप और एशिया का कोई बिरला ही देश वंचित रहा होगा। संसार में शान्ति स्थापित रखने तथा राष्ट्रों में परस्पर मित्र-भाव की वृद्धि करने के प्रयोजन से स्थापित की गई "लीग आफ नेशन्स" केवल मृगतृष्णा के रूप में परिवर्तित हो गई, और जापान का चीन पर आक्रमण तथा इटली का अबीसीनिया पर अत्याचार प्रारम्भ होते ही लीग का अन्त हो गया।

द्वितीय महासमर (१९३९–१९४५) के अन्त में मनुष्य के राजनैतिक विचारों में और अधिक परिवर्तन हुआ। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की लहर सारे संसार में बिजली की भाँति फैल गई। इसी लहर में संसार के आधीन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना तथा मित्र-भाव की स्थापना तथा वृद्धि करने के लिये "संयुक्त राष्ट्र" की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य विश्व में शान्ति रखना है। अब मनुष्यों में समान व्यवहार की भावना जागृत हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति अब अपने आपको एक ग्राम अथवा नगर का नागरिक ही नहीं समझता है बल्कि वह अपने को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति समझता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में उतना ही ध्यान देता है जितना कुछ वर्ष पूर्व अपने नगर अथवा देश के विषयों में देता था। वह इस बात को जानने का प्रयत्न करता है कि संयुक्त-राष्ट्र में आजकल क्या हो रहा है? एक राष्ट्र के दूसरे के प्रति कैसे भाव हैं? अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने

के लिये संयुक्त राष्ट्र क्या कर रहा है ? रूस के विचार अमरीका के प्रति कैसे हैं ? अमरीका की जापान में क्या नीति बर्ती जा रही है ? इत्यादि। मनुष्य के विचार में अब ऐसी बातें अधिक आती हैं। अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर उसका ध्यान अधिक दौड़ता है। इन बातों से प्रतीत होता है कि मनष्य का विचार-क्षेत्र अब कितना विस्तृत हो गया है। एक समय ऐसा आयेगा जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को सार्वभौमिक-राष्ट्र का एक सदस्य समझेगा क्योंकि यातायात के साधन इतनी उन्नति कर चुके हैं और कर रहे हैं कि संसार का कोई भी देश कुछ घंटों की यात्रा की दूरी का रह जायगा और रेडियो, तार-यन्त्र तथा दूरभाष द्वारा आज भी हम यहाँ बैठे हुए संसार के किसी भाग में स्थित व्यक्ति से क्षण भर में वार्तालाप कर सकते हैं।

राजशास्त्र क्या है ?—राजशास्त्र, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, समाजशास्त्र का एक अंग है। समाजशास्त्र में मनुष्यजीवन के प्रत्येक पार्श्व का वर्णन आ जाता है। मनुष्य जीवन की प्रत्येक घटना, प्रत्येक कार्य तथा दशा का संबन्ध समाजशास्त्र से है। मनुष्य के जन्म से मरण-पर्यन्त उसके जीवन से सम्बद्ध जितने कार्य हैं वे सब समाजशास्त्र के अन्तर्गत हैं। अतः मनुष्य की आर्थिक अवस्था, धार्मिक अवस्था, राजनैतिक अवस्था, रहन-सहन, यह सब विषय समाजशास्त्र के भीतर आजाते हैं। मनुष्य की राजनैतिक अवस्था, अर्थात् मानव समाज का एक विशेष ढंग से शासक और शासित के रूप में संगठित होना राजशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। राजशास्त्र का सम्बन्ध राज्य से है, राज्य का शासक और शासित से घनिष्ट सम्बन्ध है। शासक और शासित के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन राजशास्त्र में किया गया है। शासक के शासित के प्रति तथा शासित के शासक के प्रति क्या-क्या अधिकार और कर्त्तव्य हैं ? शासक कितने प्रकार के होते हैं ? आदर्श शासक किसे कहते हैं ? आदर्श शासक के क्या गुण हैं ? कौन सी बातें राज्य के लिये आवश्यक हैं ? राज्य के कौन कौन से मूलतत्व हैं ? इन सब बातों का वर्णन राजशास्त्र में किया गया है। राजशास्त्र वह शास्त्र अथवा विज्ञान है जिसमें राज्य (State) के शासन, गुण, कर्म, धर्म तथा उसके भिन्न-भिन्न रूपों की विवेचना की जाती है।

प्राचीन यूरोपीय राजशास्त्र वेत्ताओं ने राजशास्त्र संबन्धी विषयों के लिये शब्द 'पौलिटिक्स' (Politics) प्रयोग किया है। यूनान के प्रसिद्ध राजशास्त्र वेत्ता अरस्तू ने 'पौलिटिक्स' नाम की एक पुस्तक लिखी है जिसमें उसने राज्य सम्बन्धी सब विषयों का वर्णन किया है। शब्द 'पौलिटिक्स' 'पोलिस' (Polis) शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'नगर-राज्य' (City-

State)। जेलिनेक (Jellinek), हौल्जन्डोर्फ़ (Holtzendorff), और सिजविक (Sidgwick) आदि लेखकों ने वर्तमान काल में प्रचलित शब्द "राजनैतिक विज्ञान" (Political Science) के स्थान पर केवल शब्द "राजनीति" (Politics) ही प्रयोग किया है। प्रसिद्ध जर्मन राजशास्त्र वेत्ता ब्लंशले (Bluntschli) लिखता है कि "राजशास्त्र उस शास्त्र का नाम है, जिसमें राज्य के तत्वों का, उसकी मूल प्रकृति का, उसके गुणधर्म का, उसके विविध रूपों और विकास का वर्णन रहता है।" गैरियस (Garies) नाम का जर्मन राजशास्त्र वेत्ता लिखता है कि 'राजशास्त्र राज्य की शक्ति की संस्था, राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य और आदर्श पर विचार करता है।" फ्रान्स का प्रसिद्ध राजशास्त्र वेत्ता, पाल जैनेट (Paul Janet) लिखता है कि "राजशास्त्र समाजशास्त्र का वह भाग है जो राज्य के मूल और शासन के तत्वों पर विचार करता है।" प्रोफेसर सीली (Seeley) लिखता है कि "राजशास्त्र शासन के सिद्धान्तों और कार्यों का उसी प्रकार विवेचन करता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र संपत्ति का, जीवनशास्त्र जीवन का और बीजगणित अङ्कों का।"

इन सब मतों पर विचार करके हम यह परिणाम निकालते हैं कि राजशास्त्र वह शास्त्र अथवा विज्ञान है जो राज्य अथवा शासक तथा शासित सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर प्रकाश डालता है और राज्य की उत्पत्ति, मूल प्रकृति, तत्त्व तथा उसके विविध रूपों तथा विकास की विवेचना करता है।

सर फ्रैडरिक पौलक (Sir Frederick Pollock) ने राजशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया है—

(१) सैद्धान्तिक राजशास्त्र (Theoretical Politics) और

(२) व्यावहारिक राजशास्त्र (Applied Politics)।

सैद्धान्तिक राजशास्त्र केवल राज्य अथवा राज्यशासन के मूलतत्वों का, उसके सिद्धान्तों का तथा उसके आदर्शों का विवेचन करता है। व्यावहारिक राजशास्त्र उन साधनों तथा उपायों का विवेचन करता है जिनके आधार पर राजशास्त्र के तत्व तथा आदर्श व्यवहार में लाये जाते हैं।

सर फ्रैडरिक पौलक ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राज-शास्त्र के उद्देश्यों को इस प्रकार प्रकट किया है—

सैद्धान्तिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
(१) राज्य के सिद्धान्तों का अर्थात् उनके मूलतत्व, गुण, धर्म और आदर्शों की व्याख्या।	(१) राज्य के व्यावहारिक तथा प्रत्यक्षरूप अथवा शासन की व्याख्या।
(२) शासन सिद्धान्त अर्थात् शासन-सम्बन्धी संस्थाओं, विभाग-व्यवस्था, राज्यकर, विधि (कानून) आदि के सिद्धांतों की व्याख्या।	(२) शासन के व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप की व्याख्या जिसमें पृथक्-पृथक् शासन प्रणालियों का वर्णन तथा विश्लेषण होगा।
(३) विधि निर्माण सिद्धान्त अर्थात् इसमें क़ानून की उत्पत्ति, उद्देश्य, विकास आदि की व्याख्या की जाती है।	(३) विधि (क़ानून) का व्यावहारिक प्रयोग।

सैद्धान्तिक राजशास्त्र और व्यावहारिक राजशास्त्र में यह अन्तर है कि सैद्धान्तिक राजशास्त्र में राज्य के मूलतत्वों, लक्षणों, उद्देश्य तथा आदर्शों और गुणों का वर्णन किया जाता है और व्यावहारिक राजशास्त्र में यह बताया जाता है कि इन मूलतत्वों, लक्षणों, उद्देश्यों तथा आदर्शों और गुणों को किस प्रकार एक राज्य में कार्य रूप में परिणत कर सकते हैं, किस प्रकार इन बातों का प्रयोग किसी राज्य में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जनतन्त्रवाद में उसके सिद्धान्तों की विवेचना का उल्लेख है। उसमें यह वर्णन किया गया है कि जनतंत्रवाद के क्या क्या मूलतत्व हैं, उसके क्या क्या उद्देश्य हैं; जनतन्त्रवाद में शासन की क्या प्रणाली है? इन सब बातों की व्याख्या जनतन्त्रवाद में वर्णन की गई है। जब जनतन्त्रवाद के सिद्धांतों पर राज्य-शासन किया जाता है और उसके मूलतत्त्व, शासन-व्यवस्था, विधि तथा अन्य बातों को जब राज्य में कार्य रूप में परिणत किया जाता है तो वह व्यावहारिक राजशास्त्र कहलाता है।

राजनैतिक-दर्शन (Political Philosophy)—ऊपर बताया जा चुका है कि राजशास्त्र वेत्ताओं ने राजशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया—एक सैद्धान्तिक, दूसरा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक भाग में राजशास्त्र के सब सिद्धांत,

नियम, मूलतत्व, गुण, लक्षण आदि सब बातें आ जाती हैं। ऋग्वेद में राज्यशासन-धर्म का वर्णन है। प्राचीन हिन्दू काल में हमारे जीवन के सब कार्य धर्मों में ही विभाजित थे। जीवन का प्रत्येक भाग किसी न किसी धर्म से सम्बद्ध था—जैसे, गृहस्थ-धर्म स्त्री-धर्म, इत्यादि। अथर्ववेद यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण, अग्नि-पुराण आदि में राज-धर्म के नियमों तथा तत्वों का वर्णन है। महाभारत के १८ पर्व हैं, जिनमें से एक 'राजधर्मानुशासन-पर्व' में राजशास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। भीष्म तथा युधिष्ठिर ने राजशास्त्र के मूलतत्व और सिद्धांतों का विश्लेषणात्मक व्युत्पादन किया है। बाल्मीकि ने अपनी रामायण में राज-धर्म की व्याख्या की है। मनु ने मनुस्मृति में राजशास्त्र के प्रत्येक अंग की विस्तृत विवेचना की है। राज्य के मूलतत्व, लक्षण, कूटनीति, राजदौत्य, दंड-विधान, विभिन्न प्रकार के कर, न्याय आदि की विस्तृत रूप से विवेचना की है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, वैशम्पाय कृत नीतिप्रकाशिका, नीतिवाक्यामृत, शुक्रनीति आदि अनेकों पुस्तकें हैं जो राजनैतिक दर्शन में सम्मिलित हैं। इन पुस्तकों के रचयिता सब राजनैतिक दार्शनिक थे। इनकी लिखी हुई सब पुस्तकें राजनैतिक-दर्शन की सर्वश्रेष्ठ रचनायें समझी जाती हैं।

प्राचीन यूरोपीय दार्शनिकों में प्लैटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) दो सबसे प्रसिद्ध हैं। प्लैटो की 'रिपब्लिक' 'स्टेट्समन' तथा 'लॉ' राजनीति-दर्शन की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। अरस्तू की 'पौलिटिक्स' राजनीति-दर्शन की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है। इस पुस्तक में अरस्तू ने राजशास्त्र के प्रत्येक विषय की विवेचना की है। राज्य के किसी पार्श्व को नहीं छोड़ा है। आधुनिक राजनीति तथा राजशास्त्र का आधार यही पुस्तक समझी जाती है।

प्राचीन हिन्दू काल के दार्शनिकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति ही मनुष्यमात्र का उद्देश्य बताया है। इनको राजशास्त्र से सम्बद्ध करके अच्छे राज्यों के लक्षणों में इनकी गणना की है। इसी प्रकार प्लैटो और अरस्तू ने अच्छे शासन के गुण बतलाते हुए इस बात का वर्णन किया है कि राज्य (State) का कर्त्तव्य में मनुष्यमात्र की उन्नति में सहायता देना। अच्छा राज्य वही है जिसमें मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति होती है।

मध्यकालीन राजनीतिक दार्शनिकों में सेण्ट आगस्टाइन (St. Augustine) और सेण्ट टामस ऐक्वाइनस (St. Thomas Acquinas) सबसे प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ने राजनीति को धर्म (ईसाई धर्म) से संबद्ध किया है। धार्मिक जीवन व्यतीत करना राज-धर्म बताया है यहाँ तक कि केवल

ईसाई धर्म का मानने वाला ही इनके मत के अनुसार एक आदर्श नागरिक है। सेण्ट आगस्टाइन ने अच्छे राज्य (State) को 'ईश्वर का नगर' (City of-God) बताया है। राजशास्त्र के मूलतत्व और लक्षण धर्म के आधार पर निश्चित किये हैं। ऐक्वाइनस ने राज्य (State) के मूलतत्वों का वर्णन करते हुए विधि (Law) को सबसे अधिक महत्व दिया है। उसके अनुसार राज्य का सबसे महत्वपूर्ण आधार विधि है। विधि के चार विभाग किये हैं—(१) अनन्त विधि, (२) प्राकृतिक विधि, (३) ईश्वरीय विधि, और (४) मानव विधि।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में मैकियावेली (Machiavelli) सबसे प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक हुआ है। उसने अपनी 'प्रिंस' (Prince) नाम की पुस्तक में राज्य-शास्त्र के सिद्धांतों का वर्णन किया है। उसने शासक और शासित के सम्बन्ध को कुटिल-नीति पर अवलम्बित किया है और उसकी कुटिल नीति में आत्मिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों को कोई स्थान नहीं है।

आधुनिक काल के अन्य सबसे प्रसिद्ध राजनीति के दार्शनिक ग्रीन और मार्क्स (Green and Marx) हैं। ग्रीन ने आदर्शवादी सिद्धांतों का समर्थन किया है और राज्य का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति ही बताया है। मार्क्स ने मनुष्य के आर्थिक जीवन को ही राज्य में सबसे महत्वपूर्ण बताया है। राज्य का आधार मनुष्य का आर्थिक जीवन है। उसने आदर्शवाद और धर्म को तिलांजलि दे दी है। धर्म को उसने 'मनुष्यों की अफीम' (Opium of the people) बताया है। महात्मा गांधी राजनीति के दार्शनिक थे। इनके मत के अनुसार राज्य का आधार सत्य और अहिंसा है। इन्होंने प्राचीन वैदिक सिद्धांतों का अनुकरण किया है और 'राम-राज्य' की आधारशिला, व्यक्ति की महत्ता, समता, आध्यात्मिक उन्नति को माना है। इनका कथन है कि इन्हीं सिद्धांतों को राज्य के आधार बनाने पर ही विश्व में शान्ति स्थापित रह सकेगी।

राजनीति विज्ञान (Political Science)—जब हम राजशास्त्र के व्यावहारिक पार्श्व की विवेचना करते हैं, राज्य की रचना, राज्य के कर्त्तव्य, राजनैतिक संस्थाओं की प्रकृति आदि पर विचार करते हैं तथा राजशास्त्र के सिद्धांतों को राज्य में व्यवहार में लाते हैं तो हम राजशास्त्र को राजनीति विज्ञान समझकर उसका विन्यास करते हैं। राजनीति-विज्ञान की परिभाषा पालजैनेट ने इस प्रकार की है "राजनीति-विज्ञान समाजशास्त्र का वह भाग है जो राज के मूल और शासन के तत्वों पर विचार करता है।"

गैटिल (Gettell) ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है "इस बात का ऐतिहासिक अन्वेषण कि राज्य की क्या स्थिति रही है, राज्य क्या है, इस बात का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा राज्य कैसा होना चाहिये, इस विषय पर आचारिक तथा राजनैतिक दृष्टि से वाद-विवाद करना ही राजनिति-विज्ञान है।" जब हम राज्य के मुख्य मुख्य अंगों का नियमानुसार अध्ययन करते हैं, उन अंगों का विश्लेषण (Analysis) अथवा समन्वय (Synthesis) करते हैं तथा उनके कारण और परिणामों पर विचार करते हैं तब हम यह अध्ययन राजशास्त्र-विज्ञान के अनुसार करते हैं।

राजशास्त्र का अन्य शास्त्रों से संबंध

समाजशास्त्र में मानव जीवन के प्रत्येक अंग का वर्णन आ जाता है, मनुष्य जीवन की प्रत्येक घटना, प्रत्येक कार्य और प्रत्येक दशा का संबंध समाजशास्त्र से है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य संबंधी सब बातें आ जाती हैं। प्रत्येक विद्या कला, ज्ञान, विज्ञान का संबंध मनुष्य से होने के कारण समाजशास्त्र के अन्तर्गत है। राजशास्त्र का संबंध सब ज्ञान-विज्ञान संबंधी विषयों से है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि समाजशास्त्र के अंग हैं वैसे ही राजशास्त्र समाजशास्त्र का एक अंग विशेष है। समाजशास्त्र के इन भिन्न-भिन्न अंगों में परस्पर इतना संबंध है कि इन्हें एक दूसरे से पृथक् करना बहुत कठिन है। राज्य पर विचार करना राजशास्त्र का कार्य है पर राज्य ही से संबंध रखने वाले कितने ही ऐसे आर्थिक प्रश्न हैं, जिन पर विचार करना अर्थशास्त्र का कार्य है। इसी प्रकार राजशास्त्र का इतिहास, मनोविज्ञान, भूगोल आदि शास्त्रों से घनिष्ट संबंध है। जलिनेक (Jellinek) नामक प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता का मत है कि राजशास्त्र का संबंध न केवल अर्थशास्त्र, विधि-विधान और इतिहास से है वरन् मनुष्यशास्त्र, मानसशास्त्र नीतिशास्त्र और भूगोल में भी है। कुछ विशेष शास्त्रों से राजशास्त्र का कितना घनिष्ट संबंध है इसका वर्णन हम यहाँ करते हैं।

राजशास्त्र और इतिहास—इतिहास मानव सभ्यता की उन्नति का कोष है। वह मानव समाज के जीवन में घटित घटनाओं का यथार्थ वर्णन है। इतिहास-लेखक का कर्तव्य है कि संसार की भिन्न-भिन्न जातियों की दशा का सच्चा चित्र बिना किसी द्वेषभाव के आधुनिक जातियों के सम्मुख रखे। यह केवल एक मानसिक कार्य है जो मनुष्य को पुस्तकों के पृष्ठ उलट-पुलट करा इस योग्य बना सकता है कि वह यह जान लें कि उसके पूर्वजों ने क्या-क्या

किया है। हम सबका जीवन उन प्रभावों को कदापि नहीं भूल सकता जो प्राचीन काल से हमारे स्वभाव और जीवन रीतियों पर स्पष्ट परन्तु अज्ञात रीति से पड़ता है। इतिहास और राजशास्त्र का बड़ा घनिष्ट संबंध है। इतिहास में हम प्राचीन काल के राजाओं का और महान् पुरुषों का वर्णन पढ़ते हैं हम पढ़ते हैं कि अमुक राजा ने इस प्रकार राज्य किया, अमुक सुधार किये, प्रजा के साथ इस प्रकार का वर्ताव किया, धर्म की ओर उसके ये विचार थे, इत्यादि। ये सब बातें जो इतिहास में वर्णन की गई हैं राजशास्त्र से घनिष्ट संबंध रखती हैं। जब हम राजशास्त्र की विवेचना करते हैं तो मानवसमाज के इन्हीं अंगों पर ध्यान देते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि इतिहास का एक विशेष अंग राजशास्त्र है। जेलिनेक (Jellinek) लिखता है, 'किसी भी प्रकार की संस्थाओं का अध्ययन, चाहे वे राजनीतिक हों, चाहे क़ानूनी या सामाजिक हों, बिना इतिहास की सहायता के नहीं हो सकता।' राजशास्त्रवेत्ता के लिये राजनैतिक संस्थाओं के केवल गुण। धर्म का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं होता, उसे इस बात का भी अध्ययन करना पड़ता है कि संस्थाओं का विकास कैसे हुआ, उनमें समय समय पर किस किस प्रकार के परिवर्त्तन होते गये और उन परिवर्तनों से मानवसमाज की सभ्यता पर क्या क्या प्रभाव पड़े। राजशास्त्रवेत्ता के लिये इन बातों का जानना अत्यन्त आवश्यक है, और ये बातें इतिहास से संबंध रखती हैं। राजशास्त्र और इतिहास का इतना घनिष्ठ संबंध देखकर राजशास्त्रवेत्ता सीली (Seeley) कहता है "बिना इतिहास के राजशास्त्र व्यर्थ है और बिना राजशास्त्र के इतिहास व्यर्थ है।" एक प्रसिद्ध यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ता फ्रीमेन (Freeman) लिखता है कि "इतिहास भूतकालीन राजनीति है या भूतकालीन राजनीति आधुनिक इतिहास है।"

राजशास्त्र और अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह एक सामाजिकशास्त्र है जो समाज का अध्ययन भौतिक संपत्ति की उपज, विभक्ति और व्यय की दृष्टि से करता है, अनुमान की बातों को एकत्रित कर परिमाण निर्वाचित करता है, जिसकी सहायता से मनुष्य अपनी आय की रीति को इस भाँति बना सकता है कि जिससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। समाज की प्रफुल्लता वास्तव में एक सीमा तक धन के उपार्जन पर निर्भर है। (निर्धनता मनुष्य को निन्दनीय जीवन व्यतीत करने और समस्त सद्विचारों को त्यागने पर बाध्य करती है।) भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ ७० प्रतिशत जन अपने व्यवसाय के लिये केवल खेती पर निर्भर हैं कृषकों की दशा की ओर ध्यान न देना अति निर्दयता है।

कृषकों पर ऋण इतना बढ़ा हुआ है कि ग्राम्यजीवन से संबन्धित आर्थिक बातों पर ध्यान देने के लिये एक शाखा अलग बनाई गई है। खेती की उन्नति करने वाली रीतियों, ग्रामों की स्वच्छता, उपज का उपयुक्त बाजारों में लेजाने के ठीक उपाय, पानी लगाने का कार्य और समय पर प्राप्त होने वाली वस्तुएँ, ये सब बातें अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं। धनवानों और श्रमजीवियों का यह झगड़ा कि वेतन अधिक मिले, अवकाश का समय अधिक हो, जिससे श्रमजीवियों की दशा ठीक होजाय, ये सब बातें राजशास्त्र से लेना है। जितना राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का परस्पर घनिष्ट संबंध इस युग में है उतना कदाचित् ही किसी युग में रहा होगा। आधुनिक काल में राज्य की बहुत सी बातें आर्थिक नीति पर अवलम्बित हैं। पूँजीपतियों और श्रम-जीवियों में क्या संबन्ध है ? और क्या होना चाहिये ? देश की सम्पत्ति की किस प्रकार वृद्धि की जाय ? किस किस वस्तु पर कैसे कैसे कर लगायें जायँ ? देश के लिये संरक्षण लाभदायक है अथवा अबाध्यवाणिज्य नीति ? ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका संबंध अर्थशास्त्र और राजशास्त्र, दोनों से है। अतः यह बात स्पष्ट है कि राजशास्त्र का अर्थशास्त्र से घनिष्ट संबंध है।

राजशास्त्र और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है और उसका संबंध समाज की भिन्न भिन्न बातों से है। समाजशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन होता है और यह बात राजशास्त्र में भी पाई जाती है परन्तु अन्तर इतना है कि राजशास्त्रमें राजनैतिक संस्थाओं के वर्त्तमान स्वरूप का निरूपण होता है, लेकिन समाजशास्त्र उनकी उत्पत्ति और विकास को भी स्पष्ट करता है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र में समाज की बुरी-भली सभी प्रवृत्तियों का समावेश होता है परन्तु राजशास्त्र केवल अच्छी प्रवृत्तियों को अपनाता है जिससे समाज का मस्तक ऊँचा रहे। जिस प्रकार इतिहास, अर्थशास्त्र आदि समाजशास्त्र के अंग हैं इसी प्रकार राजशास्त्र भी उसका एक विशेष अंग है। इन दोनों का परस्पर बड़ा घनिष्ट संबंध है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—राज्य पर विचार करना राजशास्त्र का कार्य है, परन्तु राज्य से संबंध रखने वाले कितने ही ऐसे सामाजिक प्रश्न हैं जिन पर विचार करना राजशास्त्र का कर्तव्य है। राज्य में ऐसे सामाजिक सगंठनों का स्थापित होना जिन से राज्यकार्य के शान्तिपूर्वक संचालन में बाधा हो, राज्य को ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। समाज की उन्नति के उपयोगी सभाएँ तथा समितियाँ स्थापित करना राज्य का कीर्य है। समाज को शिक्षित बनाने के लिये शिक्षा-संस्थाएँ पुस्तकालय तथा वाचनालय खुलवाना भी राज्य के कार्य हैं। अच्छे

सामाजिक सगंठनों को स्थापित करना तथा कलुषित सामाजिक सगंठनों को, जिन से समाज का पतन हो, नष्ट करना राज्य का कर्तव्य है। इन बातों से पता चलता है कि राजशास्त्र का समाजशास्त्र से कितना घनिष्ट संबंध है।

राजशास्त्र और आचारशास्त्र (Ethics)—आचारशास्त्र में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि बुराई क्या है? और भलाई क्या है? मनुष्य को बुराइयों से बचना चाहिये; भले कार्य करने चाहिये। मनुष्य को ईश्वर से डरकर अनुचित कार्य नहीं करने चाहिये। आत्मोन्नति के कार्य करने चाहिये। इन सब बातों पर विचार करते हुए हमको पता चलता है कि इनमें से कितनी बातों का सम्बन्ध राजशास्त्र से है। मनुष्य के जीवन में कार्य करने के दो पार्श्व हैं—एक व्यक्तिगत दूसरा सामाजिक। ऊपर लिखी बातों का जहाँ तक मनुष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध है वहाँ तक राजशास्त्र का इन बातों से कोई संबंध नहीं है, परन्तु जहाँ मनुष्य का समाज से संबंध है वहाँ ऊपर लिखी सब बातें राजशास्त्र से संबंध रखती हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि समाज को बुराई और भलाई का भेद बताये। बुरी बातों के लिये राज्य दंड देता है। यदि कोई मनुष्य अपने घर के भीतर जुआ खेलता, शराब पीता तथा अन्य इस प्रकार की बुराई करता है तो वह उसका व्यक्तिगत विषय हो जाता है। परन्तु जब मनुष्य अपने घर के बाहर किसी सार्वजनिक स्थान अथवा मार्ग पर इस प्रकार के कार्य करता है तो वह राज्य की विधि (क़ानून) के अन्तर्गत दंड का भागी हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने घर; मंदिर मस्जिद, गिरजा आदि में किसी प्रकार की धार्मिक बातें कर सकता है और वह उसका व्यक्तिगत विषय समझा जायगा। परन्तु जब वही मनुष्य अपने धर्म के अनुसार किसी जन साधारण के स्थान, मार्ग अथवा किसी दूसरे धर्म के पूजा अथवा प्रार्थना-स्थान पर कोई ऐसा कार्य करता है जो दूसरों को घृणित प्रतीत हो तो वह राज्यविधि के अन्तर्गत दंड का भागी हो जाता है। राज्य का यह उद्देश्य होना चाहिये कि जिस प्रकार हो सके मनुष्यों के आचार की उन्नति करे, जनता को सदाचारी बनाये। सब श्रेष्ठ राज्यों में इन बातों की ओर ध्यान दिया जाता है। इन बातों से प्रकट होता है कि राजशास्त्र का आचारशास्त्र से कितना घनिष्ट संबंध है। प्लैटो का मत है कि "राज्य को चाहिये कि मनुष्यों को सदाचार की शिक्षा दे" वह राजशास्त्र और आचारशास्त्र को पृथक् पृथक् नहीं समझता था। उसके लिये यह दोनों शास्त्र एक ही थे। उसके शिष्य अरस्तू ने राजशास्त्र और आचारशास्त्र को पृथक् पृथक् समझा। परन्तु वह इन दोनों का घनिष्ट संबंध

बतलाते हुए लिखता है कि 'मनुष्य के उच्च सदाचार का राजनैतिक प्रश्नों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।' अरस्तू के मतानुसार राज्य का उद्देश्य है जनता की भलाई करना तथा मनुष्यों के जीवन को आनन्दमय बनाना। मैकियावेली ने लिखा है 'धर्म और सदाचार राज्य के स्वामी अथवा अग्रपथ प्रदर्शक नहीं हैं अपितु राज्य के उपयोगी सेवक तथा घटक (agent) हैं।' लार्ड-ऐक्टन (Lord Acton) कहता है कि 'महत्वपूर्ण प्रश्न तो इस बात का अन्वेषण करता है कि राज्य-शासन को क्या निर्धारित करना चाहिये ? न कि यह कि वह क्या निर्धारित करता है ?'। आइवर ब्राउन (Ivor Brown) कहता है कि राजनीति आचारशास्त्र का केवल दीर्घ स्वरूप है। राजनीतिक सिद्धान्तों के बिना नैतिक (ethical) सिद्धान्त अपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह भली प्रकार अकेला नहीं रह सकता। बिना नैतिक सिद्धान्त के राजनैतिक सिद्धान्त में अकर्मण्यता आजाती है। राजनैतिक अध्ययन का फलित होना हमारी आचारिक योजना अर्थात् हमारे भले बुरे विचारों पर ही निर्भर हैं।' कैटलिन का मत है कि 'नैतिक शास्त्र (ethics) से एक राजशास्त्रवेता यह शिक्षा ले सकता है कि कौनसा कार्य करना वाञ्छनीय होगा और राजनैतिक-विज्ञान से यह शिक्षा ले सकता है कि कौनसा कार्य करना संभव होगा'।

राजशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)—मनोविज्ञान हमको यह बतलाता है कि हमारा मन वाह्य उत्तेजनाओं को पाकर क्या प्रतिक्रिया करता है ? हमारी विचारशक्ति किस प्रकार कार्य करती है ? जिस परिस्थिति मे हम रहते हैं उसका हमारे चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कौन कौन सी बातें हम आन्तरिक प्रेरणा (Instinct) से करते हैं ? कैसी कैसी बातों का अज्ञात रीति से हम अनुकरण करते हैं। वाह्य संकेतों (suggestions) का हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है ? मनोविज्ञान का अधिक घनिष्ट संबंध मनुष्य के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन से है परन्तु राजशास्त्र से भी इसका बड़ा घनिष्ट संबंध है। मनोविज्ञान बहुत प्राचीन विज्ञान नहीं है। आधुनिक काल में मानव समाज प्रत्येक विषय को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है। 'ई, बारकर (E. Barker) का कथन है कि मानव जीवन के प्रत्येक कार्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना आधुनिक काल का रिवाज होगया है।' समय समय पर राजनीतिज्ञों ने मनोविज्ञान की सहायता से राजनैतिकक्षेत्र में बड़े बड़े लाभ उठाये हैं। मैकियावेली ने तत्कालीन इटली की दशा को सुधारने में इटली वालों की मनोवृत्ति से

मनोविज्ञान द्वारा लाभ उठाकर देश की दशा कुछ से कुछ करदी, उसने इटली का उद्धार करदिया। गार्नर (Garner) का कथन है कि 'शासन को स्थिर और लोकप्रिय बनाने के लिये प्रजा की मनोवृत्ति और आचारिक भावना पर विमर्श करना और उनको कार्य रूप में परिणत करना आवश्यक है।' हिटलर ने जर्मनी वालों के मनोभाव को जाना और उनकी मनोवृत्ति से लाभ उठाकर द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण किया। महात्मा गान्धी को हम बड़ा योग्य मनोविज्ञानवेत्ता कह सकते हैं। उन्होंने अँग्रेजों की मनोवृत्ति को भली भाँति समझा था। वे जानते थे कि उनके आचार विचारों में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिसके कारण वे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने भारतवासियों के मनोविज्ञान को समझा। उन्होंने भली प्रकार इस बात को जान लिया कि सत्य और अहिंसा के भाव भारत की ग्रामीण जनता में अधिक शीघ्र और सफलतापूर्वक उत्पन्न किये जा सकते हैं। अतः उन्होंने ग्राम ग्राम में भ्रमण किया और ग्रामीणों के सम्पर्क में आकर अपने सिद्धान्तों के बीज उनके हृदय में बोये। इनसे पूर्व किसी ने मनोविज्ञान से इतना लाभ नहीं उठाया। किसी देश के लोग स्वभाव से प्रजातंत्रवादी होते हैं, और किसी देश के लोग स्वभाव से समाजवादी होते हैं। किसी राष्ट्र की शासन पद्धति तथा रीति-रिवाज उस राष्ट्र के मनोविज्ञान से घनिष्ट संबंध रखते हैं। जैसी जनता की मनोभावना होती है उसी प्रकार के परिर्वतन राज्यशासन-प्रणाली में होते चले जाते हैं।

ई. बार्कर ने मनोवैज्ञानिक प्रणाली में कुछ त्रुटियाँ बतलाई हैं। वह कहता है कि मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में किसी वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। वह मनुष्य के मस्तिष्क को एक यंत्र के समान समझाता है। जैसे किसी यंत्र में एक बटन दबाने से एक विशेष कार्य होने लगता है उसी प्रकार वाह्य उत्तेजनाओं (Stimuli) का प्रभाव पड़ने पर मनुष्य का मस्तिष्क एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। अतः राजनैतिक क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रणाली सफल नहीं हो सकती। बार्कर का दूसरा तर्क मनोविज्ञान के विरुद्ध यह है कि मनोविज्ञान असभ्य आन्तरिक प्रेरणाओं के आधार पर सभ्य जीवन का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करता है, यह विकासवादी प्रणाली के अनुसार ठीक नहीं है। तीसरे तर्क में बार्कर कहता है कि एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडौगल (Mac Dougall) ने समाज में आन्तरिक प्रेरणाओं की उत्पत्ति का पूर्ण विवरण दिया है परन्तु इस बात को स्पष्ट नहीं किया है कि ये आन्तरिक प्रेरणाएँ समाज में क्या प्रभाव उत्पन्न करती हैं? बार्कर का यह

प्रयोजन है कि मनोविज्ञान का समाज पर कोई राजनैतिक प्रभाव नहीं पड़ता है। बार्कर अन्तिम तर्क में कहता है कि कैटलिन (Catlin) के मतानुसार मनोविज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक कार्यों से है अर्थात व्यक्तिगत मस्तिष्क से है, और यह मानसिक कार्य वस्तु निरीक्षण तक ही सीमित है। राजनीति का सम्बन्ध सामाजिक मनोवृत्ति से है।

बार्कर के इन तर्कों पर विचार करके हम यह कह सकते हैं कि यह बातें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती हैं। मनोविज्ञान राजशास्त्र में बड़ा महत्व रखता है। आधुनिक काल में शासन प्रणाली जनसाधारण की मनोवृत्ति के अनुसार निर्धारित की जाती है।

राजशास्त्र और न्यायशास्त्र (Jurisprudence) न्यायशास्त्र को विधिशास्त्र अथवा विधान शास्त्र भी कह सकते हैं। संविधानशास्त्र (Constitutional Law) राज्य के अंग और उपांगों की व्याख्या करता है तथा इन अंग और उपांगों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करता है। भिन्न-भिन्न न्यायशास्त्रवेत्ताओं ने विधि (Laue) की भिन्न प्रकार से परिभाषा की है। राज्य के अधिपति अथवा सर्वप्रधान की आज्ञा 'विधि' है। राजकार्यों का संचालन विधान द्वारा होता है। प्रत्येक राज्य के लिये उसका अपना निजी विधान होता है। चाहे वह विधान लिखित हो चाहे रीति रिवाज पर निर्भर हो। प्रत्येक राज्य का कार्य इन्हीं विधि विधान द्वारा किया जाता है। छोटे से छोटे व्यक्ति से लेकर बड़े से बड़े तक विधान को कोई नहीं तोड़ सकता। उसके तोड़ने वाले को विधि के अनुसार दंड मिलता है। विधि विधान राज्य द्वारा बनाये जाने पर राज्य के संचालक उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते। विधि अथवा न्यायशास्त्र स्वयं एक पूर्ण शास्त्र है परन्तु उसका राजशास्त्र से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। राजशास्त्र और न्यायशास्त्र एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक सफलतापूर्वक तभी कार्य कर सकता है जब दूसरा पूर्णरूप से उसके साथ सहयोग करे। अतः राजशास्त्र और न्यायशास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध है।

राजशास्त्र और भूगोल—भूगोल पढ़ने से हमको यह पता चलता है कि जैसी भूमि और जलवायु में मनुष्य रहता है उस प्रकार का उसका रहन-सहन तथा स्वभाव होजाता है। संसार के जलवायु के हिसाब से तीन विशेष भाग हैं—शीत, शीतोष्ण तथा उष्ण। शीत और उष्ण जलवायु में रहनेवाले मनुष्यों के स्वभाव, रहन-सहन आदि में बड़ा अन्तर है। साधारणतया शीत जलवायु के लोग अधिक स्वस्थ और क्रियाशील होते हैं। उष्ण जलवायु के

लोग निर्बल और आलसी होते हैं। शीतोष्ण जलवायु वाले स्थानों के मनुष्यों की दशा इन दोनों प्रकार के लोगों के मध्य की है। शीत जलवायु के लोगों का स्वभाव स्थिर और शान्त होता है, इसके विपरीत उष्ण जलवायु वाले लोगों का स्वभाव चंचल और उत्तेजित होता है। इसी प्रकार लोगों के स्वभाव का प्रभाव उनकी शासन-प्रणाली पर पड़ता है। अरस्तू ने सबसे पहले इस बात को स्पष्ट किया कि मनुष्य की राजनैतिक संस्थाओं और राष्ट्रीय आचारों पर भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बोडाँ (Bodin) ने सोलहवीं शताब्दी में इस बात का समर्थन किया और भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु के लोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की शासन-प्रणाली बतलाई। रूसो (Rousseau) ने भी भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु को भिन्न भिन्न प्रकार की शासनप्रणालियों से संबद्ध किया है। रूसो ने उष्ण जलवायु वाले लोगों के लिये स्वेच्छाचारी-शासन अत्यन्त स्वाभाविक बतलाया है। शीत देशों के लिये बर्बरता (barbarism) और साधारण जलवायु के लोगों के लिये जनतन्त्र-शासन ठीक बतलाया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में थौमस बकल (Thomas Buckle) ने बतलाया कि किसी राष्ट्र के आचार विचारों पर वहाँ की भौगोलिक दशा का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वह कहता है कि मनुष्य की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर और उनकी संस्थाओं पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। हमारा भी यही विश्वास है कि मनुष्य की राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं पर भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। किसी देश के व्यवसाय तथा उद्योग धंधों पर भी भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। राज्य का मनुष्यों के व्यवसाय तथा उद्योग धंधों से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। राज्य को भिन्न भिन्न प्रकार के नियम इनके सम्बन्ध में बनाने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि राज्यशास्त्र का भूगोल से घनिष्ट सम्बन्ध है।

राजशास्त्र और नागरिकशास्त्र—नागरिकशास्त्र में यह बतलाया गया है कि एक मनुष्य के उसके कुटुम्बियों पड़ोसियों ग्राम तथा नगर निवासियों के प्रति क्या क्या कर्तव्य और अधिकार हैं? मनुष्य किस प्रकार एक आदर्श नागरिक बन सकता है? आदर्श नागरिक बनने में कौन कौन सी बातें सहायक होती हैं? और कौन कौन सी बाधक होती हैं? एक नागरिक किस प्रकार अपनी उन्नति करता हुआ समाज की उन्नति कर सकता है? समाज की उन्नति और व्यक्तिगत उन्नति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है? एक आदर्श नागरिक का अपने देश के प्रति क्या कर्तव्य है? देशभक्त किसे

कहते हैं ? सच्चे देशभक्त के क्या क्या कर्तव्य हैं ? इन सब और अन्य ऐसी ही बातों की शिक्षा हमें नागरिकशास्त्र से मिलती है। ई० एम० ह्वाइट (E. M. White) के शब्दों में नागरिकता न्यूनाधिक मानवज्ञान की काम में आने वाली वह शाखा है जिसका सम्बन्ध प्रत्येक उस वस्तु (जैसे सामाजिक, परोपकारिक धार्मिक, आर्थिक. राजनैतिक) से होता है जो एक नागरिक के भूत वर्तमान और भविष्य में उसके स्थानीय, जातीय सम्बन्ध से सम्बन्धित हो। अतः नागरिकशास्त्र मनुष्य को सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। नागरिकशास्त्र की वे सब बातें जो एक नागरिक को आदर्श नागरिक बनाने, उसका राज्य के प्रति अधिकार तथा कर्तव्य बताने, देशभक्ति का पाठ सिखाने, राज्य के नियमों पर चलाने और नियमों को समझाने आदि से सम्बन्ध रखती है, नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत आती है। ऊपर वर्णन की गईं सब बातें राज्यशास्त्र में पाई जाती हैं तथा इनसे और अधिक भी। इसलिये राज्यशास्त्र नागरिकशास्त्र राजशास्त्र का बृहत रूप है, अथवा यों कह सकते हैं कि नागरिकशास्त्र राजशास्त्र की छोटी बहिन है। जितनी समानता नागरिकशास्त्र और राजशास्त्र में है उतनी अन्य शास्त्रों में बहुत कय प्रतीत होगी। अतः नागरिक-शास्त्र का राज्यशास्त्र से बड़ा घानिष्ट सम्बन्ध है।

राजशास्त्र की अध्ययनविधि—विज्ञान की किसी विशेष शाखा के अध्ययन में पहिले हम उस शाखा के सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं तत्पश्चात हम उन सिद्धांतों को व्यावहारिक कार्यों में उपयोजन करते हैं। जब हम एक विशेष नियम का विशेष परिस्थिति में उपयोजन करते हैं तो सदैव एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं। रसायन-शास्त्र के अध्ययन में जब हम जलतत्त्व वायु (Hydrogen) के दोनों भाग और प्राणवायु अर्थात् ओक्सीजन (Oxygen) का एक भाग मिलाते हैं तब सदैव जल बन जाता है। इसी प्रकार एक में एक का योग करने से सदैव दो हो जाते हैं। इस कारण बहुत से विद्वानों का यह मत है कि विज्ञान उसी को कहना चाहिये जिस में इस प्रकार के सदैव एक से ही परिणाम निकलें। परन्तु हमारा विचार तो यह है कि सब विज्ञानों के अध्ययन के इतने पूर्ण और शुद्ध परिणाम नहीं निकलते हैं। भौतिक विज्ञान में हमको 'निकटतम' परिणाम निकालने पड़ते हैं। गणित में भी, जहां विद्वानों का मत है कि दो और दो सदैव चार होते हैं, हमें निकटतम मूलनिरूपण करना पड़ता है। इस बात से यह सिद्ध हुआ कि विज्ञान में भी सदैव तथा सभी स्थितियों में हम पूर्ण निश्चित् परिणाम पर

नहीं पहुँचते हैं, और साक्षेप सत्य के आधार पर पहुँचते हैं। कुछ विद्वानों का भी मत है कि जैसे हम शुद्ध विज्ञान सम्बन्धी विषयों में प्रयोग करते हैं ऐसे राजशास्त्र सम्बन्धी विषयों में नहीं कर सकते। शुद्ध विज्ञान सम्बन्धी विषयों में प्रयोगात्मक रीति पर कार्य करना पड़ता है। भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयोग करके एक विशेष परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसा राजशास्त्र में नहीं हो सकता। हमारे विचार में राजशास्त्र में ठीक उसी प्रकार प्रयोग किये जा सकते हैं जैसे विशुद्ध विज्ञान (गणित, भौतिक और रसायन)। आधुनिक काल में हमारे भारतवर्ष में विदेशी शासकों ने शासन-प्रणाली सम्बन्धी कितने प्रयोग किये? भारतीय राजनीतिज्ञों ने उनके परिणामों का ठीक उसी प्रकार पूर्वनिरूपण किया जैसे विज्ञान में किया जाता है।

अतः यह धारणा कि राजशास्त्र में विज्ञान की भांति प्रयोग नहीं किये जा सकते और विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक रीति का प्रयोग नहीं जा सकता, हमारी समझ से बाहर है। पर्यवेक्षण विशुद्ध वैज्ञानिक विषयों में हो सकता है उसी प्रकार राजशास्त्र में भी हो सकता है। सम्युअल बटलर (Samuel Butler) कहता है कि "भौतिकशास्त्र में पूर्वनिरूपण बिल्कुल निश्चित और ठीक हो सकता है, राजशास्त्र में वह केवल सम्भाव्य होगा" यह मत ठीक नहीं है। भौतिक और रसायनशास्त्रों में पूर्वनिरूपणों की हम राजशास्त्र से तुलना नहीं कर सकते हैं हमको यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भौतिक और रसायन आदि शास्त्रों में हमारा सम्बन्ध जड़ वस्तुओं से होता है जो केवल बाह्य प्रभावों पर अवलम्बित रहती हैं और उनकी अपनी आन्तरिक उत्तेजना (inner stimulus) का प्रश्न नहीं उठता। इनमें प्रत्येक वस्तु का एक विशेष गुण होता है और प्रत्येक दशा अथवा परिस्थिति में वह गुण वैसा ही प्रकट होता है। परन्तु राजशास्त्र में हमको जीवित पदार्थों के साथ प्रयोग करने पड़ते हैं। विश्लेषणात्मक तथा निगमात्मक पद्धति के अनुसार पर्यवेक्षण करने पड़ते हैं और यह देखने में आता है कि युक्तिरूपी आन्तरिक उत्तेजना (inner stimulus) के होने पर भी विशेष दशा और परिस्थितियों में मनुष्यों के कार्यों का परिणाम समान निकलता है और इतना सच्चा, शुद्ध और ठीक बैठता है जैसा विज्ञान में निर्जीव वस्तुओं के साथ प्रयोगों का परिणाम। राजनीति सम्बन्धी चमत्कारों को एकत्रित करने तथा उनका वर्गीकरण करने के कुछ ढंग राजशास्त्रवेत्ताओं ने निश्चित किये हैं। औगस्टस कोम्टी (Augustus Comte) ने तीन पद्धतियों का वर्णन किया है। वे

ये हैं—पर्यवेक्षण, प्रयोग और तुलना। ब्लंशली (Bluntschli) के अनुसार दार्शनिक और ऐतिहासिक पद्धति ही ठीक है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि राजनीतिविज्ञान में ठीक ठीक परिणामों पर पहुँचने के लिये निगमनात्मक रीति से व्याप्तिमूलक रीति अधिक श्रेष्ठ है। आधुनिक राजशास्त्र वेत्ताओं के मतानुसार भिन्न भिन्न पद्धतियों का वर्णन यहाँ किया जाता है—

प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)—जब हम उन वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रयोगात्मक निरीक्षण करते हैं जहाँ हमें जड़ पदार्थों में विन्यास करना पड़ता है तो हमको अनुभव होता है कि जब उन जड़ पदार्थों के ऊपर वाह्य वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है तो परिणाम निश्चित रूप से एक अथवा समान होता है। प्रत्येक जड़ पदार्थ एक विशेष वाह्य उत्तेजना अथवा वस्तु के सम्पर्क में आकर अपने गुणानुसार एक विशेष नवीन अथवा परिवर्तित रूप धारण करता है। भविष्य में जब ऐसा होगा, ठीक वही परिणाम निकलेगा। इस प्रकार प्रयोग करके एक निश्चित परिणाम निकाल लिया जाता है और वह नियम बन जाता है। फिटकिरी, नमक, चूना और नीलाथोथा के घोलों में पृथक् पृथक् एक एक छुरी लोहे की ओर से डाल दी गई। कुछ घंटों के पश्चात् प्रत्येक को निकाल कर देखा तो नीलाथोथा के घोल में जो छुरी डाली गई वह ऐसी दिखाई पड़ी मानों ताँबे की है उसके ऊपर ताँबे का पत्र चढ़ गया। परिणाम निकला कि नीलाथोथा के घोल में जब लोहा डाला जायगा तो उस पर ताँबा आ जायगा। यह परिणाम सदैव के लिये निश्चित हो गया। यह नियम बन गया। इसी प्रकार अन्य भौतिक रसायनिक तथा अन्य विषयों में भी होता है। जहाँ जहाँ प्रयोग किये जयेंगे कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकलेगा। उन परिणामों में समानता होगी।

इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्रों में भी बड़ बड़े प्रयोग किये गये हैं। इन प्रयोगों के परिणाम सदैव एक से ही निकले हैं। इंगलैंड में चार्ल्स प्रथम (Charles 1) की नीति से असन्तोष फैला, कारण यह था कि चार्ल्स प्रथम ने प्रजा पर अत्याचार किया, जनहितों को कुचला, आतंक से राज्य किया। परिणाम यह हुआ कि प्रजा ने उसकी हत्या कर डाली। जार्ज प्रथम (George 1) ने अमरीका निवासियों के साथ उचित रीति से शासन नहीं किया, उनपर मनमानी कर लगाये और स्वेच्छा से शासन किया, परिणाम यह हुआ कि अमरीका निवासी स्वतन्त्र हो गये। भारतवर्ष में अंग्रेजों ने अपने शासन काल में वही भूलें की जैसी अन्य असफल शासकों ने भूतकाल में की थीं। उन्होंने भारतवर्ष में बड़े बड़े प्रयोग किये। कभी आतंकवाद का प्रयोग

किया, कभी सुधारों का लालच देकर फुसलाने का प्रयोग किया। ज्यों ज्यों भारतवर्ष में राजनैतिक प्रयोग अंग्रेजों ने किये भारत के राजशास्त्रवेत्ताओं ने पूर्वनिरूपण किया और उन्हीं परिणामों पर पहुँचे जिनका पूर्वनिरूपण किया गया था। भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के सब राजनैतिक प्रयोग, जो उन्होंने भारत में राज्य स्थापित रखने के लिये किये निष्फल रहे। पूर्वकालीन राजनैतिक प्रयोगों के निश्चित् परिणामों से अन्त में उन्होंने लाभ उठाया। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में अमरीका की सी स्थिति होने से पूर्व ही शान्तिपूर्वक अंग्रेज भारत से चले गये। यदि ऐसा न होता तो आज अंग्रेजों और भारत-वासियों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना मित्रवत् न होता।

ऐतिहासिक पद्धति—ऐतिहासिक पद्धति भी एक प्रकार की प्रयोगात्मक पद्धति है। इतिहास पढ़ने से हमको प्राचीनकाल से लेकर अब तक के संसार के सब सभ्य देशों के राजाओं के इतिहास का पता चलता है। हमको पता चलता है कि अमुक देश के राजाओं ने अपनी प्रजा पर किस प्रकार शासन किया? किन किन स्थितियों में उन्होंने क्या क्या कार्य किये? उन कार्यों में उन्हें कहां तक सफलता प्राप्त हुई? उनके पश्चात् जो राजा हुए उन्होंने वे कार्य नहीं दुहराये जिनमें उनके पूर्व होने वाले राजाओं को असफलता मिली थी। सदैव इसी प्रकार राजाओं ने अपने से पूर्व होने वाले राजाओं के सफल कार्यों से लाभ उठाया और ऐसे कार्यो से सदा बचने का प्रयत्न किया जिनमें प्राचीन काल के राजाओं को असफलताएँ हुई थीं। आज हम इसी प्रकार राजनैतिक संस्थाओं के आरम्भ, विकास और उनकी उन्नति के विषय में इतिहास से ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनके परिणामों पर मनन करते हैं। ये परिणाम हमको पथप्रदर्शन करते हैं और अपनी परिस्थिति के अनुसार हम उन परिणामों पर कार्य करते हैं। ये ऐतिहासिक परिणाम हमको भविष्य की राजनैतिक बातों को निश्चित् करने में हमारी सहायता करते हैं।

इतिहास में विशेषकर व्याप्तिमूलक पद्धति का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास को लीजिये। अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया, उसको अपने शासन में बड़ी सफलता मिली। उसकी प्रजा के सब सम्प्रदाय के लोग उसे बहुत प्रेम करते थे। उसके शासनकाल में देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक सब प्रकार की उन्नति हुई। जहाँगीर ने भी अपने पिता की नीति का अनुकरण किया और वही परिणाम हुआ। व्याप्तिमूलक रीति के अनुसार यह परिणाम निकला कि जो शासक धार्मिक सहिष्णुता का अनुसरण करेगा उसका परिणाम अच्छा

निकलेगा। औरंगजेब ने इसके विपरीत कार्य किया। उसने हिन्दुओं के ऊपर अत्याचार किये, सिक्खों को सताया, दक्षिण के शिया राज्यों का नाश किया। परिणाम वही निकला जो निकलना चाहिये था। मुगल साम्राज्य स्वयं नष्ट हो गया। ऐतिहासिक और प्रयोगात्मक पद्धति में कोई भेद नहीं है। इतिहास का अध्ययन करके व्याप्तिमूलक पद्धति द्वारा एक राजशास्त्री कुछ निश्चित परिणाम निकालता है। ये परिणाम वैज्ञानिक प्रयोगात्मक परिणामों की भाँति बिल्कुल ठीक होते हैं। वही राजशास्त्री अपने समय की राजनैतिक परिस्थिति में उन परिणामों का निगमनात्मक (Deductive) पद्धति द्वारा प्रयोग करता है और निश्चित फल प्राप्त करके उनसे पूर्ण लाभ उठाता है। अरस्तू और मैकियावेली ऐतिहासिक पद्धति के समर्थक हैं और उन्होंने इस पद्धति का अनुकरण किया है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के अनुसार राजशास्त्र का अध्ययन करने में इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वाह्य सादृश्य और वाह्य समता का अवलम्बन न किया जाय, केवल भूतकाल के परिणामों पर ही अपने वर्तमान और भविष्य के राजनैतिक प्रयोगों को अवलंबित न किया जाय बल्कि नवीन परिस्थितियों (जनता के मनोभाव, नवीन आविष्कार आदि) के आधार पर भूतकाल के परिणामों को व्यवहार में लाया जाय। पूर्व धारणा की पुष्टि के लिये इतिहास को प्रयोग करने के प्रलोभन से बचाया जाय, सदैव यह नहीं निश्चित करना चाहिये कि क्योंकि ऐसा पूर्वकाल में हो चुका है अतः उसी स्थिति में पुनः वैसा ही होगा। क्योंकि सम्भव है उस स्थिति का वाह्यरूप वैसा ही प्रतीत हो परन्तु वास्तव में वैसा न हो। परिस्थिति में तनिक भी भेद हो जाने पर परिणाम में बड़ा भारी परिवर्त्तन हो जायगा।

तुलनात्मक पद्धति—तुलनात्मक पद्धति के अनुसार कार्य करने में हम राजशास्त्र में भिन्न भिन्न राजनैतिक घटनाओं की तुलना करते हैं। तुलना करके सादृश्य स्थापित करते हैं। सादृश्य स्थापित हो जाने पर हम उन घटनाओं को प्रयोग में लाते हैं और इस प्रकार यदि हमारा निर्णय ठीक होता है तो हमको राजनैतिक कार्यों में सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार की तुलनात्मक पद्धति का टौकविल (Tocquevill) ब्राइस (Bryce) आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने अनुकरण किया है। इस पद्धति का अनुकरण करने के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि राजनैतिक घटनाओं की समान बातों की ही तुलना की जाय। तुलनात्मक पद्धति द्वारा प्रयोग करने वाले राजनीतिज्ञ के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि घटनाओं की समान

तथा विभिन्न, दोनों प्रकार की बातों की तुलना की जाय। यह देखा जाय कि इन घटनाओं में किन किन बातों में समानता है और किन किन में विभिन्नता। ऐसा करने से इस बात का निर्णय हो जायगा कि दोनों घटनाओं में कहाँ तक समानता है और यदि इनका प्रयोग किया जायगा तो कहाँ तक इन प्रयोगों में सफलता प्राप्त होगी। परन्तु तुलनात्मक पद्धति द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने में एक भूल हो जाने की संभावना है। तुलनात्मक पद्धति से उसका अध्ययन करने में सादृश्य स्थापित करना पड़ता है। यदि सादृश्य (analogy) स्थापित करने में भूल हो जाती है तो एकरूपकरण (identity) हो जाता है, अतः सादृश्य और एकरूपता के भेद को ध्यान में रखते हुए सदैव तुलनात्मक पद्धति से राजशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। तुलनात्मक पद्धति का ऐतिहासिक पद्धति से घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि इतिहास के अध्ययन में इसका बहुत प्रयोग होता है।

पर्यवेक्षण पद्धति (Observation Method)—ऐतिहासिक, तुलनात्मक और पर्यवेक्षण पद्धतियाँ व्याप्तिमूलक हैं। इन पद्धतियों से राजशास्त्र का अध्ययन करने में व्याप्तिमूलक (inductive) सिद्धान्तों के अनुसार प्रयोग करना पड़ता है। पर्यवेक्षण पद्धति द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने में राज्य के प्रत्येक लक्षण, अंग, रूप आदि का निरीक्षण करना पड़ता है और निरीक्षण करने के पश्चात् परिणाम पर पहुँचना पड़ता है। फ्रांस का प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता मौन्टैस्क्यू (Montesquieu) इंगलैण्ड गया और वहाँ जाकर उसने बड़े ध्यान से अंग्रेजी शासन-पद्धति का पर्यवेक्षण किया। इंगलैण्ड की शासन-पद्धति में शक्ति-विभाजक सिद्धान्त को देखकर वह चकित रह गया। यूरोप लौटकर उसने वहाँ शक्ति-विभाजक सिद्धान्त (Principle of Separation of Powers) का संस्थापन किया। इससे ज्ञात होता है कि राजशास्त्र के अध्ययन में पर्यवेक्षण पद्धति बड़ा महत्व रखती है। इसके द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने से राजनीतिज्ञ स्वयं राज्य के प्रत्येक भाग का तथा शासन-प्रणाली का निरीक्षण करके उचित परिणाम निकाल सकता है परन्तु इस प्रणाली का अनुकरण करने के लिये कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति किसी राज्यशासन का पर्यवेक्षण द्वारा अध्ययन करने को जाय तो उसे राज्य-शासन के प्रत्येक पार्श्व पर दृष्टि डालना आवश्यक है। यदि वह किसी एक ही पार्श्व पर दृष्टिपात करेगा तो यह सम्भव है वह ठीक परिणाम पर न पहुँच सके और उसे अपने कार्य में सफलता न प्राप्त हो।

दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method) — दार्शनिक पद्धति द्वारा राजशास्त्र का अध्ययन करने में सबसे प्रथम यह निश्चित करते हैं कि राज्य की प्रकृति और उद्देश्य क्या है ? प्रकृति और उद्देश्य निर्धारित करने के पश्चात् यह प्रयत्न किया जाता है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किस प्रकार की शासन-प्रणाली उचित होगी। यह एक प्रकार का आदर्शवादी सिद्धान्त है जिसमें निगमात्मक (deductive) रीति का प्रयोग किया जाता है। यूरोप के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता प्लेटो, कान्ट (Kant), हैगिल (Hegel), रूसो, ग्रीन (Green) आदि आदर्शवादी दार्शनिक थे इन्होंने राजशास्त्र में दार्शनिक पद्धति का अनुसरण किया है। इन दार्शनिकों ने पहले यह निश्चित किया कि राज्य का उद्देश्य मनुष्यमात्र की सब प्रकार की उन्नति करना है—आचारिक, आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक इत्यादि। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ये दार्शनिक राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त होने के कारण यह आवश्यक नहीं है कि इन दार्शनिकों द्वारा स्थापित किये सभी सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत किये जा सकें। कुछ ऐसी भी बातें इन सिद्धान्तों में हो सकती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से श्रेष्ठ प्रतीत होती हैं परन्तु प्रयोग में नहीं आ सकतीं। प्लेटो का साम्यवाद किसी भी राज्य में कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता जर्मन दार्शनिकों ने राज को देवतुल्य समझा है। जिन पद्धतियों का ऊपर वर्णन किया गया है उन पद्धतियों को यहाँ कोई स्थान नहीं है। ऐतिहासिक, तुलनात्मक, प्रयोगात्मक तथा पर्यवेक्षण पद्धतियों में निरीक्षण प्रयोग और तुलना की जाती है। इन सब पद्धतियों में व्याप्ति-मूलक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया जाता है जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। परन्तु दार्शनिक पद्धति में व्याप्तिमूलक पद्धति को कोई स्थान नहीं है। दार्शनिक पद्धति में निगमात्मक पद्धति (Deductive Method) का प्रयोग किया जाता है। सिद्धान्त निर्धारित करके उनके अनुसार राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। दार्शनिक पद्धति आदर्शवादी होने के कारण पूर्णतया कार्य रूप में परिणत नहीं की जा सकती।

अतः राजशास्त्र के अध्ययन के लिये न केवल व्याप्तिमूलक पद्धति के अनुसार ही कार्य करना उचित है, और न केवल निगमात्मक पद्धति के अनुसार ही। राजशास्त्र के अध्ययन के लिये ऐसी पद्धित का अनुसरण करना चाहिए जिसमें व्याप्तिमूलक और निगमात्मक पद्धतियों का

आविष्कृत हो। अतः व्याप्तिमूलक पद्धति के अनुसार राज्य के विभिन्न अंगों का प्रयोगों द्वारा अध्ययन करके सर्वश्रेष्ठ परिणामों को स्थित्यानुसार निगमात्मक पद्धति द्वारा प्रयोग में लाया जाय तभी राजशास्त्र का अध्ययन सफल हो सकता है।

विशेष अध्ययन के निमित्त देखिये—

जे. डब्ल्यू. गार्नर—*पौलिटिकल साइन्स ऐन्ड गवर्नमेंट।*
जी. ई. जी. कैटलिन—*साइन्स ऐन्ड मेथड आफ़ पौलिटिक्स।*
ऐच. ई. बार्न्स—*सोश्योलोजी ऐन्ड पौलिटिकल थ्योरी।*
आर. जी. गैटिल—*इन्ट्रोडक्शन टु पौलिटिकल साइन्स। और रीडिंग्जइन पौलिटिकल साइन्स।*
डब्ल्यू. डब्ल्यू. विलोबी—*नेचर आफ़ दी स्टेट।*
ऐच. सिजविक—*ऐलीमेन्ट्स आफ़ पौलिटिक्स।*
ऐस. लीकी—*इन्ट्रोडक्शन टु पौलिटिकल साइन्स।*
जी. पौलक—*इन्ट्रोक्शन टु दी हिस्ट्री आफ दी साइन्स आफ़ पौलिटिक्स।*
ऐस. लीकाक—*ऐलीमेन्ट्स आफ पौलिटिकल साइन्स।*
आर. ऐन. गिल्क्रिस्ट—*प्रिंसिपल्स आफ़ पौलिटिकल साइन्स।*
ब्लंशली—*थ्योरी आफ़ दी स्टेट।*
जेन्क्स—*हिस्ट्री आफ़ पौलिटिक्स।*
मुनरो स्मिथ—*डोमेन आफ़ पौलिटिकल साइन्स।*
ई. बार्कर—*पौलिटिकल थौट इन इंगलैण्ड फ्राम् स्पेन्सर टू टु डे।*
महाभारत—*शान्तिपर्व।*
कौटिल्य—*अर्थशास्त्र।*
शुक्राचार्य—*शुक्रनीति।*

अध्याय २

राज्य और उसकी प्रकृति

राज्य की परिभाषा—पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओं ने अरस्तू को 'राजशास्त्र का आचार्य' और 'राजनैनिक विज्ञान का पिता' की उपाधि दी है। सर फ्रेडरिक पौलक ने तो यहाँ तक कहा है कि "जिस प्रकार हिन्दू लोग प्रत्येक शुभ कार्य करने से पूर्व गणेशजी की पूजा करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक राजशास्त्र तत्ववेत्ता को कोई भी राजनीति सम्बन्धी कार्य करने से पूर्व अरस्तू का स्मरण करना चाहिये।" राजनैतिक विज्ञान के इस महान आचार्य ने राज्य की यह परिभाषा की है "प्रत्येक राज्य एक समुदाय है, प्रत्येक समुदाय का उद्देश्य कोई न कोई सद्कार्य करना है अतः राज्य का उद्देश्य सर्वश्रेष्ठ कार्य करना है" * सम्पूर्ण मानव-समुदायों में राज्य अत्यन्त सार्वभौमिक तथा सर्वशक्तिशाली समुदाय है। प्रसिद्ध जर्मन राजशास्त्रवेत्ता शुल्ज (Schulze) का कथन है कि राज्य की इतनी व्याख्याएँ हो चुकी हैं कि उसकी गणना करना कठिन है। राजशास्त्रवेत्ता हॉलैन्ड (Holland) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है "राज्य मनुष्य जाति का वह विशाल समुदाय है जो भूमि (Territory) के किसी विशेष भाग में निवास करता है और जिसमें या तो अधिकांश लोगों की सम्मति कार्य करती है, अथवा कुछ विशेष लोग बहुमत के बल पर शासन करते हैं और उन लोगों पर अपनी इच्छा का आरोप करते हैं जो उनके विरोधी हैं।" हाल (Hall) के अनुसार स्वतंत्र राज्य के लक्षण ये हैं "जिस समुदाय (Community) में वह संगठित हुआ है, उसके कुछ विशेष राजनैतिक ध्येय रहते हैं, उसके अधिकार में निश्चित भूमि रहती है और वह किसी बाह्य शक्ति के दबाव से स्वतंत्र रहता है।" जर्मन राजनीतिज्ञ सिडेल (Seydel) कहता है कि "राज्य का अस्तित्व उसी समय से आरम्भ हो जाता है जब कोई

---

* "Every State is an association. The object of every association is some Good. Therefore the object of the State is Supreme Good."

मनुष्य जिन्होंने भूमि के किसी विशेष भाग पर अधिकार कर लिया है, किसी उच्च शक्ति (Higher will) के नीचे एकत्रित हो जाते हैं।" ग्रोशस (Grotius) राज्य की यह परिभाषा करता है "राज्य स्वतंत्र मनुष्यों का वह सांगोपांग समाज है, जो शुद्ध और सर्वसाधारण उपयोगिता (common utility) का प्रयोग करने के लिये एकत्रित है।" ब्लंश्ली (Bluntschli) ने राज्य की व्याख्या इस प्रकार की है 'किसी भूमि विशेष के राजनैतिक सुसंगठित लोगों का ही नाम राज्य है।" वैटिल (Vattel) के मतानुसार "राज्य मानव समाज का अथवा राजनीतिक-संस्था (body politic) का वह समुच्चय है जो अपनी शक्तियों के सम्मिश्रण (Combination ot Forces) में सर्व साधारण के हित और कल्याण की अभिलाषा करता है।" अमरीका के संयुक्त राज्य की सुप्रीम कोर्ट ने एक बार राज्य की व्याख्या करते हुए यह लिखा था—"राज्य स्वतंत्र मनुष्यों का वह समुदाय है जो सर्वसामान्य लाभ के लिये सुसंगठित है तथा जो अपने ही पदार्थों पर अधिकार रखता हुआ दूसरे के अधिकारों को न्याय की दृष्टि से देखता है।" अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रसिद्ध लेखक फिलिमोर (Phillimore) ने लिखा है कि "राज्य लोगों का वह समुदाय है जो स्थायी रूप से भूमि के किसी विशेष भाग पर निवास करता है, और जो समान विधान तथा समान रीतिरिवाजों से बँधकर सुचारु रूप से सुसंगठित है, और जो नियमबद्ध शासन (organized government) के माध्यम (medium) द्वारा उस विशेष भूमि पर निवास करने वाले लोगों पर तथा उन विशेष भूमि के सब पदार्थों पर अधिकार रखता है तथा जिसे पृथ्वी के किसी देश से युद्ध अथवा संधि करने का तथा अन्य किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार है।" एक फ्रेंच विद्वान् के मतानुसार "राज्य और कुछ नहीं, केवल मनुष्यजाति के आध्यात्मिक समुदाय का दृश्यरूप है।" जर्मन आदर्शवादी राजशास्त्रवेत्ता हेगिल (Hegel) कहता है कि "राज्य लोगों की इच्छा का दृश्यरूपी बाहरी संघ है।" अमरीका के भूतपूर्व प्रेज़िडेन्ट डाक्टर विलसन (Dr. Wilson) राज्य की परिभाषा इस प्रकार करते हैं "राज्य लोगों का वह समुदाय है, जिनका मूल एक है और जिनका एक सर्व सामान्य शासन (Common Government) है।" गार्नर (Garner) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—"राज्य शब्द से राजनैतिक और विधि-विधान (Constitutional Law) की भावना की कल्पना आती है। राज्य उन बहुसंख्यक अथवा अल्पसंख्यक लोगों का

समुदाय है, जो भूमि के किसी विशेष भाग पर निवास करते हैं जो बाह्य शासन से मुक्त हैं और जिनके पास ऐसा सुसंगठित शासन है जिसको प्रजा अधिकांश लोग मानते हैं।" हमारे प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञों ने जो राज्य की परिभाषा की है उसका सारांश यह है—"किसी देश विशेष अथवा भूभाग पर प्रभुत्व और उसके निवासियों का शासन राज्य है।"

राज्य और समाज—साधारणतया मानव विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार मानव जाति को रंग के अनुसार चार समाजों में विभक्त किया है—(१) भारत तथा यूरोप की गौरवर्ण जाति, (२) यूथोपिया की श्यामवर्ण जाति (३) चीन तथा जापान की पीतवर्ण जाति, और (४) अमरीका की रक्तवर्ण जाति।

(१) **भारत तथा यूरोप की गौरवर्ण जाति**—गौरवर्ण जाति की दो शाखाएँ मुख्य हैं—एक सैमिटिक; दूसरी आर्य। सैमिटिक लोगों ने अपने धार्मिक जीवन पर अधिक ध्यान दिया और धर्म-प्रचार किया। मुसलमान, यहूदी और ईसाई इन्हीं लोगों में से हैं। आर्य जाति ने संसार की सब जातियों से अधिक उन्नति की। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण आदि में भारत के आर्यों ने संसार का बहुत उपकार किया है। जब इनकी एक शाखा यूरोप में पहुँची तो परिस्थिति के अनुसार इन्होंने राजशास्त्र, राजनीति तथा भौतिकविज्ञान की विशेष प्रकार से उन्नति की।

(२) **यूथोपिया की श्यामवर्ण जाति**—प्राचीन काल में ये लोग यूरोप तथा एशिया के दक्षिणी भाग में निवास करते थे। जब अन्य जातियों ने इन्हें इधर उधर से धकेला तो ये लोग अफ्रीका में स्थायी रूप से बस गये। इस जाति के लोगों ने अभी तक किसी प्रकार की उन्नति नहीं की है और अब भी वैसे ही असभ्य हैं जैसे सहस्त्रों वर्ष पूर्व थे।

(३) **चीन और जापान की पीतवर्ण जाति**—पीतवर्ण के लोगों की एक शाखा मलाया, और दूसरी शाखा मंगोलिया की ओर गई। इस जाति के लोगों ने एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस जाति के लोग बड़े वीर और बुद्धिमान हैं। हूण, शक, यूची, तुर्क, चीनी, जापानी आदि इसी जाति के लोग थे जिन्होंने राजनीति तथा दर्शन शास्त्रों में बड़ी उन्नति की थी। कृषि, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा तथा प्रबन्ध आदि के लिये संसार के लोग इनके कृतज्ञ हैं।

(४) **अमरीका की रक्तवर्ण जाति**—अमरीका के रक्तवर्ण के लोग, अफ्रीका के श्यामवर्ण के लोगों से अधिक सभ्य तथा उन्नत दशा में रहे हैं।

परन्तु गौरवर्ण और पीतवर्ण के लोगों के समान सभ्य कभी नहीं हो पाये। इन लोगों के रीति-रिवाज अत्यधिक पतन दशा में भारतीय ग्रामीणों के समान थे। यूरोप की गौरवर्ण जातियों के सम्पर्क में आने से इन्होंने यूरोपीय संस्कृति तथा सभ्यता को अपनाया और उसी प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति करने में संलग्न हैं।

हमारे विचार से रंग के आधार पर संसार की जातियों की स्थापना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है। मनुष्य के रूप रंग तथा शारीरिक बनावट पर किसी स्थान की जलवायु, भूमि तथा उपज का बड़ा प्रभाव पड़ता है। सहस्त्रों वर्षों से विशेष प्रकार की भूमि तथा जलवायु के कारण मनुष्यों के रूप रंग में इस प्रकार का परिवर्तन हो गया है। फ्रांस के राजनीतिज्ञों ने मनुष्यों के साधारण सम्मिलन या संघ का नाम 'समाज' लिखा है; जैसे, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज इत्यादि। एक राष्ट्र में राजनीति के आधार पर संगठित मनुष्यों को आधुनिक विद्वानों ने 'जाति' कहा है। 'जाति' शब्द में राजनीतिक भाव सम्मिलित है परन्तु 'समाज' शब्द में नहीं। समाज विधान निर्माण का कार्य नहीं करती परन्तु जाति करती है।

जाति तथा समाज में परस्पर भेद होते हुए भी दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। राष्ट्र या जाति भिन्न समाजों के लिये भिन्न-भिन्न नियम बनाती है और उनकी रक्षा करती है। समाज राष्ट्र के लिये ऐसा नहीं कर सकता। कभी-कभी समाज अपने एक ऐसे स्वार्थ को पूरा करना चाहता है जो राष्ट्र अथवा राज्य के लिये अभीष्ट नहीं होता।

समाज का जनता के साथ भी सम्बन्ध है परन्तु वह सम्बन्ध इतना घनिष्ट नहीं है जितना राष्ट्र और जाति का है। जनता की भाषा तथा-शैली अपनी होती है और समाज जनता का एक अंग है। जनता अनेक राष्ट्रों में विभक्त हो सकती है परन्तु समाज में ऐसा नहीं हो सकता।

राज्य और समाज एकात्मक (identical) नहीं हैं। परन्तु प्राचीन यूनान के सर्वश्रेष्ठ राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध राजशास्त्र 'पौलिटिक्स' (Politics) के प्रथम पुस्तक के प्रथम अध्याय को इस प्रकार आरम्भ किया है—"प्रत्येक राज एक समुदाय है" समुदाय का तात्पर्य यहाँ समाज से ही है। इसका कारण यह है प्राचीनकाल में यूनान में छोटे-छोटे नगर-राज्य थे। प्रत्येक नागरिक (हैलट्स और विदेशियों के अतिरिक्त) नगर के शासन प्रबन्ध में भाग लेता था। न्याय करने के लिये सब मिलकर पंचायत के रूप में एकत्रित होते थे। वे नगर आजकल के बम्बई, कलकत्ता,

समुदाय है, जो भूमि के किसी विशेष भाग पर निवास करते हैं जो अन्य शासन से मुक्त है और जिनके पास ऐसा सुसंगठित शासन है जिसकी आज्ञा अधिकांश लोग मानते हैं।" हमारे प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञों ने जो राज्य की परिभाषा की है उसका सारांश यह है—"किसी देश विशेष अथवा भूभाग पर प्रभुत्व और उसके निवासियों का शासन राज्य है।"

राज्य और समाज—साधारणतया मानवविज्ञानियों के अनुसार मानव जाति को रंग के अनुसार चार समाजों में विभक्त किया है—(१) भारत तथा यूरोप की गौरवर्ण जाति, (२) यूथोपिया की श्यामवर्ण जाति (३) चीन तथा जापान की पीतवर्ण जाति, और (४) अमरीका की रक्तवर्ण जाति।

(१) **भारत तथा यूरोप की गौरवर्ण जाति**—गौरवर्ण जाति की दो शाखाएँ मुख्य हैं—एक सैमिटिक; दूसरी आर्य। सैमिटिक लोगों ने अपने धार्मिक जीवन पर अधिक ध्यान दिया और धर्म-प्रचार किया। मुसलमान, यहूदी और ईसाई इन्हीं लोगों में से हैं। आर्य जाति ने संसार की सब जातियों से अधिक उन्नति की। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण आदि में भारत के आर्यों ने संसार का बहुत उपकार किया है। जब इनकी एक शाखा यूरोप में पहुँची तो परिस्थिति के अनुसार इन्होंने राजशास्त्र, रासायनिक तथा भौतिकविज्ञान की विशेष प्रकार से उन्नति की।

(२) **यूथोपिया की श्यामवर्ण जाति**—प्राचीन काल में ये लोग यूरोप तथा एशिया के दक्षिणी भाग में निवास करते थे। जब अन्य जातियों ने इन्हें इधर उधर से धकेला तो ये लोग अफ्रीका में स्थायी रूप से बस गये। इस जाति के लोगों ने अभी तक किसी प्रकार की उन्नति नहीं की है और अब भी वैसे ही असभ्य हैं जैसे सहस्त्रों वर्ष पूर्व थे।

(३) **चीन और जापान की पीतवर्ण जाति**—पीतवर्ण के लोगों की एक शाखा मलाया, और दूसरी शाखा मंगोलिया की ओर गई। इस जाति के लोगों ने एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस जाति के लोग बड़े वीर और बुद्धिमान हैं। हूण, शक, यूची, तुर्क, चीनी, जापानी आदि इसी जाति के लोग थे जिन्होंने राजनीति तथा दर्शन शास्त्रों में बड़ी उन्नति की थी। कृषि, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा तथा प्रबन्ध आदि के लिये संसार के लोग इनके कृतज्ञ हैं।

(४) **अमरीका की रक्तवर्ण जाति**—अमरीका के रक्तवर्ण के लोग, अफ्रीका के श्यामवर्ण के लोगों से अधिक सभ्य तथा उन्नत दशा में रहे हैं।

परन्तु गौरवर्ण और पीतवर्ण के लोगों के समान सभ्य कभी नहीं हो पाये। इन लोगों के रीति-रिवाज अव्यवस्थित उन्नत दशा में भारतीय ग्रामीणों के समान थे। यूरोप का गौरवर्ण जातियों के सम्पर्क में आने से इन्होंने यूरोपीय संस्कृति तथा सभ्यता को अपनाया और उसी प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति करने में संलग्न हैं।

हमारे विचार से रंग के आधार पर संसार की जातियों की स्थापना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है। मनुष्य के रूप रंग तथा शारीरिक बनावट पर किसी स्थान की जलवायु, भूमि तथा उपज का बड़ा प्रभाव पड़ता है। सहस्रों वर्षों से विशेष प्रकार की भूमि तथा जलवायु के कारण मनुष्यों के रूप रंग में इस प्रकार का परिवर्तन हो गया है। फ्रांस के राजनीतिज्ञों ने मनुष्यों के साधारण सम्मिलन या संघ का नाम 'समाज' लिखा है; जैसे, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज इत्यादि। एक राष्ट्र में राजनीति के आधार पर संगठित मनुष्यों को आधुनिक विद्वानों ने 'जाति' कहा है। 'जाति' शब्द में राजनीतिक भाव सम्मिलित है परन्तु 'समाज' शब्द में नहीं। समाज विधान निर्माण का कार्य नहीं करती परन्तु जाति करती है।

जाति तथा समाज में परस्पर भेद होते हुए भी दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। राष्ट्र या जाति भिन्न समाजों के लिये भिन्न-भिन्न नियम बनाती है और उनकी रक्षा करती है। समाज राष्ट्र के लिये ऐसा नहीं कर सकता। कभी-कभी समाज अपने एक ऐसे स्वार्थ को पूरा करना चाहता है जो राष्ट्र अथवा राज्य के लिये अभीष्ट नहीं होता।

समाज का जनता के साथ भी सम्बन्ध है परन्तु वह सम्बन्ध इतना घनिष्ट नहीं है जितना राष्ट्र और जाति का है। जनता की भाषा तथा-शैली अपनी होती है और समाज जनता का एक अंग है। जनता अनेक राष्ट्रों में विभक्त हो सकती है परन्तु समाज में ऐसा नहीं हो सकता।

राज्य और समाज एकात्मक (identical) नहीं हैं। परन्तु प्राचीन यूनान के सर्वश्रेष्ठ राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध राजशास्त्र 'पॉलिटिक्स' (Politics) के प्रथम पुस्तक के प्रथम अध्याय को इस प्रकार आरम्भ किया है—"प्रत्येक राज एक समुदाय है" समुदाय का तात्पर्य यहाँ समाज से ही है। इसका कारण यह है प्राचीनकाल में यूनान में छोटे-छोटे नगर-राज्य थे। प्रत्येक नागरिक (हैलट्स और विदेशियों के अतिरिक्त) नगर के शासन प्रबन्ध में भाग लेता था। न्याय करने के लिये सब मिलकर पंचायत के रूप में एकत्रित होते थे। वे नगर आजकल के बम्बई, कलकत्ता,

कानपुर, दिल्ली जैसे नगर नहीं थे । उनके नगरों की जनसंख्या इतनी अधिक न थी । अतः उन नगरों के सब नागरिक शासन कार्य में भाग ले सकते थे ।

अरस्तू ने समाज का सबसे लघुरूप एक कुटुम्ब को माना है जिसमें बालबच्चे, स्त्री-पुरुष तथा नौकर परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए कुटुम्ब की उन्नति करते हैं । समाज का इससे वृहद् रूप ग्राम को माना है जिसमें अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के अभिप्राय से लोग एक दूसरे के साथ परस्पर सहयोग करते हैं । अन्तिम और सबसे वृहद् रूप नगर को माना है, जिसमें प्रत्येक नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ और सदाचारी जीवन व्यतीत करता हुआ अपनी व्यक्तिगत सामाजिक उन्नति करता है । एक यूनानी नागरिक के जीवन का प्रत्येक कार्य राज्य से सम्बद्ध था अथवा यों कह सकते हैं कि एक नागरिक जीवन ही सच्चा सामाजिक जीवन था ।

यूनानी राजशास्त्रवेत्ताओं का राज्य और समाज के सम्बन्ध में जो विचार हैं उससे हम सहमत नहीं हैं । सम्भव है उनकी परिस्थितियों के अनुसार उस समय उन्हें अपने ये विचार युक्तिपूर्ण और न्यायसंगत प्रतीत होते हों । परन्तु आधुनिक काल की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में यह विचार अप्रचलित (obsolete) प्रतीत होते हैं । राज्य एक राजनैतिक संगठन है । समाज राजनैतिक संगठन नहीं है । एक ग्राम, नगर, देश अथवा संसार के सब मनुष्यों को किसी न किसी दृष्टिकोण से 'समाज' नाम से सम्बोधित कर सकते हैं परन्तु 'राज्य' नाम से ऐसा नहीं कर सकते । राज्य, समाज का एक अंग है परन्तु यह समाजका प्रतिरूप नहीं है । बिना किसी नियम तथा प्रयोजन के एकत्रित मनुष्य समुदाय को हम समाज कह सकते हैं परन्तु हम उसे राज्य कदापि नहीं कह सकते । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । बिना समाज के मनुष्य क्षणभर भी नहीं रह सकता है । समाज के सहयोग के कारण ही मनुष्यों ने आज इतनी उन्नति की है । परन्तु साधारण समाज में कभी जीवन सुख-शान्तिमय नहीं रह सकता । मनुष्यों के भीतर लोभ की मनोवृत्ति, उसे दूसरों के अधिकार छीनने की प्रेरणा करती है । इसी कारण समाज में बहुत सी बुराइयाँ होती हैं । इन बुराइयों को रोकने के लिये विशेष रूप से संगठित समाज की आवश्यकता है । उसी विशेष प्रकार से संगठित समाज को राज्य कहते हैं । राज्य का कर्त्तव्य है कि समाज की सब प्रकार की उन्नति करे और जो लोग समाज की उन्नति में बाधक हों उन्हें दण्ड दे । अतः दण्डविधान भी राज्य का एक मुख्य अंग है । राज्य के भिन्न भिन्न अंगों का आगे वर्णन करेंगे ।

राज्य और शासन-पद्धति—जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, राज्य मनुष्यों का एक समुदाय है जो एक निश्चित भूमि पर निवास करता है, उस भूमि पर उस समुदाय का पूर्ण अधिकार होता है। इस राज्य के कार्य को सफलतापूर्वक चलाने के लिये निश्चित नियमों की आवश्यकता होती है जिनके अनुसार राज्य का प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करता है, और जो व्यक्ति उन नियमों की अवहेलना करता है उसे दण्ड मिलता है। राज्य में एक सर्वोच्च सत्ता होती है जिसकी आज्ञा के अनुसार राज्य कार्य का संचालन होता है। यह सर्वोच्च सत्ता एक है, अनेक अथवा राज्य के सब प्रेक्षावान पुरुषों को प्राप्त होती है। प्राचीन काल में यूनान में राज्य के सब नागरिक शासन प्रबन्ध में भाग लेते थे परन्तु अब राज्य इतना विस्तृत होता है और इतनी उन्नत दशा को प्राप्त हो गया है कि अब राज्य के सब नागरिक शासन कार्य में भाग नहीं ले सकते। अतः राज्य की जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा राज्य का प्रबन्ध करती है। जिन व्यक्तियों के हाथ में शासन की बागडोर होती है वही शासक कहलाते हैं और शासक एक, अनेक अथवा सम्पूर्ण जनता हो सकती है। जनता चाहे तो यह शक्ति एक व्यक्ति को सौंप सकती है, यदि वह चाहे तो एक से अधिक व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करके, सौंप सकती है कुल जनता स्वयं शासन कर सकती है। भिन्न भिन्न प्रकार के शासनों का उल्लेख हम आगे करेंगे यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि राज्य और शासन में भेद है। राज्य का प्रबन्ध करने वाले शासक कहलाते हैं। शासकों का अन्त हो जाता है परन्तु राज्य का अन्त नहीं होता। सन् १९१७ से पूर्व रूस में जार का एकसत्तात्मक शासन था। अब रूस प्रजातंत्रात्मक राज्य है। राज्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है परन्तु शासन में परिवर्तन हो गया है। राज्य एक सत्ताधारी समुदाय (sovereign community) है, जो सर्वसामान्य हित के लिये राजनैतिक दृष्टि से सुसंगठित है और शासन उसके एक संगठन का नाम है। शासन राज्य का आवश्यक अंग है परन्तु राज्य और शासन समान नहीं हैं। राज्य अपनी सत्ता और उच्च शक्ति से शासन को मण्डित करता है। अथवा यों कह सकते हैं कि शासन राज्य का वह अंग है जिसके द्वारा राज्य की सत्ता अथवा इच्छा प्रगट होती है और जिसके द्वारा उक्त इच्छा की पूर्ति होती है। शासक राज्य की शक्तियों का संचालन करता है। राज शास्त्रवेत्ता सीली (Seeley) का कथन है कि 'राज्य वह व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्य की शक्तियां प्रकट की जाती हैं। शासन स्वयं सत्ताधारी नहीं, उसके पास स्वयं, असीम अधि-

कार तथा शक्तियाँ नहीं हैं। उसके पास जो कुछ है वह शासन को उसके संगठन द्वारा दिया हुआ है।" अतएव 'राज्य और शासन' इन शब्दों का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इन दोनों में क्या अन्तर है।

राज्य और राष्ट्र – जिस प्रकार राज्य और शासन समान नहीं है उसी प्रकार राज्य और राष्ट्र भी समान नहीं। राजशास्त्रवेत्ताओं ने इन दोनों शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। राज्य कहने से हमारे मन में उस समाज का चित्र खिच जाता है जो राजनैतिक ढंग से सुसंगठित हो। राष्ट्र कहने से इससे कुछ भिन्न कल्पना का आविर्भाव होता है। यूरोपीय विद्वानों का मत है कि राष्ट्र अपने अर्थ में मनुष्य समाज का अंश है, अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण शेष संसार से पृथक है, और जिसमें निवास करने वालों का जातीयमूल एक होकर जिनकी भाषा सभ्यता, साहित्य, रीति रिवाज तथा स्वभाव और प्रकृति एक सी है। राजशास्त्र-वेत्ता बर्गेस (Burgess) के मतानुसार राष्ट्र उस लोक समुदाय का नाम है जिसकी भाषा, साहित्य, इतिहास और रीति रिवाज एक हैं जो पृथ्वी के उस भाग में बसा हुआ है जिसकी भौगोलिक परिस्थिति समान है। बर्गेस के अनुसार एक राष्ट्र में बसने वाली जातियों की समानता की आवश्यकता नहीं है। वह भौगोलिक परिस्थिति और भाषा की समानता को अधिक महत्व देता है। फ़्रांस के एक प्रसिद्ध विधानवेत्ता का मत है कि राष्ट्र एक ही देश में बसनेवाले उन लोगों के समाजों का संघ है जो एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही विधान के आधीन हैं तथा जिनका जातीयमूल भी एक होकर जिनके रूप रंग में और जिनके स्वार्थ और भावनाओं में समानता पाई जाती है। एक स्थान पर उसने यह भी कहा है कि "जातीय सादृश्य, भाषा, रीति-रिवाज और धर्म की एकता आदि तत्व ही राष्ट्र को बनाते हैं।" ब्लंश्ली लिखता है " राष्ट्र भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले और भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति के ऐसे मनुष्यों का संघ है, जो समान भावना तथा समान जाति से बद्ध हैं, और जो भाषा, सभ्यता और रीतिरिवाज में भी समान हैं।" काल्वो (Calvo) ने अपनी "अन्तर्राष्ट्रीय विधान" नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि "राष्ट्रीय कल्पना का जातीय समानता तथा भाषा सम्बन्धी समानता से घनिष्ट सम्बन्ध है। जातीय समानता से मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेमपूर्ण और अधिक दृढ़ होता है तथा भाषा की समानता से लोगों को एक ऐसा सर्व सामान्य माध्यम प्राप्त हो जाता है जिसके

द्वारा एक राष्ट्र के सब लोग परस्पर अपने विचार सरलता से एक दूसरे पर प्रकट कर सकें।

गार्नर लिखता है कि 'भाषा की समानता आध्यात्मिक, बौद्धिक और सामाजिक व्यवहार का एक ऐसा प्रबल शस्त्र है जो जनता में जागति उत्पन्न कर उनकी राजनैतिक भावनाओं के विकास का मार्ग खोल देता है। यूरोपीय विधानवेत्ता गमप्लॉविज (Gumplorvicz) राष्ट्र की परीक्षा केवल सभ्यता की समानता (community of civilization) से करता है, उसका अभिप्राय यह है कि जहाँ लोगों के किसी विशेष समुदाय में सभ्यता की समानता पाई जाती है वह समुदाय राष्ट्र में परिणत हो जाता है। उसका यह भी कहना है कि सभ्यता की यह समानता उस समुदाय के जातीय मूल को प्रकट करने के साथ इतिहास की एकता को भी प्रकट करती है, अर्थात् भाषा तथा सभ्यता की समानता भूतकालिक इतिहास की समानता का फलस्वरूप होती है।

एक समय में यूरोप के कुछ विद्वानों का यह विचार था कि धर्म की समानता राष्ट्र के अस्तित्व का एक आवश्यक अंग है। परन्तु ज्यों-ज्यों यूरोप में धार्मिक स्वतन्त्रता के भाव बढ़ते गये त्यों त्यों इस कल्पना की अधोगति होती गई। वर्तमान काल में तो यह दशा है कि राष्ट्र संगठन में धार्मिक एकता की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझी जाती है और यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि भिन्न भिन्न धर्मों का पालन करते हुए भी मनुष्य एक राष्ट्रीय झण्डे के नीचे राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर बड़े प्रेम से इकट्ठे रह सकते हैं। एक राज्य में अनेक जातियाँ तथा राष्ट्र हो सकते हैं। तथा एक राष्ट्र में कितने ही राज्य भी हो सकते हैं। अतः यह बात स्पष्ट है कि राज्य और राष्ट्र एक नहीं हैं।

राज्य की व्यापकता—यूनान के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू का कथन है, कि मनुष्य स्वभाव से ही राजनैतिक प्राणी (political animal) है, मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी है कि बिना राज्य के उसका कार्य नहीं चल सकता। मनुष्य समाज के लिये राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में एक स्थान पर लिखा है कि "गृहस्थ जीवन मानव जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है राज्य मानव जीवन की मानसिक और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है"। इस राजशास्त्रवेत्ता के मतानुसार राज्य और कुटुम्ब अथवा एक व्यक्ति में वही भेद है जो एक पूर्ण वस्तु और उसके किसी भाग में है।

उदाहरणार्थ, राज्य शरीर की भाँति एक पूर्ण वस्तु है और एक कुटुम्ब अथवा एक व्यक्ति शरीर के एक अंग (हाथ, पैर सिर इत्यादि) के समान है। जिस प्रकार बिना शरीर के अंग स्वयं जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार बिना राज्य के एक कुटुम्ब अथवा व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् होकर मनुष्य नहीं रह सकता। राज्य सब से श्रेष्ठ समाज है अतः बिना राज्य के मानव जीवन की कभी उन्नति नहीं हो सकती है। समाज अथवा राज्य से पृथक् हुआ मनुष्य वास्तव में एक देवता अथवा पशु है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है राज्य एक पूर्ण वस्तु है और कुटुम्ब अथवा व्यक्ति उसका एक भाग है। जिस प्रकार भाग का नाम लेने से पूर्ण वस्तु का बोध होता है (जैसे हाथ कहने से पूर्ण शरीर का ज्ञान होता है। बिना शरीर के हाथ स्वयं कोई वस्तु नहीं है न कुछ कार्य कर सकता है) अर्थात् शरीर पहली वस्तु है और उसका अंग का विचार उसके पश्चात् होता है उसी प्रकार पहले राज्य है फिर मनुष्य है। इसका यह प्रयोजन नहीं है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य से पृथक् है। दोनों के उद्देश्य एक ही हैं उनमें कोई विभिन्नता नहीं है। दोनों का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व की उन्नति करना है। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ उन्नति राज्य में रह कर ही हो सकती है।

राज्य एक व्यक्ति का मस्तिष्क है, राज्य ही उसके हाथ पैर हैं। राज्य नागरिकों की चित्तवृत्ति का एक पूर्ण स्वरूप है। जिस प्रकार के किसी राज्य के मनुष्य होंगे, जैसा उनका स्वभाव होगा, उसी प्रकार का उनके राज्य का संगठन होगा। उसी प्रकार की शासन-प्रणाली का राज्य में प्रयोग किया जायगा। उस शासनप्रणाली को कार्य रूप में परिणत करने के लिए शक्ति की आवश्यकता है। राज्य बल का प्रयोग करता है। जो व्यक्ति राज्य के नियमों के अनुसार कार्य नहीं करता है, राज्य उससे बलपूर्वक वह कार्य कराता है। अतः हेगिल ने ठीक कहा है कि राज्य को 'अपराधी को दंड देने का अधिकार है"

राज्य सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि संगठन है। वह किसी विशेष समुदाय का पक्षपाती नहीं होता, वह संपूर्ण राष्ट्रका स्वरूप है। एक राज्य में अनेक धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व राजनैतिक समुदाय हो सकते हैं। प्रत्येक समुदाय में राज्य के सम्पूर्ण व्यक्ति भाग नहीं लेते हैं ऐसा हो सकता है कि एक व्यक्ति एक से अधिक समुदायों का सदस्य हो परन्तु न तो ये समुदाय सब मनुष्यों से संबंध रखते हैं और न सब मनुष्यों का इनमें से प्रत्येक समुदाय से

विशेष संबंध हो सकता है। परन्तु इन सब समुदायों का तथा सब मनुष्यों का राज्य से घनिष्ट संबंध है। ये समुदाय ऐसे नियम नहीं बना सकते जिन से अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचे। राज्य का यह अधिकार है कि वह इन समुदायों को राज्य के विधान का उल्लंघन करने पर दंड दे सकता है। वह इस समुदायों को तोड़ भी सकता है।

जैसा कि वर्णन किया गया है एक राज्य में अनेक समुदाय होते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदायों में उचित संबंध स्थापित रखने के लिये तथा समुदायों और जनता में ठीक ठीक संबंध स्थापित रखने के लिये राज्य को प्रयत्न करना पड़ता है। राज्य ऐसे विधान बनाता है जिनसे राज्य में शान्ति रहती है और भिन्न भिन्न समुदाय उन विधानों पर चलते हुए अनुशासन में रहते हैं। जब कभी इनमें से कोई समुदाय किसी अंश में भी विधान का उल्लंघन करता है अथवा ऐसे कार्य करता है जिनसे राज्य में अशान्ति फैलने की सम्भावना हो तो राज्य उनके अपराध के अनुसार दंड देता है और इस प्रकार राज्य के व्यक्तियों तथा समुदायों में ठीक ठीक संबंध स्थापित रहता है।

राज्य कभी एक विशेष समुदाय अथवा व्यक्ति को विशेष सहायता नही दे सकता। यदि किसी राज्य में तीन या चार प्रकार के धर्मों के अनुयायी हैं तो राज्य किसी विशेष धर्म वालों के साथ कभी पक्षपात नहीं करेगा, राज्य की दृष्टि में सब धर्म तथा मनुष्य समान हैं। राज्य में सबके साथ समानता का बर्ताव होता है। प्रत्येक समुदाय अपनी अपनी उन्नति के लिये प्रयत्न करता है। परन्तु राज्य का यह कर्तव्य है कि जितने भी समुदाय अथवा समाज उस राज्य में हैं उन्हें अपने अपने समुदाय अथवा समाज के सदस्यों की उन्नति करने दे। परन्तु जब कभी ये समुदाय किसी दूसरे समुदाय के अधिकारों पर आक्रमण करें अथवा दूसरे व्यक्तियों के निजी कार्यों में बाधा डालें तो उन्हें ऐसा करने से रोका जाय।

राज्य का मनुष्य के साथ नैतिक संबंध भी है। मनुष्य के आचरण अच्छा बनाना राज्य का कर्तव्य है। ग्रीन (Green) का कथन है कि राज्य को केवल ऐसे ही कार्य करने अथवा न करने देना चाहिये जिनका करने देना अथवा न करने देना समाज के नैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हो।' इसका अभिप्राय यह है कि राज्य केवल ऐसे ही कार्यों को करने की आज्ञा दे जिन से जनता की भलाई हो। जिन कार्यों के करने से जनता में किसी प्रकार की बुराई फैले ऐसी बातें राज्य कभी नहीं होने दे। परन्तु राज्य केवल

उन्हीं विषयों में मनुष्य को बाध्य कर सकता है जो अन्य मनुष्यों अथवा समाज से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य के किसी भी निजी कार्य का यदि समाज अथवा अन्य व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है तो राज्य उस कार्य में अवश्य बाधक होगा। यदि मनुष्य के किसी निजी कार्य से समाज अथवा अन्य मनुष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तो राज्य उसमें किसी प्रकार से बाधक नहीं हो सकता। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एक मनुष्य आत्महत्या अथवा कोई अन्य ऐसा निजी कार्य कर सकता है। ऐसा नहीं हो सकता। मनुष्य को अपने जीवन पर ऐसा अधिकार नहीं है। जब उसको अपने ही जीवन पर यह अधिकार प्राप्त नहीं है तो वह दूसरों के जीवन पर भी यह अधिकार नहीं रखता है चाहे उसका पुत्र पुत्री अथवा स्त्री ही क्यों न हो।

सारांश यह है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्यमात्र की उन्नति करना और उनके जीवन को आनन्दमय बनाना है। राज्य में ही मनुष्य शान्तिपूर्वक रहता हुआ सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। राज्य के सब संगठन और समुदाय अथवा समाज तभी ठीक ठीक कार्य कर सकते हैं जब उनके ऊपर राज्य का भय हो अन्यथा कदापि शान्ति स्थापित नहीं रह सकती। राज्य न्यायपूर्वक अपने बल का प्रयोग करता हुआ जनता को सुखी और संतुष्ट रखता है। अच्छे राज्य में व्यक्तित्व को दबाया नहीं जाता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य के नियमों पर चलते हुए पूर्ण उन्नति करने का अधिकार है।

राज्य के तत्त्व—राज्य का मूल क्रम वा विक्रम है। किसी वंश में पुरुषानुक्रम से राज्य का चला आना और उत्तराधिकार रूप से राज्य का मिलना क्रम है। विक्रम का अर्थ शौर्य है। जो राज्य किसी की वीरता के कारण आक्रमण द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से प्राप्त किया जाता है वह विक्रम मूलक राज्य कहलाता है। इंगलैण्ड में राज्य का मूल क्रम है। ईरान के रज़ाशाह के राज्य का मूल विक्रम है।

प्राचीन हिन्दू राजनीति के आचार्यों ने राज्य से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति बतलाई है। इसीलिये शुक्राचार्य ने अपनी दण्ड नीति के आरम्भ में ही राज्य रूपी उस वृक्ष को नमस्कार किया है, जिसकी शाखाएँ षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) है और जिसके फूल (साम, दाम, भेद और दण्ड) तथा फल त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम हैं।

हमारे प्राचीन हिन्दू राजशास्त्रवेताओं (मनु, बृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य आदि) ने राज्य के सात अङ्ग वा प्रकृतियाँ मानी हैं। वे ये हैं—

१–स्वामी अथवा राजा। २–अमात्य अथवा मंत्री। ३–पुर या राजधानी। ४–राष्ट्र। ५–कोष। ६–दण्ड अथवा बल। ७–सुहृत् अथवा मित्र *। ये सात प्रकृतियां राज्य रूपी शरीर के अङ्ग हैं। यद्यपि सप्तांग राज्य के सभी वर्णनों में स्वामी वा राजा का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है तथापि वास्तव में राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग राष्ट्र है, क्योंकि राजा के बिना तो राज्य हो सकता है, परन्तु राष्ट्र के बिना वह असम्भव है।

सप्तांग राज्य के विषय में शुक्रनीतिसार का रूपक बड़ा ही अद्भुत है। वह यह है—राज्याङ्गों में मन्त्री तो नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोष मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र हैं †। राष्ट्र इस लिये पैर कहा गया है कि वह राज्य का मूलाधार है। उसी के सहारे राज्य रूपी शरीर खड़ा होता है। इसी लिए राज्याङ्गों में राष्ट्र का मुख्य स्थान है।

दूसरा स्थान बल का है, क्योंकि बल मन के समान बताया गया है। शरीर में इन्द्रियों का राजा मन है क्योंकि उन्हें किसी कार्य में प्रवृत्त अथवा उससे निवृत्त यही करता है। राज्य में भी यदि बल वा सेना न हुई, तो वह कुछ नहीं कर सकता। कोष की उपमा मुख से दी गई है और इसलिये इसका तीसरा स्थान है। जैसे मुख खाता है और सारा शरीर उससे पुष्ट होता है, वैसे ही राज्य-कोष में धन संचित होने से सभी कार्यों की पुष्ट होती है। कौटिल्य ने कहा है कि कोष और बल ही राजा की शक्ति है ‡। महाभारत में कहा गया है कि राजा का मूल कोष बल है और कोष का मूल बल है। वही सब धर्मों का मूल है और धर्म का मूल प्रजा है। मंत्री को आँख इस लिये बताया है कि राज्य का प्रायः समस्त व्यवहार मंत्रियों के परामर्श से होता है। जैसे अपने ऊपर आक्रमण होने से हाथ ही सबसे प्रथम ऊपर को प्रहार रोकने के लिये उठता है उसी प्रकार राज्य पर जब आक्रमण होता है तो दुर्ग को ही सहना पड़ता है। इसलिये दुर्ग की हाथ से उपमा दी गई है।

---

* स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥ २९४, मनु० अ० ९।

† दृगममात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
हस्तपादौ दुर्ग राष्ट्रौ राज्यागांनि स्मृतानिह ॥
(६२, अ० १ शुक्रनीति सार)

‡ कोश दंड बलं हि प्रभु शक्तिः ॥
(अर्थशास्त्र, अधि० ६, अ० २)

(१) राष्ट्र--राष्ट्र राज्य का मूल आधार है, क्योंकि राज्य की सब प्रकृतियों में सबसे पहले राष्ट्र ही उत्पन्न हुआ था (जिस भूभाग पर पशु, अन्न, सोना आदि सम्पदा शोभायमान हो, उसका नाम राष्ट्र है) । इसके पश्चात् बल की उत्पत्ति हुई । अथर्ववेद में बताया गया है कि कल्याण की कामना करते हुए ऋषियों ने दीक्षा स्वीकार की और तप किया, जिसमें राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुए । राष्ट्र अनेक प्रकार के होते हैं, कोई छोटे, कोई बड़े और कोई बहुत बड़े । छोटे राष्ट्र एक नगर के होते हैं, जैसे प्राचीन काल में यूनान में थे । प्राचीन भारत में बहुत से छोटे बड़े राज्य थे । बहुत बड़े राज्य का उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी का ब्रिटिश साम्राज्य है । छोटे राष्ट्रों की सीमा किसी नदी, पर्वत, वृक्ष से निर्धारित होती थी व बड़े राष्ट्रों की काल्पनिक होती थी अथवा समझौते द्वारा निश्चित् की जाती थी । वर्तमान काल में वह देश या भूभाग एक राष्ट्र समझा जाता है जिसमें एकसी राज्य व्यवस्था प्रचलित हो । एक धर्म जाति और भाषा राष्ट्र की एकता के लक्षण माने जाते है । परन्तु इनके अभाव से राष्ट्रीयता की हानि नहीं होती है । अमरीका के संयुक्त राज्य में अनेक जातियों और धर्म सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं और फिर भी संयुक्त राज्य एक राष्ट्र है । स्विटजरलैंड में तीन भाषाएँ बोली जाती है और उनमें राज-काज होता है परन्तु वह एक राष्ट्र है । उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों ट्यूटन जाति के होने पर भी दो स्वतन्त्र राष्ट्र थे । इसी प्रकार भारत और नैपाल के धर्म, संस्कृति और जाति एक हैं परन्तु राष्ट्र दो हैं ।

(२) दंड—जिस उपाय से मनुष्य असदाचार से निवृत्त और सदाचार में प्रवृत्त किया जाता है, उसे दंड कहते हैं और जिससे जन्तु का दमन किया जाता है इस उपाय को भी दंड ही कहते हैं । दंड दो प्रकार का है । एक किसी पूर्व-कृत अपराध के लिये शान्ति देता है, दूसरा भविष्य में कोई अपराध होने की रोक करता है । महाभारत में दंड के दो रूप बताये हैं एक भीतरी और दूसरा बाहरी । भीतरी रूप यह है कि दण्ड परमेश्वर है और अग्नि के समान उसका रूप है अर्थात् दुष्ट को सन्तप्त करने के लिये क्रूरता में अग्नि के सदृश है । बाहरी रूप यह है कि नील कमल के समान वह श्याम है । उसकी चार दाढ़ें, चार भुजाएँ, आठ पैर, अनेक नेत्र, सशंक कान और खड़े रोम हैं, वह जटाधारी और दो जीभों वाला है; उसका चेहरा ताँबे का सा है और वह वाघम्बर पहने है । नीलकंठ ने इस बाहरी रूप का अर्थ इस प्रकार समझाया है कि चार दाढ़ों का अर्थ चार प्रकार का दंड अपमान, जुर्माना, शारीरिक

दंड और प्राण-दंड हैं । चार भुजाओं का अर्थ चार प्रकार से धन ग्रहण है, यथा प्रजा और सामन्तों से कर लेना, अर्थी की भाषा (बयान); दिव्य से दूना अर्थ दान, जमानत, प्रत्यर्थी से भाषा के द्रव्य के बराबर दिव्य दान और सम्पत्तिहरण। आठ पैरों से मामले की आठ सीढ़ियों से प्रयोजन है; जैसे, अर्थी या वादी का आवेदन (अर्जीदावा); भाषा (प्रत्यर्थी के सामने अर्थी का (बयान), सम्प्रतिपत्ति (प्रत्यर्थी का ऋण लेना स्वीकार करना), मिथ्योत्तर (जवाब दावा कि दावा झूठा है), कारणोत्तर (जवाब दावा कि ऋण लिया था पर चुका दिया), प्राङ्न्यायोत्तर (जवाब दावा कि यही मामला खारिज हो चुका है), प्रतिभूः क्रिया (अर्थी या प्रत्यर्थी के जामिनों का यह कहकर रुपया देना कि इस मामले में हम हार गये) और फल सिद्धि या निर्णय । अनेक नयनों का अर्थ राजा, मंत्री, पुरोहित, पार्षद आदि है । शंकुकर्ण का अर्थ तीक्ष्ण कान हैं, अर्थात् उसे अवश्य ही सुनाई देगा । खड़े रोम का अभिप्राय सर्वदा उत्साहपूर्ण रहना है । जटाधारी का अर्थ मामले के पेच हैं । दो जीभों का कारण अर्थी-प्रत्यर्थी के वचनों का वैषम्य है तथा ताम्रास्य का अर्थ है अग्नि के समान चेहरा तथा बाघम्बर पहने हुए है अर्थात् बाघ की भांति भयप्रद है । इस वर्णन के पश्चात् भीष्म ने बताया है कि दंड ही भगवान् विष्णु तथा दण्ड ही नारायण और प्रभु है और नियत महत्‌रूप धरने के कारण वह महापुरुष कहाता है । शुक्रनीतिसार के अनुसार निर्भर्त्सन (झिड़कना), द्रव्य हरण, नाशन, बन्धन, ताड़न, निर्वासन, उल्टी हजामत बनवा देना, असत्यान (गधे पर सवार कर घुमाना), अङ्ग काटना, बध करना, अंकन (दागना) और युद्ध-दण्ड के भेद हैं ।

मनुस्मृति के अनुसार राजा की सहायता के लिये परमेश्वर ने पहिले ही अर्थात् राजा के जन्म के पहिले ही अपनी आत्मा से ब्रह्मतेजोमय धर्म या दण्ड को उत्पन्न किया, जिस पर सब कुछ अवलम्बित हैं । इसी दण्ड के भय से चराचर प्राणिमात्र अपने धर्म से नहीं डिगते । कौटिल्य का कहना है कि पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है वही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है * । दण्ड के द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने अपने धर्म कर्म से ठीक रख कर

---

* दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति ।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः ॥
अर्थ० अधि० ३ अ० १

उचित मार्ग से चलाता है * । कौटिल्य ने दंड के तीन भेद करके उनके फल भी बताये हैं। एक, नीति शास्त्र के ज्ञाता का दिया हुआ दण्ड है जिसका फल प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में लगाता है। दूसरा काम, क्रोध और अज्ञान से दिया हुआ दण्ड है जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है। तीसरा जहां दण्ड देना चाहिए, वहां न देना है। इसका फल मात्स्यन्याय है; दण्डधर के अभाव में सबल निर्बल को खाते हैं। जब दण्ड द्वारा सबल से निर्बल की रक्षा की जाती है तो वह भी सबल हो जाता है।

अब तक जो बताया गया है उससे दण्ड के तीन रूप सिद्ध होते हैं। एक केवल दंड, दूसरा बल, और तीसरा व्यवहार। बल का प्रयोग कामन्दक ने दण्ड अर्थ में किया है। महाभारत के अनुसार दण्ड का ही नाम धर्म और व्यवहार है। अतः दण्ड के तीन अर्थ हुए—१-बल व सेना, २-व्यवहार व धर्म व्यवस्था और ३-दुष्टों का नियंत्रण, निग्रह वा दमन।

बल दो प्रकार का होता है—एक स्वराष्ट्र में प्रजा की त्रुटियों वा अपराधों के लिये दण्ड देने की शक्ति और दूसरा परराष्ट्र से युद्ध करने का—बल वा सेना। सैन्यबल के दो रूप है—एक चतुरंग बल और दूसरा अष्टांग बल। गज, रथ, अश्व और पैदल चतुरंग बल है और इसके सहित नाव, विष्टि, दैशिक और चर मिलकर अष्टांग बल होते हैं। नाव का अर्थ नावों के बेड़े का है जिसे आजकल नौबल कहते है। दैशिक योद्धाओं के शौर्य को उत्तेजन और उन्हें कर्तव्य पालन का उपदेश देते हैं। विष्टि माल ढोने वाले होते हैं। चर भेदिये होते हैं।

(३) **राजा**—'राजा' शब्द का अर्थ है प्रजा का रंजन करने वाला', राज्य व्यवस्था को भली प्रकार चलाने के लिये प्रजा जिसको अपना नेता निर्वाचित करती है वही राजा है। पहिले राजा न था। पीछे लोगों ने अपनी कठिनाइयां दूर करने के लिये अपने ही में से एक आदमी को अपनी शक्ति देकर राजा बना दिया। अथर्ववेद में लिखा है कि आरम्भ में यह राष्ट्र विराट् (राजा से रहित) था। उसे देकर लोग भयभीत हुए कि क्या ऐसा ही रहेगा। †

---

* चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दंडेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्त्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥ अर्थ०, अधि० १ अ० ४

† विराड् व इदमग्र आसीत।
स्तया जातायाः सर्वमबिभेदेयमेवेदं भविष्यति ॥ १ सू० १० कांड ८ ॥

ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि जब असुरों और देवताओं के युद्ध में देवता हार गये, तब इन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा न होने से हम हार जाते हैं, आओ हम सब मिलकर एक राजा निर्वाचित करें। सबने इस बात को स्वीकार किया और सोम को राजा बनाया। मनुस्मृति में अराजक अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि इस अराजक देश में सब लोग भय से चारों ओर भागने लगे, तब इसकी रक्षा के लिये परमेश्वर ने इन्द्र, वायु, यम सूर्य, अग्नि वरुण, चंद्र और कुबेर के अंश लेकर राजा की सृष्टि की। महाभारत में जब युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि सब मनुष्यों के हाथ, पैर, नाक, कान, गर्दन, भुजाएँ और बुद्धि होती है और सभी समान भाव से सुख दुःख भोगते हैं, तब उस एक मनुष्य में ऐसी क्या विशेषता होती है जो औरों पर शासन करता है ? भीष्म ने उत्तर दिया कि हे नरशार्दूल ! सुनो, जिस प्रकार सत्युग में राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था न राजा था, न दंड था न दंड देने वाला, धर्म से ही सब प्रजा एक दूसरे की रक्षा करती थी।

महाभारत के शान्तिपर्व के ५९ वें अध्याय में लिखा है कि धर्म से परस्पर की रक्षा करते जब लोग थक गये और मोह में फंस गये तो पहले ज्ञान फिर धर्म ने उनका साथ छोड़ दिया। मोह के कारण वे लोभी, विषयाभिलाषी और कामी हो गये। विषयानुरक्त होने के कारण उन्हे कर्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान न रहा। अगम्यागमन और भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान न रहने से यज्ञ और वेद लुप्त हो गये। देवताओं को यज्ञ का भाग न मिलने से उन्हों ने ब्रह्मा से पुकार मचाई। ब्रह्मा ने उन्हें आश्वासन देकर एक लाख अध्याय का नीतिशास्त्र बना दिया जिसमें धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का वर्णन किया। इसके पश्चात् देवता प्रजापति विष्णु के पास गये और बोले कि मनुष्यों में कौन एक मनुष्य श्रेष्ठ होगा यह बतलाये। विष्णु ने बिरजा नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया। राजा के निर्वाचन के विषय में एक और आख्यायिका शान्तिपर्व के ६७ वें अध्याय में है। इसमें भी युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने सुना हुआ इतिहास बताया। वे कहते हैं कि अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट हुई थी. जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। इस प्रकार लोगों का नाश होने लगा तब सबने मिलकर निश्चय किया हम लोगों में जो कटुभाषी, उद्दंड, परस्त्रीगामी और परधनहारी होगा, वह त्याज्य या बहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार सब वर्णों में विश्वास स्थापन करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न रहने से हमारा

दुःख बढ़ रहा है, इसलिये आप हमें राजा दीजिये, जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करें। इस पर उन्होंने मनु को आज्ञा दी और सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूं और राज्य-कार्य बड़ा कठिन है, विशेषकर मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं। भीष्म बोले, अनन्तर प्रजा ने उनसे कहा कि आप न डरिये। पापाचरण करने वाला ही उसका फल भोगेगा। हम लोग आपकी कोश वृद्धि के लिये आपको अपने पशुओं और सुवर्ण का पचासवाँ भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे। जिस कन्या का सबसे अधिक कौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरी के साथ आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनों पर चढ़े हुए शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुवेर यक्षों की रक्षा करते हैं वैसे ही बली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें। राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी, उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप सूर्य की भांति शत्रु को तपाते हुए विजय के निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओं का अभिमान नष्ट कीजिये, आपकी सदा जय हो।

पृथु और वैवस्वत मनु को प्रजा ने ही राजा बनाया था। अथर्ववेद में भी राजा बनाने वालों का उल्लेख है। एक मंत्र में कहा गया है कि 'हे पर्ण, राजाओं, राजकर्ताओं, सूतों और ग्रामीणियों वा ग्राम के मुखियों तथा सब लोगों को तू मेरे अनुकूल कर।' रामायण में भी 'राजकर्तारः' पद आया है, जिसका अर्थ है 'राजा बनाने वाले'। अथर्ववेद के समय से लेकर रामायण की रचना के समय तक लोगों के मन पर यह अंकित था कि राजा बनाये जाते हैं और उनके बनाने वाले मनुष्य ही होते हैं।

दक्षिण भारत में केरल देश ‡ की उत्पत्ति के विषय में 'केरलोत्पत्ति' नाम का एक ग्रन्थ मिला है जो मलायलम भाषा में है। दूसरा ग्रन्थ है 'केरल महात्म्य' यह एक प्रकार की संस्कृत भाषा में है। केरलोत्पत्ति के अनुसार परशुरामजी ने यह देश उत्पन्न करके ६४ ग्रामों के ब्राह्मणों को भरण पोषण के लिये दान कर दिया था। इनमें चार ग्रामों के ब्राह्मणों को उन्होंने ६४ ग्रामों का प्रतिनिधित्व दिया। ये ब्राह्मण शस्त्रधारी थे और क्षत्रियों और ब्राह्मणों

‡ प्राचीन केरल में वर्त्तमान मलाबार के अतिरिक्त कोचीन और ट्रावनकोर राज्य के भाग भी थे। ये अब भी अपने को केरल का अंश समझते हैं।

दोनों के कर्म करते थे। केरल की कर्म भूमि पर इस प्रकार के प्रतिनिधित्व से राजकाज चलने में जब कलह मची और अन्याय हुआ तब सब ग्रामों के ब्राह्मणों ने एकत्र होकर यह निश्चय किया कि प्रति चार ग्राम मिलकर एक संरक्षक अधिकारी चुनें और उस अधिकारी तथा उसके नीचे काम करने वाले अधिकारियों के खर्च के लिये उन चार ग्रामों की उपज का छठा भाग दिया जाय। परन्तु कालान्तर में ये अधिकारी जब अत्याचार करने लगे तब ब्राह्मणों ने फिर सभा की और उन चार ग्रामों के लोगों को राजा चुनने के लिये कहा। इसके अनुसार उन्होंने केयपेरुमाल नामक एक पहाड़ी राजा चुना। इन बातों से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में राजा चुना जाता था।

(४) **कोष**—शुक्र का कथन है कि आपत्ति काल में और विशेष कर संकट काल में जो राजा की सेना बढ़ाता है उसे कोष कहते हैं। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ हुई है, क्योंकि प्रजा ने पशुओं और सुवर्ण का पचासवां, पुण्य का दसवां और धान्य का षष्ठांश वैवस्वत मनु को देने की प्रतिज्ञा की थी। धनधान्य सुवर्ण रत्नादि के भण्डार को कोष कहते हैं। प्रजा के कृषि गोरक्षा और वाणिज्य में तो राजा का भाग था ही, परन्तु राजा अन्य राजाओं पर चढ़ाई करके उन्हें करद बना लेता था और इस प्रकार आय का एक और मार्ग निकल आता था। राजा आजकल की भाँति नक़द रुपया नहीं लेता था। धान्य का भाग धान्य में, पशुओं का पशुओं में, हिरण्य का हिरण्य में और रत्नादि का रत्नादि में लिया करता था। कोष की बड़ी महिमा है। कोष राजाओं का जीवन है। कोष है तो राजा को सेना सेवक आदि सब कुछ सुलभ हैं। कोष वही अच्छा है जो विपत्ति के आने पर व्यय किया जा सके और जो हिरण्यादि संयुक्त हो। सोमदेव सूरि ने कोष की व्याख्या इस प्रकार की है—जिसमें सोना चांदी बहुत हो और व्यवहारिक नाणकों वा प्रचलित सिक्कों की बहुतायत हो और जो आपत्काल में बहुत व्यय करने में समर्थ हो, वह कोष उत्तम होता है। वशिष्ठ का कथन है कि सब आय को व्यय नहीं कर देना चाहिए। कोष में कुछ अवश्य डालना चाहिए क्योंकि आपत्काल में वह राज्यरक्षक होता है। राजा को क्षीणकोष कभी न रहना चाहिए। उसे सदैव भरने का प्रयत्न करना चाहिए।

(५) **दुर्ग**—दुर्ग वह स्थान है जो शत्रु के लिये दुर्गम हो। शुक्राचार्य का कहना है कि जिसको प्राप्त करने में शत्रुओं को दुःख उठाना पड़े और जो आपत्काल में राजा की रक्षा करे, वही दुर्ग है। प्रत्येक राष्ट्र में एक मुख्य स्थान होता है जहाँ राजा और राज्य की व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले

अधिकारी रहते हैं। कहीं इस स्थान की रचना दुर्ग के समान होती है और कहीं नगर के समान। कहीं नगर में दुर्ग होता है, कहीं दुर्ग में नगर होता है। ऋग्वेद में आयसीपुरः' अर्थात् लौहनिर्मितपुर की चर्चा है। शास्त्रकारों ने दुर्ग को बड़ा महत्व दिया है। वे कहते हैं कि राजा उसके बिना [illegible] के लिये गम्य हो जाता है, जैसे विष की दाढ़ के बिना सर्प और मद के बिना हाथी। दुर्ग हीन राजा सहज में ही शत्रु के वश में हो जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को दुर्ग संपन्नपुर के विषय में यह उपदेश दिया है कि उसके दृढ़ आकार और खाई हों, उसमें धान्य और आयुध हों तथा हाथी, घोड़े और रथ बहुत हों। दुर्ग के छः भेद बताये गये हैं—धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग मनुष्यदुर्ग, मृदुर्ग और वनदुर्ग। कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्ग माने हैं—औदक, पर्वत, धान्वन और वनदुर्ग। चारों ओर नदियों और झीलों से घिरा हुआ अथवा टापू औदकदुर्ग है। बड़े बड़े पहाड़ी टीलों से घिरा हुआ अथवा प्राकृतिक गुफाओं के रूप में पार्वतदुर्ग होता है। ऊसर या मरुभूमि में जो दुर्ग होता है उसे धान्वनदुर्ग कहते हैं और चारों ओर दलदल या कांटेदार झाड़ियों से घिरा हुआ वनदुर्ग होता है। मानसार के मतानुसार आठ प्रकार के दुर्ग होते हैं शिविर, वाहिनीमुख, स्थानीय, द्रोणाक, संसिद्ध, कोलक, निगम और स्कन्धावार। शिविर पड़ाव हैं जहाँ पर कुछ समय के लिये राजा सेना सहित जाकर रहता है। वाहिनीमुख उस सैन्यसमूह को कहते हैं जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ; २४३ घोड़े और ४०६ पैदल होते हैं। स्थानीय जनपद का मुख्य स्थान व नगर है। द्रोड़क ग्राम का गढ़ होता है। संसिद्धि, कोलक और निगम सैन्यदल के ही भेद हैं। स्कन्धावार उसे कहते हैं जहाँ सेना रक्खी जाती है। ये छावनी है।

(६) **मन्त्री**—अमात्य राज्य-व्यवस्था ठीक रखने में राजा को सहायता देता है। मनुस्मृति में लिखा है कि राज्य-कार्य का निर्वाह बिना मन्त्रियों के नहीं हो सकता। कौटिल्य ने कहा है कि जैसे एक पहिये का रथ निकम्मा रहता है वैसे ही राजत्व भी सहाय साध्य है। अतः राजा सचिव नियुक्त करे और उनका मत सुने। मनु के अनुयायी कहते हैं कि मन्त्रिपरिषद में १२ मन्त्री होने चाहिये। वृहस्पति के अनुयायी १६ और शुक्र के २० बतलाते हैं। कौटिल्य का मत है कि जितने मन्त्रियों की आवश्यकता हो उतने रखने चाहिए। मन्त्री राज्य की प्रकृति है। शुक्रनीति सार में उसे राजा की प्रकृति भी कहा गया है। अतः मन्त्री के दो रूप हैं—एक तो राज्यांग होने के कारण राज्य के कार्यों को चलाता है इसलिये राज्य की प्रकृति कहा गया है, और दूसरे

राजा के उत्तरदायित्व को हलका करने और उसे परामर्श देने के कारण राजा की प्रकृति बताया गया है।

(७) **मित्र वा शत्रु**---सुहृत् वा मित्र वह राजा या राष्ट्र कहलाता है जो दूसरे राजा या राष्ट्र के सुख दुःख में सहायता करे। जैमिनि का मत है कि जो सुख-दुःख में स्नेह करे वह मित्र और इसके विपरीत आचरण करने वाला शत्रु है। महाभारत में भीष्म ने चार प्रकार के मित्र बताये हैं—सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम। जब किसी का राज्य आपस में बाँटने के लिये दो राजा मित्र बन जाते हैं तो सहार्थ अर्थात् समान स्वार्थ वाले मित्र कहाते हैं। पीढी दर-पीढी के मित्र भजमान, नातेदार सहज मित्र और धनादि के लोभ से बने हुए मित्र कृत्रिम होते हैं। महाभारत में जो चार प्रकार के मित्र बताये गये हैं उनमें भजमान और सहज श्रेष्ठ हैं। भीष्म ने कहा है कि मित्रों की रक्षा के काम में राजा कभी असावधानी न करे, क्योंकि प्रमादी राजा का लोग पराभव करते हैं। मनुष्य का मन स्वभाव से ही चंचल होता है। कभी अच्छा बुरा और कभी बुरा अच्छा हो जाता है, अतः किसी का पूर्ण विश्वास न करे और आवश्यक कार्य स्वयं करे।

शुक्र नीति के अनुसार शत्रु वह है जो अपने इष्ट की हानि करे। कामन्दक का मत है कि जिस पदार्थ को लेने की अपनी इच्छा हो और वही पदार्थ दूसरा लेना चाहे, तो वह पुरुष शत्रु कहाता है और जिस शत्रु में विजयाकांक्षी के गुण हों उसे दारुण शत्रु समझना चाहिए। जिसकी सहायता से स्वार्थ सिद्ध होता है वह मित्र और जिससे उसमें बाधा पड़ती है वह शत्रु है।

यूरोप के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता ब्लंश्ली ने राज्य के निम्नलिखित सात तत्त्व माने हैं—(१) जनसंख्या; (२) स्थान; (३) संगठन; (४) शासक शासित में भेद; (५) जीवन; (६) सदाचार के सिद्धान्त; (७) नर-गुण प्रधानता।

(१) **जन-संख्या**—वर्त्तमान काल में राज्य की जन-संख्या बहुत बड़ी होती है। प्राचीन काल में यूनान में छोटे-छोटे नगर होते थे। जन-संख्या अधिक नहीं होती थी। राज्य के सब नागरिक शासन-कार्य में भाग लेते थे। रूसो (Rousseau) ने राज्य की अल्प से अल्प जनसंख्या दसहज़ार प्रकट की है। प्रसिद्ध व्यष्टि-वादी वर्ड्ज़बर्थ डानिस्थ्रोप (Wordsworth Donisthrope) कहता है कि "मैं साहस के साथ कहता हूँ कि प्राथमिक राज्य में एकमात्र माता तथा उसके बाल ही सम्मिलित थे।" प्राचीनकाल की दशा और

वर्तमानकाल की दशा में बड़ा अन्तर है। आधुनिक काल के आविष्कारों, शीघ्र यातायात के साधन, रेडियो, टेलीग्राफ़, टेलीफोन तथा उद्योग-व्यवसाय के धन्धों की उन्नति के कारण बहुत बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हो गई है और जनसंख्या बहुत बढ़ गई है। बिना मनुष्यों के राज्य संभव नहीं है, अतः राज्य के लिये जनसंख्या आवश्यक समझी गई है।

(२) **स्थान**—मनुष्यों के रहने के लिये एक निश्चित स्थान का होना आवश्यक है। भ्रमणशील जातियाँ उस समय तक राज्य के रूप में नहीं आ सकतीं जब तक वे एक स्थान पर स्थायी रूप से स्थापित न हो जायँ। प्राचीन काल में राज्य के लिये निश्चित भूमि आवश्यक थी। आधुनिक काल में जल और आकाश दोनों राज्य की सीमा में आते हैं। वायुयानों के आविष्कार ने आकाश को भी राज्य की सीमा के अन्दर कर दिया है।

(३) **संगठन**—संगठन का राज्य में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। एक राज्य में भिन्न-भिन्न जाति और भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी रह सकते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के लोग भी एक राज्य में रह सकते हैं। इतने प्रकार की विभिन्नता होने पर भी वे एक राजनैतिक सूत्र में संगठित हो सकते हैं अतः राज्य के लिये संगठन भी एक आवश्यक अंग समझा गया है।

(४) **शासक और शासितों में भेद**—प्रत्येक राज्य में शासक और शासितों का भेद भी आवश्यक है। राज्य के सब मनुष्य एक साथ शासन नहीं कर सकते। वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करते हैं। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि जिनके हाथ में शासन की बागडोर है उनकी आज्ञा का पालन करे। यदि ऐसा न होगा तो अराजकता फैल जायगी और राज्य में शान्ति स्थापित न रह सकेगी। जिस राज्य में यह भेद-भाव लुप्त हो जाय और प्रत्येक मनुष्य उच्छृङ्खल विचरने लगे तो राज्य की प्रतिभा छिन्न-भिन्न हो जायगी। समष्टिवादियों में कम्यूनिस्ट लोग राज्य के इस स्वरूप के विरुद्ध हैं। सामाजिक बन्धनों द्वारा ही वे सम्पूर्ण कार्य चलाना चाहते हैं उनके विचारों की असत्यता इसी से स्पष्ट है कि वे अपने विचारों के अनुसार अभी तक किसी समाज के निर्माण में समर्थ नहीं हो सके हैं। बिना शासक-शासितों के भेद के कोई राज्य स्थिर नहीं रह सकता और न कोई कार्य सफलतापूर्वक हो सकता है।

जुलता है। राज्य एक जीवित वस्तु है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के भिन्न-भिन्न अंग होते हैं उसी प्रकार राज्य के भी भिन्न भिन्न अंग होते हैं। राज्य-संगठन, नियम, न्यायालय, सेना, उपसेना तथा अन्य संस्थाएँ सब राज्य के अंग हैं। राज्य का भी शैशव काल, यौवनावस्था तथा वृद्ध काल होता है। जिस प्रकार राज्य का जन्म होता है उसी प्रकार राज्य की मृत्यु (अन्त) भी होती है। जिस प्रकार जीवन की दीर्घता तथा न्यूनता उसके शरीर की स्वस्थता तथा अंगों के ठीक-ठीक कार्य करने पर निर्भर है उसी प्रकार राज्य की भी दशा है। यदि राज्य का प्रत्येक अंग (विभाग) ठीक-ठीक कार्य करता रहेगा तो राज्य दीर्घकाल तक चलेगा अन्यथा नष्ट हो जायगा।

(६) **सदाचार सिद्धान्त**—ऊपर बताया गया है कि राज्य एक जीवित वस्तु है। राज्य पशु-पक्षी के समान जीवित वस्तु नहीं है। राज्य मनुष्य के समान एक जीवित वस्तु है। राज्य मनुष्यों का संगठन है। राज्य में सदाचार के वही सिद्धान्त कार्य करते हैं जो एक मनुष्य के जीवन में करते हैं। राज्य समाज के अनुभवों तथा विचारों को नियम द्वारा कार्य में लाता है। शासन का उद्देश्य यह है कि राज्य अपनी इच्छाओं को सफलतापूर्वक काम में ला सके। वैयक्तिक इच्छाओं की अपेक्षा राज्य की इच्छाएँ उच्च समझी जाती हैं। राज्य एक उत्कृष्ट शरीर है। यदि राज्य के अंग अपने उचित आचरणों से गिर जायँगे तो अवश्यमेव राज्य नष्ट हो जायगा।

(७) **नर-गुण प्रधान**—मानव समाज में नर-नारी का भेद है। राज्य का स्वरूप नरगुण प्रधान माना गया है। धार्मिक संस्थाओं के हाथ में शासन आ जाने से राज्य में कोमलता आ जाती है। दयाभाव अधिक हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अनर्थ और अत्याचार बढ़ने पर कठोर दंड नहीं दिये जाते और इस प्रकार राज्य नाश को प्राप्त होता है। अतः ब्लंश्ली के अनुसार राज्य में नरगुण की प्रधानता की आवश्यकता है। उसमें कठोरता, धैर्य और सहिष्णुता का होना आवश्यक है। ब्लंश्ली के मतानुसार राज्य के ये तत्त्व उचित प्रतीत होते हैं परन्तु आधुनिक राजशास्त्रवेत्ताओं ने राज्य के तत्त्व केवल चार ही माने हैं। इनके मतानुसार अन्य सब तत्त्व इन्हीं चार तत्वों के अन्तर्गत हैं। ये चार तत्व हैं—(१) जनसंख्या; (२) राज्य भूमि; (३) प्रभुता अथवा सर्वोच्च सत्ता; और (४) शासन।

आधुनिक काल के राजशास्त्रवेत्ताओं में से गार्नर (Garner) ऐसे हैं जिनकी 'राज्य' की परिभाषा अत्यन्त संतोषजनक प्रतीत होती है। गार्नर के मतानुसार "पर्याप्त संख्या में एक मानव समुदाय, स्थायी रूप से किसी

निश्चित भू-भाग पर निवास करता हो, जो बाहरी शक्ति के दबाव से स्वतंत्र हो, उस (मानव समुदाय) में सुसंगठित शासन हो और (उस राज्य के) निवासियों की बहुत बड़ी संख्या स्वभावतया उस शासन की आज्ञा पालन करती हो" † यह राज्य की परिभाषा है। इस परिभाषा के विश्लेषण करने पर ऊपर वर्णन किये गये चार तत्व स्पष्ट हैं जिनका उल्लेख एक-एक करके नीचे किया जाता है—

(१) **जन संख्या**—राज्य एक मानव समुदाय (संस्था) है। अतः राज्य में जनसंख्या का होना आवश्यक है। प्लैटो, अरस्तू, रूसो आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने राज्य के लिये जनसंख्याएँ निश्चित की हैं। प्लैटो ने अपनी पुस्तक 'लाज़' (Laws) में एक आदर्श राज्य के लिये ५०४० जन-संख्या निश्चित की है। अरस्तू के मतानुसार १००००० जनसंख्या अत्यधिक है। अरस्तू ने लिखा है कि किसी राज्य के सुसंगठन के लिये यह आवश्यक है कि उसमें लोकसंख्या और भूविस्तार की कुछ सीमा होनी चाहिए। जन-संख्या न तो अत्यधिक होनी चाहिये न अति न्यून। वह इतनी होनी चाहिये कि जिससे वह स्वतः परिपूर्ण होकर अच्छी तरह शासित हो सके। रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि राज्य के अस्तित्व के लिये जनसंख्या की कोई सीमा निर्धारित न होकर भूमि विस्तार और जनसंख्या में एक अनुपात होना चाहिये। अरस्तू का कथन है कि राज्य की माप दो बातों से की जा सकती है। एक भूमिविस्तार से, दूसरी उसकी जनसंख्या से। इन दो मापों के बीच जो संबंध है उसी से किसी राज्य का वास्तविक विस्तार (Dimension) समझना चाहिये। भूमिविस्तार ऐसा हो कि उसके निवासियों को भोजन वस्त्र का कष्ट न हो। वे अपने जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करने के लिये साधन पैदा कर सकें। अरस्तू ने यह भी कहा है कि जनसंख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही वैयक्तिक स्वाधीनता कम होगी। उसने उदाहरण देकर बताया है कि यदि किसी राज्य में १०००० नागरिक हैं तो प्रत्येक नागरिक का राज्य

---

† State is a Community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite Portion of territory, independently or nearly so of external control and Possessing an organised government to which the great body of inhabitants render habitual obedience." (Garner)

सत्ता में १००००० वाँ भाग रहेगा और इसी प्रकार अंतर बढ़ता जायगा। अतः राज्य में जनसंख्या इतनी होनी चाहिये जिससे शासनकार्य में बाधा न पड़े।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्राचीन काल में यूनान में नगर-राज्य थे जिनमें प्रत्येक नागरिक शासन कार्य में भाग लेता था। यूनान के नगर-राज्यों में दो प्रकार के लोग थे—एक नागरिक, दूसरे प्रजाजन। नागरिक वे लोग थे जो शासन कार्यों में भाग लेते थे। सब नागरिक मिलकर राज्य के लिये विधान बनाते थे, न्याय के लिये एकत्रित होते थे, तथा राज्य-कर्मचारियों के अपराधों पर उनके विरुद्ध पंचायत करके उन्हें उचित दंड देते थे। दूसरे वे प्रजाजन थे जिनको राज्य में सब अधिकार प्राप्त थे, अर्थात् राज्य के न्यायालयों में अपने मुक़द्दमे ले जा सकते थे, राज्य में व्यापार तथा अन्य व्यवसाय कर सकते थे, परन्तु वे राज्य के शासन-प्रबन्ध में कोई भाग नहीं ले सकते थे। ऐसे लोग अधिकतर विदेशी व्यापारी होते थे। यूनान में दासों को किसी प्रकार के राजनैतिक नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे।

वर्तमान समय में भी राज्यों में दो प्रकार के लोग होते हैं—नागरिक और प्रजाजन। नागरिक वे हैं जिन्हें वोट देने का और निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त है। प्रजाजन वे हैं जिन्हें निर्वाचित होने अथवा निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है; इनमें वे विदेशी सम्मिलित हैं जिन्होंने राज्य की नागरिकता प्राप्त न की हो अथवा केवल व्यापार आदि के लिये राज्य में निवास करते हों तथा वे लोग जो किसी दण्ड न्यायालय से किसी अपराध पर दंड पा चुके हों अथवा विक्षिप्त हों।

(२) **राज्यभूमि**—भूमि राज्य का एक आवश्यक अंग है। ब्लंश्ली का कथन है कि जिस प्रकार राज्य का वैयक्तिक आधार उसमें बसनेवाले लोगों पर है उसी प्रकार उसका नैसर्गिक आधार उस भूमि पर है जिसमें वे लोग निवास करते हैं, जो उस राज्य के प्रजागण हैं। जब तक मनुष्यों का समुदाय किसी निश्चित् भूमि को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह राज्य की स्थापना नहीं कर सकता। जिन मनुष्यों का एक स्थान पर निवास नहीं है, जो लोग घूमने फिरने वाले हैं, उनका कोई निश्चित राज्य नहीं हो सकता। राज्य के लिये निश्चित जनसंख्या की भाँति निश्चित भूमि भी आवश्यक है। इन दो चीज़ों के बिना राज्य का अस्तित्व असम्भव है।

राज्य-भूमि में केवल भूमि ही नहीं होती। उस भूमि की सरिताएँ,

तालाब, नहरें, झीलें आदि सब वस्तुएँ उस राज्य-भूमि के भाग हैं। राज्य की सीमा के भीतर भूमि, भूमि के ऊपर का वायुमंडल भी सम्मिलित है। यदि इस भूमि से मिला हुआ कोई समुद्र है तो उस समुद्र का भूमि से १२ मील की दूरी तक का भाग भी उस राज्य में सम्मिलित है (पहले केवल तीन मील की दूरी का समुद्र ही सम्मिलित था। तीन मील की दूरी इसलिये रक्खी गई थी कि पहले तोप और बन्दूक की मार केवल तीन मील तक की होती थी। अब इनकी मार बहुत लम्बी हो गई है अतः यह दूरी अब अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार १२ मील तक मान ली गई है।)

प्रोफ़ेसर ईलियट (Elliott) के मतानुसार "वर्तमान राज्य-जीवन का मूल-सिद्धान्त प्रदेश प्रभुता अथवा राज्य सीमा के भीतर राज्य का सब पर प्रभुत्व तथा बाह्य दबाव से बचाव है।"* संघ राज्य में एक ही राज्य पर दो विधानों का अधिकार होता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि संघ राज्य कोई दूसरा राज्य है। वास्तव में सदस्य-राज्य संघ का एक भाग है। विधान के अनुसार केवल उन्हीं विषयों में संघराज्य के विधान सदस्य राज्य पर लागू हो सकते हैं जहाँ सदस्य राज्य का सम्बन्ध संघ राज्य से लिखित विधान द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

प्राचीन हिन्दू राज्यशास्त्रवेत्ताओं ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राज्य का भूमि पर वैयक्तिक सम्पत्ति जैसा अधिकार नहीं है, केवल साधारण अधिकार है। महाभारत से हमको पता चलता है कि उस समय राज्य को भूमि-कर धान्य के रूप में दिया जाता था। परन्तु भूमि पर ग्राम वालों का ही स्वामित्व रहता था। ग्रामों की सीमायें निश्चित् रहती थीं। ग्रामों की सम्पूर्ण उपजाऊ भूमि पर ग्रामीणों का अधिकार रहता था। लोग अपने भाग की भूमि का स्वतन्त्रतापूर्वक क्रय-विक्रय कर सकते थे। भूमि का उस समय भी मूल्य था। भूमिदान करने में बड़ा पुण्य समझा जाता था।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता टाड ने अपने ग्रन्थ "राजस्थान" में मेवाड़ का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि वहाँ कृषक भूमि का स्वामी

---

† "Territorial sovereignty or the superiority of the State over all within its boundaries and complete freedom from external control,has been a fundamentle principai of the modern state life" Elliott.

समझा जाता था। मनु के इस सिद्धान्त के अनुसार कि "स्थाणुच्छेदस्य केदारम्" (अर्थात् भूमि का स्वामी वही है, जो बन काट कर तैयार करता है) कृषक को वहां भूमि का स्वामी माना जाता था। राजपूताने में अब भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि "भोमरा धनी राज हो; भोमरा धनी म्हां छां" (अर्थात् राजा कर का अधिकारी हैं; हम भूमि के स्वामी हैं)।

मुस्लिम धर्म के अनुसार भी भूमि की स्वामिनी प्रजा है। कर्नल ब्रिग्सकेनेडी का कथन है कि प्रायः सभी मुस्लिम कानून-विशारदों का भी यही मत है। सन् १६६८ ई० में औरंगजेब ने एक घोषणापत्र द्वारा भूमि पर प्रजा का स्वामित्व स्वीकार किया था। सन् १७७५ ई० में ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने कलकत्ते की कोठी के पास ३८ ग्रामों की ताल्लुकेदारी मोल लेने के लिये तत्कालीन बादशाह के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था। इस पर बादशाह ने उत्तर दिया था कि लोगों से मोल लेलो, मेरा भूमि पर वैयक्तिक अधिकार नहीं है। मध्यकालीन यूरोप में भूमि का स्वामी राजा समझा जाता था परन्तु वर्तमान काल में ऐसा नहीं है। आधुनिक राज्य अपने अधिकार की भूमि पर प्रजा का स्वामित्व मानते हैं। यदि किसी देश पर दूसरे राज्य का अधिकार हो जाय तो भूमि का स्वामी वही व्यक्ति रहेगा जो पहिले था।

आधुनिक राजनीतिज्ञ केवल भूमि के विस्तार को ही महत्वपूर्ण नहीं समझते। वे भूमि विस्तार के साथ-साथ संगठन, जातीय एकता, भौगोलिक परिस्थिति की श्रेष्ठता और अन्य कितने ही साधनों को राज्य की महत्ता के लिये आवश्यक समझते हैं। राज्य के लिये किसी विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है। परन्तु भूमि की भौगोलिक एकता का ध्यान रखते हुए राज्यों का संगठन होना चाहिए। जलवायु और नैसर्गिक परिस्थिति की समानता का भी विचार करना चाहिये। संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा का विचार करते हुए ही राज्यो का संगठन करना आवश्यक है।

(३) **प्रभुता अथवा प्रभुत्व-शक्ति** (Sovereignty)—प्रभुत्व अथवा सर्वोच्च सत्ता राज्य का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। एक राज्य में बहुत सी संस्थाएँ और समाज हो सकते हैं। श्रम समिति, व्यवसाय समिति, ब्रह्मसमाज, देवसमाज, आर्यसमाज इत्यादि अनेक प्रकार के संगठनों के अपने-अपने पृथक्-पृथक् नियम भी होते हैं। इनके पास कुछ थोड़ी सी निश्चित् भूमि भी हो सकती है। इन सङ्गठनों के प्रबन्ध के लिये, प्रधान, मंत्री, कोषाध्यक्ष इत्यादि अनेक पदाधिकारी हो सकते हैं, परन्तु इस में से प्रत्येक संस्था पृथक्-पृथक् अथवा सब मिलकर सामूहिक रूप में राज्य

का रूप धारण नहीं कर सकती। राज्य का सङ्गठन सर्वोपरि है और सर्वांगीण है। राज्य का इन सब के ऊपर पूर्ण अधिकार है। राज्य के प्रत्येक नियम का पालन करना इनमें से प्रत्येक संस्था का कर्तव्य है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार जनसंख्या और भूमि राज्य के आवश्यक अंग हैं उसी प्रकार प्रभुत्व अथवा सत्ता भी राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है।

सर्वोच्च सत्ता (प्रभुत्व) नव्य राजशास्त्र का प्राण है। इसी पर राज्य-नियमों तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धों का प्रचलित रहना निर्भर रहता है। ऊपर बताया जा चुका है कि 'स्थान-विशेष के राजनैतिक ढंग से संगठित समाज का नाम राज्य है'। इसका यह भी प्रयोजन है कि राज्य की उत्पत्ति तभी हो सकती है जबकि समाज में इतना संगठन हो कि वह राज्य स्थापित कर सके, विधि-विधान बना सके, उन्हें चला सके और अपने संगठन को स्थायी रूप से स्थिर रख सके। समाज में ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का होना आवश्यक है जो राज्य के प्रजाजनों को अपनी आज्ञाओं पर बलात् चला सकें। यही लोग राज्य के प्रभु अथवा शासक (सर्वोच्च शक्ति) हैं और इनकी आज्ञा ही राज्य-विधि (Law) है। इनकी शक्ति अपरिमित होती है। कोई आन्तरिक अथवा बाह्य शक्ति इनके कार्य में बाधक नहीं हो सकती है।

आन्तरिक विषयों में राज्य की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण नागरिकों के सब संगठनों पर अपरिमित और निर्बाध होती है। अधिकार का स्रोत राज्य है। प्राणों का भी स्रोत राज्य है। राज्य के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों तथा प्राणों की कुछ भी सत्ता नहीं है। 'राज्य का नियम उचित है या अनुचित' यह विचार राज्य के नियमों के पालन करने में बाधक नहीं हो सकता। राज्य की इच्छा पर चलने में प्रत्येक नागरिक बाधित है। अनन्त शक्ति होते हुए भी राज्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग नहीं करता है। वह अपनी बहुत सी शक्ति दूसरों को भी देता है। राज्य द्वारा दी हुई शक्ति पर कोई अपना अधिकार प्रकट नहीं कर सकता है। जब राज्य अपनी शक्तियाँ देता है तो राज्य के नियमों के अनुसार वह शक्तियाँ लौटानी भी पड़ती हैं। राज्य शासकों के ऊपर है। शासक वही करेगा जो राज्य चाहता है। राष्ट्र द्वारा दिये गये वैयक्तिक अधिकारों में जब किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता होती है तो शासक लोग राज्य को ही प्रेरित करने

हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तरीय विषयों में राज्य की शक्ति अपरि-मित है।†

बाह्य विषयों में राज्य की सर्वोच्च शक्ति पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। कोई दूसरा राज्य उसमें किसी प्रकार से बाधक नहीं हो सकता। सर्वोच्च सत्ता को पूर्ण अधिकार है कि जिस प्रकार चाहे वह अन्य देशीय राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करे। युद्ध, संधि, व्यापारिक समझौता आदि करने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के अनुसार प्रत्येक राज्य को दूसरे राज्य से व्यवहार रखना पड़ता है परन्तु वह ऐसा करने को बाध्य नहीं है।

राज्य की सर्वोच्च सत्ता विभक्त नहीं की जा सकती है। इस शक्ति के काम में लाने के अधिकार को भिन्न-भिन्न राजकीय विभागों में विभाजित करते हुए भी राज्य की शक्ति एक है। राज्य की सत्ता वहाँ ही है जहाँ सर्वोच्च सत्ता पूर्णरूप से विद्यमान है। राज्य के नियमों के अनुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता पूर्ण, असीमित तथा अभेद्य है।‡

(४) शासन (Government)—राज्य (State) और शासन (Government) का भेद हम पहले वर्णन कर चुके हैं। राज्य और शासन में बड़ा भेद है। राज्य एक सत्ताधारी समुदाय है जो जन साधारण के हित के लिये राजनैतिक दृष्टि से सुसंगठित है और शासन राज्य के उस कार्यवाहक का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा को प्रदर्शित करता है और अपनी इच्छा की पूर्ति कराता है। शासन राज्य का एक विशेष अंग है। शासन में परिवर्तन होते रहते हैं परन्तु इससे राज्य में परिवर्तन नहीं होता। राज्य का अस्तित्व वैसा ही रहता है। रूस में जारशाही का अन्त हो गया परन्तु रूस राज्य का अन्त नहीं हुआ। राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता और शक्ति से शासन को मंडित करता है। शासन राज्य की शक्तियों का संचालन करता है। सीली का कथन है कि शासन वह व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्य की शक्तियाँ प्रकट की जाती हैं। शासन स्वयं सर्वोच्च-सत्ताधारी नहीं, उसके पास अपने निजी अधिकार तथा शक्तियां नहीं हैं, उसके पास जो कुछ है वह राज्य से उसके संगठन द्वारा दिया हुआ है। बिना शासन के राज्य का विचार ध्यान में नहीं आ सकता। किसी राज्य का शासन वहाँ के लोगों की प्रकृति, स्वभाव और राजनैतिक उन्नति पर निर्भर है। शासन कैसा ही हो

---

† गैटेल—इन्ट्रोडक्शन टू पौलिटीकल साइन्स।

‡ लीकाक—एलीमैण्ट्स आफ़ पौलिटीकल साइन्स।

राज्य में शान्ति रखने के लिये शासन अत्यन्त आवश्यक है। शासन सुसंगठित होना चाहिये और उसके पास पर्याप्त शासन का कार्य देश के भीतर शान्ति अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना, अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में योग देना उसमें सफलता अथवा असफलता प्राप्त करना, शासन का [illegible] कार्य है।

अध्याय ३

राज्य की उत्पत्ति

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? इस बात को जानने के लिये हमें दो सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है—एक ऐतिहासिक दूसरा काल्पनिक। राज्य की उत्पत्ति के विषय में हमें इतिहास से कुछ ठीक पता नहीं चलता है। यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ता गिलक्रिस्ट (Gilchrist) का कथन है कि 'राजनैतिक-चेतना के उदय के समय क्या परिस्थिति थी, इस बात का हमें इतिहास से कुछ पता नहीं चलता है।' † इतिहास का आरम्भ उस समय से होता है जब समाज सभ्य हो गया था और राजनैतिक ढंग से सुसंगठित हो चुका था। इतिहास से हमें सभ्य समाज की राजनैतिक उन्नति का पता चलता है और यह कि आरम्भ में किस प्रकार का राजनैतिक संगठन था। ज्यों-ज्यों समाज में सभ्यता की उन्नति हुई और समय बीतता गया त्यों-त्यों विविध प्रकार के राजनैतिक संगठन परिस्थिति के अनुसार बनते चले गये। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद समझे जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार राज्यों के ये नाम वैदिक काल में प्रयोग हुए हैं। राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य, आधिपत्य और सार्वभौम। इसी प्रकार राजाओं के लिये विराट, सम्राट्, स्वराट्, अधिपति, सर्वराट् आदि शब्द प्रयोग हुए हैं। इससे विदित होता है कि वैदिक काल से बहुत पहिले राज्य की उत्पत्ति हो चुकी थी। इतिहास से हमें इससे पूर्वकाल के राजनैतिक संगठन का कुछ पता नहीं चलता है। अत: स्पष्ट है कि एक काल इतिहास में ऐसा भी है जिसे 'इतिहास से पूर्व' या प्रागैतिहासिक (pre-historic) काल कहते हैं। राज्य की उत्पत्ति

---

† "of the circumstances surrounding the dawn of political consciousness from History we know little or nothing." Gilchrist.

इसी काल में हुई विदित होती है। इस काल की बातों को जानने के लिये हमें कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। कल्पना द्वारा विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण बताये है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) शक्ति-सिद्धान्त (Force Theory)
(२) ईश्वरांश-सिद्धान्त (Divine Origin Theory)
(३) सामाजिक अनुबन्ध (इकरार)-सिद्धान्त (Social Contract Theory)
(४) पैतृक तथा मातृक-सिद्धान्त (Patriarchal and Matriarchal theory)
(५) विकास-सिद्धान्त (Evolutionary Theory)
(६) सावयव- सिद्धान्त (Organic Theory)

आधुनिक राजशास्त्रवेत्ता इन सब भिन्न भिन्न सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते हैं, परन्तु प्रत्येक सिद्धान्त में कोई न कोई ऐसी विशेष बात है जिससे हम सब आकर्षित होते हैं। इतिहास से पूर्व तथा इतिहास काल में मानव समाज का ऐसा राजनैतिक संगठन रहा है कि जिसमें ऊपर लिखे सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है। अतः प्रत्येक सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन दिया जाता है।

(१) **शक्ति सिद्धान्त** (Force Theory)—कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के कारण हुई है। प्राचीन काल में एक शक्तिशाली व्यक्ति अपनी भौतिक शक्ति के बल के सहारे उन लोगों पर अपना अधिकार जमा लेता था जो राजनैतिक रूप से संगठित नहीं होते थे। वह उन पर शासन करने लगता था और अपना राज्य स्थापित कर लेता था। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। प्रसिद्ध यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ता ह्यूम (Hume) ने अपने "Original Contract" में लिखा है कि "राज्य की उत्पत्ति उसी समय हुई होगी जब किसी मानव दल के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियों पर अधिकार जमा कर उन पर अपनी हुकूमत लादी होगी।" शक्ति सिद्धान्त के मानने वालों के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। इनका मत है कि बड़े-बड़े साम्राज्य, जिनका प्रताप आज संसार में छाया हुआ है, शक्ति द्वारा ही स्थापित हुए हैं और शक्ति के आधार पर ही उनका संगठन है। ब्लंश्ली के अनुसार राज्य-संगठन में शक्ति अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। शक्ति-

सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति अत्याचार, स्वार्थ तथा युद्ध द्वारा हुई। शक्तिशाली लोगों ने दुर्बल लोगों को और शक्तिशाली जातियों ने दुर्बल जातियों को दबाकर प्रभुत्व स्थापित किया। बड़े राष्ट्रों का छोटे राष्ट्रों पर प्रभुत्व और कृषकों पर ज़मींदारों का अत्याचार इसी सिद्धान्त के आधार पर हो रहा है। दो जातियों में परस्पर युद्ध हुआ, युद्ध में जिस जाति के नेता की विजय हुई उसने दूसरी जाति के लोगों को दास बना लिया और उनकी भूमि पर अधिकार कर लिया। इस भूमि को अपने छोटे सेनानायकों को सौंप दिया। ये छोटे सेनानायक कुछ समय पश्चात् ज़मींदार बन गये। इनकी तरह विजयी जाति का नेता राजा बन बैठा। आरम्भ में विजयी जाति के लोगों ने पराजित जाति पर अत्याचार और कठोर शासन किया फिर उन्हें सान्त्वना देकर उन्हें अपने साथ मिलाकर स्वजाति के लोगों पर भी कठोर अनुशासन स्थापित कर दिया। इसी प्रकार राजा, नवाब और सम्राट् बन गये। मध्यकाल में यूरोप में पादरियों ने जनता को राजाओं के विरुद्ध भड़काने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया। सन् १०८० में ग्रेगरी सप्तम ने लिखा था कि "यह बात किस से छिपी है कि राजा तथा ताल्लुकदारों की उत्पत्ति उन लोगों से सम्बद्ध है जिन्होंने ईश्वर को भूलकर अभिमान, विश्वास-घात और हत्या द्वारा अपने ही लोगों पर शासन करने का प्रयत्न किया।"

आधुनिक काल में भी कुछ राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त को सत्य समझते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का कथन है कि राज्य पाप तथा अधर्म का परिणाम है। अब तक उन पर उनके पापमय उद्भव की छाया बनी हुई है। अराजकवादी लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विशेष भक्त हैं। उन्होंने शक्ति सिद्धान्त के आधार पर राज्यों को खूब कलंक लगाया है। साम्यवादियों ने पूँजीपतियों तथा राज्यों को पापी सिद्ध करने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx), ऐन्जल्ज़ (Engels), तथा अन्य जर्मन साम्यवादियों का कथन है कि राज्य (State) दुर्बलों की दुर्बलता से लाभ उठाने के उद्देश्य से स्थापित हुए हैं। पूँजीपति राज्य की कृपा से ही श्रमिकों के श्रम का मुफ्त में लाभ उठा रहे हैं। पूँजी-पतियों के लाभ के लिये युद्ध किये जाते हैं और उनमें श्रमिकों को कटवाया जाता है। ऐसा कोई अत्याचार नहीं है जो पूँजीपतियों के निमित्त राज्य न करता हो। वास्तव में बात तो यह है कि आधुनिक काल में शक्ति ही राज्य का आधार है।

हमारे विचार से शक्ति सिद्धान्त ठीक नहीं है। जिस वस्तु का आधार

शक्ति होती है, शक्ति का ह्रास होने पर उस वस्तु का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जिस राज्य का आधार शक्ति है, शक्ति का ह्रास हो जाने पर वह राज्य नाश को प्राप्त होगा। अतः राज्य का आधार, जैसा कि गांधी जी ने कहा है, सत्य और अहिंसा पर होना सर्व श्रेष्ठ है। इस आधार पर राज्य करने से विश्व में शान्ति स्थापित रह सकती है अन्यथा नहीं।

(२) **ईश्वरांश-सिद्धान्त** (Divine Theory)—मानवजाति की अपने बाल्यकाल में ईश्वरीय सत्ता और प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों पर निर्भर रहने की अत्यधिक प्रवृत्ति थी। लोगों का विश्वास यहाँ तक था कि ईश्वर मनुष्यों द्वारा अपना सन्देश भेजता है। प्राचीन काल के लोग राज्यसत्ता को ईश्वरीय मानते थे और राजा को ईश्वर का अंश या प्रतिनिधि समझते थे। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में राजा को देवताओं के अंश से उत्पन्न होना माना गया है। यह इसी सिद्धान्त का दूसरा रूप है। अन्य हिन्दू शास्त्रों में राजा को विष्णु का अवतार भी कहा है। अस्तु यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। बहुत से राजनीतिज्ञों का तो यह विचार है कि राज्य के जन्म के साथ ही इस सिद्धान्त का जन्म हुआ है। जिस युग में धर्म तथा राज्य नियमों में कोई भेद नहीं समझा जाता था, उस युग में ईश्वरांश सिद्धान्त का विशेष प्रचार था। 'राज्य तथा राजा ईश्वर के पुत्र हैं' यह विचार ईश्वरांश सिद्धान्त का आधार है। यहूदियों का तो यह विश्वास था कि ईश्वर राज्य कार्य में विशेष भाग लेता है। यूनान और रोम में भी लोग इस सिद्धान्त के अनुयायी थे। वे भी राज्य का उद्भव ईश्वरीय समझते थे। मध्य काल में जब चर्च की प्रधानता यूरोप में हुई तो ईश्वरांश सिद्धान्त ने अधिक उन्नति की। प्राचीन काल से लोगों का यह विश्वास था कि ईश्वर ही शासनशक्ति देता है। पोप की शक्ति की वृद्धि होने पर ईश्वरांश सिद्धान्त ने यह विवाद खड़ा किया कि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से शासन की शक्ति पोप को देता है अथवा राजा को? धर्म-परिवर्तन के युग में जनता तथा राजा के बीच यह विवाद खड़ा हुआ। राजाओं ने अपने स्वेच्छाचारी शासन की पुष्टि करने के लिये इस सिद्धान्त का आश्रय लिया और जनता के राजनैतिक विचारों के दबाने का प्रयत्न किया। सर राबर्ट फिलमर तथा जेम्स प्रथम ने अपने लेखों द्वारा ईश्वरांश सिद्धान्त को पुष्ट किया और राजा तथा राज्य शक्ति को ईश्वरीय ठहराया। उनका यह विचार था कि ईश्वर ने प्रारम्भ में आदम को शासन की शक्ति दी थी, उसी से यूरोप के राजाओं ने इस शक्ति को प्राप्त किया।

सारांश यह है कि इस सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि ईश्वर ने राज्य की स्थापना की है। ईश्वर स्वयं अथवा किसी महान् शक्ति द्वारा शासन करता है। राज्य ईश्वर–सत्तात्मक है जिस पर ईश्वर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा किसी अन्य राजा द्वारा (जो ईश्वर का प्रतिनिधि होता है) अप्रत्यक्ष रूप से राज्य करता है। मिस्र में राजा को 'सूर्य-पुत्र' समझा जाता था। जापान में आज भी जापानी लोग अपने राजा मिकाडो को 'सूर्य देव का पुत्र' समझते हैं। सन् १५३० ई० में आग्सबर्ग स्वीकरण (Augsburg-Confession) में यह घोषित किया गया था कि "संसार का शासन, विधान और व्यवस्था सम्बन्धी सर्वसत्ता ईश्वर द्वारा उत्पन्न तथा स्थापित हुई।" ईश्वरांश सिद्धांत के चार विशेष लक्षण थे—

(१) राजसत्ता ईश्वर द्वारा प्रदान की गई है।

(२) राजसत्ता वंशागत और पैत्रिक है।

(३) राजा प्रेक्षा (reason) का महान् स्वरूप है और केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है।

(४) वैधानिक (न्यायसंगत) राजा का विरोध करना पाप है।

आजकल के जनतत्रवादी ईश्वरांश सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते। इस सिद्धान्त को सबसे बड़ा आघात ग्रोशस (Grotius), हाब्स (Hobbes) और लौक (Locke) ने पहुँचाया। आधुनिक राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि राज्य मनुष्यकृत तथा मनुष्यों के प्रतिनिधि द्वारा संचालित होता है। ईश्वर का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

गिलक्रिस्ट (Gilchrist) ने ईश्वरांशसिद्धान्त के असफल होने के तीन कारण बताये हैं—(१) सामाजिक अनुबन्ध (इकरार) सिद्धान्त की स्थापना। (२) ईसाई धर्म और राज्य का वियोजन, और (३) जनतन्त्रवाद द्वारा स्वेच्छाचारी शासन का विरोध तथा खण्डन।

वर्तमान राजशास्त्रवेत्ता इस सिद्धान्त को मिथ्या तथा अनर्गल समझते हैं, परन्तु मध्यकालीन यूरोप में यह सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सिद्धान्त ने उस समय यूरोप के समाज को नष्ट होने से बचाया और शान्ति स्थापित रखने का प्रयत्न किया। उस समय यूरोग की जातियाँ पूर्ण-रूप से सभ्य नहीं हो पाई थीं। लोग शासन शक्ति को कुछ नहीं समझते थे ऐसे समय में ईश्वर के नाम से लोगों के हृदय में भय उत्पन्न करके राजाओं ने वहाँ शान्ति स्थापित रक्खी और जन साधारण की सम्पत्ति तथा उनके प्राणों की रक्षा की। इस सिद्धान्त के आधार पर लोगों में अनुशासन के भाव

जागृत रहे और किसी प्रकार की अराजकता न फैल सकी। स्वेच्छाचारी शासक ईश्वर से भयभीत होता हुआ प्रजा को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता था क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार वह ईश्वर प्रति उत्तरदायी था। शासन प्रबन्ध नैतिक आधार पर अवलम्बित रहा।

(३) **सामाजिक-अनुबन्ध (इकरार) सिद्धान्त** (Social Contract Theory)—सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के माननेवालों का यह मत है कि एक समय ऐसा था जब कि राज्य नाम की कोई संस्था विद्यमान न थी और लोग राजनैतिक जीवन को जानते ही न थे। प्रकृति माता की गोद में पलते हुए वे प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलते थे। चिरकाल तक मनुष्य प्राकृतिक दशा में न रह सके। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वह जीवन इतना सुखमय था कि उसका देर तक रहना असम्भव था या यह कि वह जीवन स्वार्थ तथा मात्स्य न्यायरूपी भयंकर तूफ़ानों से इतना दुःखमय होगया कि उसे राज्यरूपी छत्र की शरण लेनी पड़ी। प्राकृतिक तथा नैतिक नियम राज्य के विधानों और जन समाज के भिन्न भिन्न राजनैतिक समुदायों में परिवर्तित हो गये। राज्य की उत्पत्ति इन्हीं राजनैतिक समुदायों से संबद्ध है। राजनैतिक समुदायों के साथ साथ शासक प्रकट हुए। लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता को नियमबद्ध किया और बहुत से अधिकार शासकों को दे दिये। शासकों का समुदाय बन जाने पर उनके कार्यक्षेत्र का निश्चय किया गया। यही सामाजिक-अनुबन्ध अथवा इक़रार सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त का आविष्कार सब से प्रथम भारतवासियों ने किया था। महर्षि व्यास ने शान्तिपर्व में लिखा है कि पृथु महाराज को इसी सिद्धांत के अनुसार राज्य प्राप्त हुआ था। उसी के नाम पर भूमि का नाम पृथ्वी पड़ा। शान्तिपर्व के ६७ वें अध्याय में यह वर्णन है कि पहले राजा के न रहने से बली निर्बल को जल की मछलियों के समान खाने लगे, तब सब लोगों ने मिल कर नियम किया कि "जो कोई किसी से कटुभाषण करेगा, उसे मारेगा या किसी की स्त्री अथवा द्रव्य का हरण करेगा, उसे हम त्याग देंगे।" यह नियम सब लोगों के लिये एक सा था परन्तु जब इसका पालन न हुआ तब सारी प्रजा ब्रह्मा के पास गई और कहा कि हमारा प्रतिपालन करने वाला कोई अधिपति हमें दीजिये, तब ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी। उस समय मनु ने कहा "मैं पाप कर्म से डरता हूं। असन्मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों पर राज्य करना पाप है।" तब लोगों ने कहा राष्ट्र में जो पाप होगा वह कर्ता को लगेगा। तू मत डर, तुझे हम पशुओं का पचासवां भाग और अन्न का दशमांश

देंगे । अस्त्र शस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरे साथ रहेंगे । तू सुख और आनन्द से राज्य कर, हम अपने धर्माचरण का चतुर्थ भाग भी तुझे देंगे ।" इसको स्वीकार कर मनु राज्य करने लगे । अधर्मी और शत्रु को दंड देकर धर्म के समान उसने राज्य किया । इस कथा में सामाजिक अनुबन्ध सम्बन्धी यह कल्पना की गई है कि राजा धर्म के अनुसार प्रजा पर राज्य करे तथा पापियों को दण्ड दे और प्रजा उसे कर दे मुख्यतः भूमि की उपज का दशमांश और पशु तथा व्यापार आदि का पचासवां भाग दे ।

यूरोप में इस सिद्धान्त का उदय यूनानियों से ही माना जाता है । ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यूनान में सोफ़िस्टस (Sophists) नाम के दर्शनिक हुए हैं । इनका मत है कि स्वभाव से मनुष्य स्वार्थी और शक्ति पर निर्भर था । राज्य की स्थापना या तो इस प्रकार हुई कि बली लोगों ने आपस में यह समझौता कर लिया कि निर्बलों पर अत्याचार करना चाहिये अथवा इस प्रकार हुई कि निर्बलों ने बली लोगों से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिये आपस में समझौता कर लिया । सोफ़िस्ट्स का विश्वास था कि मनुष्य स्वभावतया सामाजिक प्राणी नहीं है और राज्य कृत्रिम है, व्यक्तित्व के आधार पर इस की रचना हुई है और राजनैतिक अधिकार का उद्देश्य वास्तव में स्वार्थपूर्ण है । इनका विश्वास था कि राज्य की स्थापना अनुबन्ध के अनुसार हुई है । प्लैटो और अरस्तू ने भी इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया । इसका मुख्य कारण यह था कि वे सामाजिक तथा राजनैतिक बन्धन को नैसर्गिक समझते थे । एपीक्यूरियन सम्प्रदाय के लोगों (Epicurians) का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य के नियमों पर इसलिये चलता है कि इसी में उसका विशेष हित है । रोम वालों ने राज्य के नियमों की उन्नति की । इसी समय में ईसाइयों ने स्वर्ण-युग की कल्पना लोगों के सन्मुख रक्खी और राज्य को एक 'बुराई' बताया । यूरोप में जब विद्या का प्रसार हुआ तब ईश्वरीय और मानुषी नियमों को सर्वथा पृथक् करने का प्रयत्न किया गया । नैसर्गिक नियमों के आधार पर सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की उन्नति की गई ।

आधुनिक काल के आरम्भ में कुछ यूरोपीय राजशास्त्रवेत्ताओं ने भी सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के विषय में कुछ लिखा है । इंगलैंड के पादरी रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) ने सन् १५९४ में "Ecclesiastical Polity" नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने पोपों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करते हुए सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का समर्थन किया । उसने

लिखा है कि राजा के अधिकार प्रजा की सम्मति पर निर्भर है तथा राज्य की उत्पत्ति प्रजा द्वारा हुई है। लोगों ने इस सिद्धान्त को सहर्ष स्वीकार किया। इसके पश्चात् अन्य यूरोपीय विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया। ग्रोशस (Grotius) ने 'लॉ आफ़ वार ऐन्ड पीस' (Law of War and Peace) में मिल्टन ने 'टैन्योर आफ़ किंग्स एन्ड मजिस्ट्रेट' (Tenure of Kings and Magistrate) में, पुफ़ेनडार्फ़ ने 'ला आफ़ नेचर ऐन्ड नेशन्ज (Law of Nature and Nations) में, स्पाइनज़ा ने ट्रैक्टैटस पालिटिक्स' (Tractatus Politics) में, इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। इंगलैंड में लाक (Locke) तथा हाब्ज़ (Hobbes) और फ्रान्स में रूसो (Rousseau) ने इस सिद्धान्त को अत्यधिक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण बना दिया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों ने यूरोप में हलचल मचादी और यह सिद्धान्त वहां बहुत लोकप्रिय हो गया। यूरोप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में तीन राजशास्त्रवेत्ताओं का हाथ है। इनके नाम हैं—हाब्ज, लाक, रूसो। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

(१) टामस हाब्ज़ (Thomas Hobbes) १५८८ से १६७९ तक——हाब्ज चार्ल्स द्वितीय (Charles II) का शिक्षक रह चुका था। उसने अनेक नैतिक तथा राजनैतिक ग्रंथ लिखे हैं। उसने अपने लेवियाथन (Leviathan) नामक ग्रंथ में सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का वर्णन किया है। उसका विचार था स्वार्थ ही मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है। इन्द्रियों को संतुष्ट करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। यदि मनुष्य दया दिखाता है तो इस लिये दिखाता है कि मनुष्य उसकी प्रशंसा करें। प्रशंसारूपी स्वार्थ ही उसकी दया का मूल है। कभी कभी उसमें दया इस भय से भी उत्पन्न होती है कि "कदाचित इसी वेग का कष्ट मुझको भी कभी आ घेरे।" मनुष्य एक प्रकार का सामाजिक प्राणी है जो स्वार्थ ही के कारण सब कार्य करता है। मात्स्य न्याय ही नैसर्गिक या प्राकृतिक नियम है। मात्स्य न्याय से भयभीत होकर लोगों ने राजा की शरण ली और राज्य स्थापित किया। जिस अनुबन्ध से मनुष्य अपने ऊपर राजा का अंकुश रखने को तत्पर हुये उस सामाजिक अनुबन्ध का राजा अंग नहीं है। लोगों ने राजा की शरण में अपने आपको एक दूसरे के स्वार्थ के घातक प्रभावों से बचाने का निर्णय किया। यदि राजा कुछ अधिक अधिकार काम में लाना चाहे तो ला सकता है। जनता के साथ उसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं है न कोई उसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व है।

हाब्ज के इस सिद्धान्त ने स्टूआर्ट राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन का समर्थन किया।

(२) जान लाक (John Locke) १६३२ से १७०४ तक—लॉक के बिचार हाब्ज से भिन्न थे। लॉक मात्स्य न्याय को नैसर्गिक नियम नहीं समझता था। उसका कथन है कि नैसर्गिक नियमों को जानना बड़ा कठिन है। राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्यों का जीवन सामाजिक था। मनुष्य प्राकृतिक नियमों का पालन करते थे। हाब्ज का विचार था कि राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्यों का जीवन सामाजिक न था। प्रत्येक मनुष्य असभ्य और भयंकर था। लॉक का मत है कि उस दशा में मनुष्य शान्तिपूर्वक रहता था। किसी प्रकार का अनुबन्ध (इकरार) न था। मनुष्यों को राजा बनाने और राज्य स्थापित करने की आवश्यकता इस लिये हुई कि मनुष्य अपने नैतिक स्वभाव को छोड़ कर स्वार्थ व अन्यायपूर्ण व्यवहार करने लगा यह विचार उत्पन्न हुआ कि यदि कोई राजा होगा तो वह पारस्परिक झगड़ों का न्याय पूर्ण निर्णय करेगा और विधान का ठीक अर्थ बतायेगा। मनुष्यों ने राजा बनाया और उसे नैसर्गिक नियम पालन करने के लिये भी बाधित किया। राजा सामाजिक अनुबन्ध का अंग था। यदि राजा उस अनुबन्ध के विरुद्ध काम करे तो वह दण्ड का भागी है। हाब्ज का राजा सब कुछ कर सकता हैं। वह दंड से परे हैं। लॉक के इस सिद्धान्त ने परिमित एक तन्त्र राज्य का समर्थन किया। सन् १६८८ की राज्यक्रान्ति में लॉक के सिद्धान्त ने बड़ा काम किया।

(३) जीन जैकस रूसो (Jean Jacques Rousseau) १७१२ से १७७८ तक—सन् १७६२ में रूसो ने सामाजिक अनुबन्ध (Social Cntract) नामक एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने राज्य की स्थापना का वर्णन इस प्रकार किया है। प्राकृतिक दशा में लोग सुखी थे, शान्त थे और भ्रातृभाव से रहते थे। बड़ा आनन्दमय जीवन था। पदार्थों की अधिकता से मनुष्यों को सब प्रकार का सुख था। ज्यों-ज्यों जन संख्या बढ़ी पदार्थो की कमी के प्रश्न ने विकट रूप धारण करना आरम्भ किया। 'मेरे', 'तेरे' का भाव उत्पन्न हुआ। चालाकी, मक्कारी और चोरी के भाव उत्पन्न हुए। लाचार होकर लोगों ने अपने अपने अधिकारों को एक समिति को सौंप दिया। अन्तिम निर्णय लोगों ने अपने हाथ में रक्खा। लोक समिति के हाथ में ही सर्वोच्च सत्ता थी। प्रतिनिधि को भी बुरा समझा जाता था। अठारहवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त ने लोगों को राज्यक्रान्ति करने के लिये उत्तेजित किया।

राष्ट्र तथा राज्य में भेद स्थापित किया। अमरीका ने राज्यक्रान्ति करने में इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया। जैफर्सन (Jefferson) और मैडिसन (Madison) रूसो के अनुयायी थे।

अठारहवीं शताब्दी में सबसे प्रथम डविड ह्यूम (David Hume) ने इंगलैण्ड में इस सिद्धान्त का खंडन किया। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रभावशाली राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त का विरोध किया। ल्यूडविग (Ludwig) जेरमी बन्थम (Jeremy Bentham), सर हैनरीमेन (Sir Henry Maine), टी. ऐच. ग्रीन (T. H. Green), एडमन्ड बर्क (Edmond Burke), ब्लंश्ली (Bluntchli), सर फ्रेडरिक पालक (Sir Frederick Pollock) आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त की निस्सारता प्रकट करने का प्रयत्न किया। जैरमी बैन्थम ने तो यहां तक कह दिया कि 'मैं सामाजिक अनुबन्ध को सदा के लिये प्रणाम करता हूं, अच्छा है कि वही लोग इसमें अपना समय व्यतीत करें जिन्हें इसकी आवश्यकता हो।" ब्लंश्ली इस सिद्धान्त को बड़ा दूषित समझते हैं क्योंकि इसके अनुसार राज्य व्यक्तिगत स्वार्थ का परिणाम सिद्ध होता है।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना—सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना विद्वानों ने तीन दृष्टिकोणों से की है—ऐतिहासिक, वैधानिक और दार्शनिक—

(क) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से—(१) इतिहास हमको यह बतलाता है कि सबसे सहले मनुष्य असभ्य थे। कुटुम्ब के कुटुम्ब साथ-साथ रहते थे। एक अनुबन्ध के अनुसार राज्य स्थापित कर लेना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं प्रकट होता है। एक अनुबन्ध द्वारा राज्य की कल्पना असामाजिक और असंगठित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों में नहीं उत्पन्न हो सकती। असभ्यों के जीवन की छान-बीन करने पर भी ऐसा कहीं नहीं प्रकट हुआ कि उनके जीवन में कोई ऐसा समय आया हो जब उन्होंने सामाजिक अनुबन्ध किया हो ऐसा तो हो सकता है कि राजनैतिक जीवन में पले हुए लोग जब राज्य से पृथक् होकर कहीं उपनिवेशों में निवास करने जाते हैं तो इस प्रकार के अनुबन्ध द्वारा राजनैतिक संगठन बनाकर राज्य का निर्माण कर सकते हैं। सन् १६२० में ११ नवम्बर को 'मेफ्लावर' जहाज में बैठे हुए प्यूरिटन लोगों ने आपस में प्रण करके एक अनुबन्ध स्थापित किया था कि 'हम लोग शान्ति और सुख से जीवन व्यतीत करने के अभिप्राय से आगे चलकर राजनैतिक जीवन व्यतीत करेंगे।' सन् १६३८ में न्यूहैवन में ज़मींदार समिति और

१६३६ में अमरीकन संगठन (Providence Agreement), इस प्रकार के सामाजिक अनुबन्ध के जीवित उदाहरण हैं। परन्तु ये अनुबन्ध सभ्य दशा में स्थापित किये गये थे न कि उस अवस्थामें जब कि लोगों को राजनैतिक चेतना ही न थी। ये लोग राज्य में रहे थे और इन्होंने नवीन राज्य स्थापित करने के लिये अनुबन्ध स्थापित किया था।

(२) इस प्रकार के अनुबन्ध जैसे हौब्ज, लॉक और रूसो ने स्थापित किये एक असभ्य समाज में जिन्हें राजनैतिक चेतना नहीं है कभी आरम्भ नहीं हो सकते। इन अनुबन्धों से राज्य का आरम्भ ऐतिहासिक दृष्टि से निर्मूल प्रतीत होता है। इन अनुबन्धों में राजा और प्रजा का सम्बन्ध स्थापित करके उनके परस्पर अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। राज्य स्थापित होने के पश्चात् अथवा राजनैतिक अवस्था में इस प्रकार के अनुबन्ध स्थापित हो सकते हैं अन्यथा नहीं। अतः सामाजिक अनुबन्ध केवल कल्पनामात्र है।

(३) इतिहास हमको बताता है कि आरम्भ में मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। यह बात युक्तिसंगत भी है, क्योंकि हम देखते हैं कि संसार में प्राणीमात्र का जीवन सामाजिक है। पशुओं में देखो तो हिरन कुत्ते, भेड़िये, हाथी आदि सब बन में समुदायों में दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार पक्षियों को देखो तो वे भी झुण्ड के झुण्ड दिखाई पड़ते हैं। कौए गिद्ध सारस, बगुले, तोते आदि सब पक्षी झुण्ड में ही दिखाई पड़ते हैं। कीड़े-मकोड़ों को देखो तो गिजाई, टिड्डी, चींटी आदि के गुच्छे के गुच्छे दिखाई देते हैं। झुण्ड अथवा गिरोह (समुदाय) में रहना प्राणीमात्र की प्रकृति का एक नियम है। मनुष्य भी एक प्राणी है भला यह कैसे इस नियम से बच सकता है। जब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो समाज में रहते हुए मनुष्य को समाज स्थापित करने के लिये सामाजिक अनुबन्ध का आश्रय किस प्रकार लेना पड़ा होगा? सामाजिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में असामाजिक बताया गया है। यह बात बिल्कुल मिथ्या है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में असामाजिक दशा में रहता हुआ मनुष्य एक साथ किसी अनुबन्ध द्वारा व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन में एक साथ परिवर्तन नहीं कर सकता। अतः इस सिद्धान्त में ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

वैधानिक दृष्टिकोण से—(१) किसी अनुबन्ध को निभाने के लिये राज्य के विधान की सहायता की आवश्यकता होती है। जिस अनुबन्ध को

मानने अथवा मनवाने के लिये जब किसी विधान का भय नहीं है तो लोग उसे क्यों मानेंगे ? सामाजिक अनुबन्ध को मानने या मनवाने के लिये कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसका आश्रय लिया जा सके, अतः विधान के विचार से यह सिद्धान्त बिल्कुल मिथ्या है। राज्य का अनुबन्ध से पूर्व स्थापित होना तो सम्भव प्रतीत होता है परन्तु यह कल्पना कि अनुबन्ध द्वारा अथवा अनुबन्ध के पश्चात् राज्य स्थापित हुआ नितान्त कल्पना है। टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) का कथन है कि 'ऐसा अनुबन्ध जिसके द्वारा कोई राजनैतिक शक्ति स्थापित की जाय कभी न्यायोचित तथा सप्रमाण नहीं हो सकता। ऐसी दशा में लोगों को अनुबन्ध स्थापित करने का अधिकार ही नहीं है।

(२) जब यह सिद्ध हो गया कि प्राकृतिक दशा में अर्थात् असामाजिक तथा अराजनैतिक दशा में लोगों को अनुबन्ध स्थापित करने का अधिकार ही नहीं है तो जो अनुबन्ध भी ऐसी दशा में स्थापित किया जायगा वह विधान के विरुद्ध होगा। उसके उल्लंघन करनेवाले को कोई दण्ड भी नहीं दिया जा सकता। न कोई मनुष्य उसे मानने के लिये बाध्य किया जा सकता है। ऐसे अनुबन्ध द्वारा स्थापित किये गये सब अधिकार भी मिथ्या हैं और उनके प्राप्त करने के लिये किसी विधि तथा विधान अथवा न्यायालय का आश्रय नहीं लिया जा सकता है।

(३) साधारणतया अनुबन्ध जिन लोगों के बीच में स्थापित किया जाता है उन्हीं लोगों पर बाध्य होता है। सामाजिक अनुबन्ध में यह विशेषता है कि यह जिनके बीच में हुआ उन पर बाध्य था, उनकी सन्तानों पर बाध्य रहा और उनकी सन्तान की सन्तानों पर भी बाध्य रहेगा। लॉक ने इस बन्धन को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है कि जो लोग राज्य में रहते हैं उन्होंने निर्विकल्प रूप से (tacitly) उस अनुबन्ध को स्वीकार कर लिया है। नियम तो यह है कि जब अनुबन्ध के लोगों की मृत्यु हो जाती है अथवा वे कहीं चले जाते हैं तो अनुबन्ध टूट जाता है परन्तु सामाजिक अनुबन्ध अटूट, स्थायी और अमर है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से—(१) सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार राज्य और मनुष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध ऐच्छिक है। किसी वाह्य शक्ति ने मनुष्यों को यह अनुबन्ध स्थापित करने के लिये बाध्य नहीं किया। मनुष्यों ने देखा कि प्राकृतिक, असामाजिक अवस्था में उनको असुविधा होती है, अतः शान्तिपूर्वक रहने के लिये उन्होंने एक अनुबन्ध द्वारा राज्य की स्थापना की। व्यक्ति और राज्य के बीच ऐसे एक ऐच्छिक अनुबन्ध की स्थापना दार्शनिक

लग जाने से सब शरीर में कष्ट होता है। इसी प्रकार शरीर के किसी भी एक अवयव में कष्ट होने से सम्पूर्ण शरीर कष्ट पाता है। इससे प्रकट होता है कि शरीर के सब अवयवों में एकता है और एक दूसरे का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है। एक अवयव के सुख दुःख का प्रभाव दूसरे अवयवों पर अवश्य पड़ता है। शरीर के अवयवों की धनिष्ठ एकता का नाम सावयव-एकता (organic unity) है। बहुत से राजशास्त्रवेत्ताओं ने शरीर के अवयवों की एकता की तुलना समाज तथा राज्यरूपी शरीर के अवयवों की एकता से की है। उन्होंने एक सिद्धान्त स्थापित किया है जिसका नाम राज्य की सावयव-एकता' (Organic Theory of the State) है। इस सिद्धान्त के अनुयायियों के मतानसार उन लोगों का समुदाय जो परस्पर एकता के सूत्र में बंधे हुए नहीं हैं और जिनमें आपस में सम्बन्ध नहीं है, समाज अथवा राज्य कहलाने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार असंगठित समुदाय से समाज का शारीरिक संगठन नहीं होता। इन लोगों का कथन है कि जिस प्रकार असम्बद्ध अवयवों से शरीर का संगठन नहीं हो सकता उसी प्रकार मनुष्य रूपी उन अवयवों से समाज अथवा राज्य का संगठन नहीं हो सकता जो किसी न किसी प्रकार की एकता के सूत्र में बंधे हुए नहीं हैं। शरीर के संगठन के लिये जिस प्रकार उसके भिन्न भिन्न अवयवों की एकता की आवश्यकता है उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर के संगठन के लिये उसके सदस्यों की एकता की आवश्यकता है। इस विषय पर राजशास्त्रवेत्ताओं के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ राजशास्त्रवेत्ता इस सम्बन्ध में अद्वैतवाद (Monistic Theory) का प्रमाण देते हैं और कहते हैं कि सुसंगठित समाज एक ऐसा समुदाय है कि जिसमें उन लोगों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है जो उस समुदाय के सदस्य हैं। इन लोगों का यह मत है कि जैसे किसी पदार्थ के परिमाणुओं का अस्तित्व उस पदार्थ में लीन हो जाता है और उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता उसी प्रकार समाज की भी दशा है। समाज के व्यक्तियों (मनुष्यों) का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उनका अस्तित्व समाज में विलीन है। एक और प्रकार के राजशास्त्रवेत्ता हैं जिनका सिद्धान्त है 'वैयक्ति-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त' (Monadistic Theory) यह सिद्धान्त उपरोक्त सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है। इस सिद्धान्त के अनुयायियों का मत है कि समाज मनुष्यों अथवा मनुष्यों के समुदाय का एक स्पष्टीकरण (aggregation) है जिसमें वास्तव में कोई एकता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से स्वतन्त्र है। समाज का उस पर कोई ऋण नहीं है। किसी आकस्मिक समीपता (accidental

juxtaposition) को छोड़ कर वह अपने आस पास के मनुष्यों से स्वतन्त्र रहता है। इन दोनों सिद्धान्तों के बीच में एक सिद्धान्त और है। जिसे द्वैध कल्पना (dualistic conception) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का समाज के साथ थोड़ा सा सम्बन्ध है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ बातों में समाज के आश्रित रहना पड़ता है और कुछ बातों में वह बिल्कुल स्वतन्त्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार न तो व्यक्ति का अस्तित्व समाज में विलीन है और न वह समाज से अथवा अपने आपस के सामाजिक वातावरण से बिल्कुल पृथक् अथवा स्वतन्त्र है।

सावयव सिद्धान्त के अनुयायियों ने राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर के साथ की है, और यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि शरीर के रक्त कणों (cells) का जो सम्बन्ध शरीर के साथ है ठीक वही सम्बन्ध मनुष्य का राज्य के साथ है। जेलिनेक (Jellinek) का कथन है कि 'राज्य से सम्बन्ध रखने वाला यह सावयव सिद्धान्त बहुत ही पुराना और लोकप्रिय है।' प्लैटो ने 'डी रिपब्लिका' (De Republica) नामक ग्रन्थ में गणराज्य (Republic) की तुलना एक विराट मनुष्य से की है और बड़े ज़ोर से यह प्रतिपादन किया है कि सर्वोपरि सुव्यवस्थित 'समानतन्त्र' (commonwealth) वही है जिसकी बनावट तत्वतः मनुष्य शरीर की बनावट से समानता रखती है। प्लैटो का कथन है कि जिस प्रकार शरीर के सदस्य रूपी किसी अवयव को चोट लग जाने से सारे शरीर को कष्ट होता है और वह उस दुखित अवयव के साथ सहानुभूति दिखाता है, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक समाज जिन व्यक्तियों से बना है, उनमें से किसी को चोट पहुँचने से सारे समाज को धक्का लगता है। यूनानी राजशास्त्रवेत्ता सिसरो (Cicero) ने राज्य और व्यक्ति की तुलना की है। उसने राज्य के प्रधान की उस आत्मा से तुलना की है जो मानव शरीर को संचालित करती है। अठारहवीं शताब्दी के यूरोपीय लेखकों ने इस तुलना को बड़ा महत्व दिया है। फ्रांस की राज्य-क्रांति के पश्चात् इस सिद्धान्त का महत्व घटने लगा और इस विचार की पुष्टि होने लगी कि राज्य केवल एक कृत्रिम चीज़ है। इस विचार से सावयव-सिद्धान्त को बड़ा आघात पहुँचा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस के दार्शनिकों के इस विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और इस विचार को पुनः विशेष प्रोत्साहन मिला कि राज्य एक शरीर (organism) है। जर्मनी के राजशास्त्र वेत्ता ब्लंश्ली (Bluntchli) ने अपने ग्रंथ 'थियोरी आफ़ दी स्टेट' (Theory of the State) में

सावयव-सिद्धान्त की पुष्टि की है। उसने बताया है कि राज्य मानव शरीर (human organism) का प्रतिबिम्ब है। इन दोनों में सादृष्य है। जिस प्रकार शरीर के अवयव कार्य और जीवन क्रिया करते हैं वैसी ही क्रियायें राज्य में भी होती हैं। उसने राज्य की बनावट और जीवन क्रिया की मानव शरीर से बड़ी मनोरंजक तुलना की है। वह कहता है कि राज्य केवल निर्जीव कृत्रिम यंत्र नहीं है। वह एक सजीव, बौद्धिक सेन्द्रिय पदार्थ है। जिस प्रकार तैल चित्र तेल के बिन्दुओं के समुदाय से कुछ अधिक है, जिस प्रकार मनुष्य रक्तबिन्दु या अस्थियों के सम्मिश्रण से कुछ अधिक है वैसे ही राज्य राष्ट्रीय लोगों के केवल समुदाय से तथा वाह्य विधि विधान के संग्रह से कुछ अधिक है।

जिस प्रकार प्राणी का शरीर अपने सजीव अवयवों तथा रक्त कणों (Cells) से बना है और जिस प्रकार ये अवयव एक दूसरे पर परस्पर निर्भर रहते हुये अपना अपना व्यक्तिगत कार्य करते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य-रूपी शरीर में भी होता है। यह राज्य-रूपी शरीर व्यक्ति रूपी अवयवों से बना है। इन अवयवों की दशा शरीर के अवयवों की सी हैं। शरीर के अवयवों के समान ये व्यक्ति भी, (जो राज्य-रूपी शरीर के अवयव हैं) अपना अपना व्यक्तिगत पृथक् पृथक् कार्य करते हुये भी एकदूसरे पर अथवा समाज पर निर्भर हैं। इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का अस्तित्व कृत्रिम साधनों के अतिरिक्त नैसर्गिक साधनों से आरम्भ होता है। रूसो ने मानव शरीर के साथ राज्य की बड़ी मनोरंजक तुलना की है। मनुष्य के सिर की तुलना राज्य की सर्वोच्च सत्ता से, मानव मस्तिष्क की राज्य के विधान और रीति रिवाजों से, इच्छाओं की न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों से, व्यापार, खेती और उद्योग धन्धों की मुख और पेट से, तथा सार्वजनिक अर्थकोष की रक्त से की है। इंगलैंड के दार्शनिक हर्बट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स आफ सोश्यालजी' (Principles of Sociology) में सुसंगठित समाज और प्राणी-शरीर की बड़ी सुन्दर तुलना की है। उसने दिखलाया है कि प्राणी-शरीर और समाज शरीर दोनों का आरम्भ पहले पहल कीटाणुओं (germs) के रूप में होता है। इन दोनों में समान रूप से निरन्तर वृद्धि क्रिया होती है। ज्यों-ज्यों इनके अंगों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनका असादृश्य बढ़ता जाता है और उनकी बनावट में विशेष जटिलता आती जाती है। सबसे क्षुद्र प्राणी के शरीर की बनावट बिल्कुल साधारण होती है। उसमें पेट श्वास-नली अथवा पसली के अतिरिक्त

और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार समाज अपनी अन-उन्नत दशा में केवल बहादुरों, शिकारियों और भद्दे औज़ार बनाने वालों का एक समुदाय था। ज्यों ज्यों समय बीतता गया समाज का विकास होता गया और उसमें जटि-लता बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों जटिलता बढ़ती गई उसमें श्रम-विभाग होने लगा। प्राचीन काल में भारतवासियों का जाति-भेद इसी श्रम-विभाग के आधार पर था। जिन तत्वों से प्राणियों के शरीर का विकास होता है उन्हीं तत्वों के आधार पर समाज-शरीर का भी विकास होता है। इस प्रकार की समानता दिखाते हुए स्पेन्सर ने प्राणी-शरीर और समाज-शरीर में एक तुलनात्मक भेद प्रकट किया है। वह यह हैं कि प्राणी शरीर की बना-वट सुसंगठित है, प्राणी-शरीर का प्रत्येक अंग परस्पर बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध के साथ एक दूसरे से संबद्ध हैं। इसके विपरीत समाज-शरीर असम्मिश्रित है। उसके अवयव अधिक स्वतन्त्र होने के कारण अधिक पृथक् तथा बिखरे हुये हैं। स्पेन्सर इस भेद को तात्विक भेद मानता है। वह कहता है कि इस भेद के रहते हुये भी दोनों की समानता की जा सकती है, क्योंकि समाज-शरीर असम्मिश्रित होने पर भी सम्पूर्ण चैतन्य है। स्पेन्सर का कथन है कि समाज शरीर और प्राणी-शरीर के उद्देश्यों में विभिन्नता है। समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिये है, सदस्यों (मनुष्यों) का अस्तित्व समाज के लाभ के लिये नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य शरीर में पृथक् पृथक् अवयवों का उद्देश्य अपना अपना कार्य करते हुये सम्पूर्ण शरीर की सेवा करना है, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हैं शरीर के अवयवों का लाभ शरीर के लाभ पर ही निर्भर है। स्पेन्सर के व्यक्तिवाद का आधार यही भेद है। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध न्यायशास्त्रवेत्ता ऐलबर्ट शेफ़्ले (Albert Shaffle) ने प्राणी-शरीर और समाज-शरीर की तुलना अपने ग्रंथ 'दी स्ट्रक्चर ऐन्ड लाइफ़ आफ़ दी सोशल बौडी' (The Structure and Life of the Social Body) में की है। उसने प्राणी-शरीर और समाज शरीर की शरीर शास्त्र, जीव-विज्ञान और मानव-शास्त्र की दृष्टि से तुलना करके दोनों में आश्चर्य- जनक सादृश्य दिखलाया है। उसने यह बतलाया है। कि समाज एक शरीर है जिसका जीवन-तत्व अथवा अंग मनुष्य है। रूस के प्रसिद्ध समाजशास्त्र वेत्ता पाँल लीलिन फेल्ड ने भी दोनों की तुलना करके समानता दिखाने का प्रयत्न किया है। उसने अपनी पुस्तक 'थाट्स कनसर्निंग दी सौशल साइंस आफ़ दी फ्यूचर' (Thoughts Concerning the Social Science of the Future) में सावयव सिद्धान्त का

पूर्ण रूप से समर्थन किया है। उसने समाज के मनोविज्ञान और समाज शरीर को भली प्रकार से समझा कर उसकी प्राणी-शरीर के साथ तुलना की है और दोनों की समानता का स्पष्टीकरण किया है। आगस्ट कामटे (August Comte), टार्ड (Tarde), लिटार्नो (Letourneau), डिग्रेट (De Great), फौली (Fowllee) और रनदर्म्स (Rene-worms) आदि फ्रेंच दार्शनिकों तथा जर्मन राज-शास्त्र वेत्ताओं ने भी सावयव-सिद्धान्त का समर्थन किया है।

जो लोग इस सिद्धान्त के विरोधी हैं उनका यह कहना है कि प्राणी के शरीर के तत्वों की और सुसंगठित राजनैतिक समाज-शरीर के तत्वरूप मानव-प्राणियों की तुलना करना, कदापि ठीक नहीं है। प्राणी-शरीर के रक्तकण केवल द्रव्य (Matter) के टुकड़े हैं जिनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, न इनमें कोई स्वतन्त्र इच्छा शक्ति ही है। ये जीवन की सहायता करते हैं। यदि इन्हें शरीर से पृथक् कर दिया जाय तो ये जीवित नहीं रह सकते। राजनैतिक समाज के तत्वों की दशा इसके बिल्कुल विपरीत है। इसके तत्वों (व्यक्तियों) को यदि संगठन से पृथक् कर दिया जाय तो ये जीवित रह सकते हैं। इनमें इच्छा शक्ति है, दूरदृष्टि है, आत्मसंयम की शक्ति है; इनमें स्वतन्त्र जीवन और गति है। इनमें उस शरीर से जिसके यह अङ्ग हैं स्वतन्त्र आधिभौतिक जीवन हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपना जीवन व्यतीत करने की शक्ति रखता है। उसके अपने निजी कार्य समाज के केन्द्रीय अवयवों से संचालित नहीं होते। प्राणी शरीर के रक्तकणों में इस प्रकार की शक्तियां नहीं हैं। इनमें व्यक्ति के समान गुण, बुद्धि, प्रतिभा, स्वतन्त्रगति आदि नहीं हैं। एक व्यक्ति समाज से पृथक् होकर भी व्यक्ति ही रहता है परन्तु यह बात प्राणी शरीर के तत्वों के लिये नहीं कही जा सकती। शरीर से पृथक् होने पर शरीर के तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। वृद्धि, विकास, विनाश और मृत्यु के जो नियम प्राणी शरीर में कार्य करते हैं वे राजनैतिक समाज-शरीर में कार्य नहीं करते। इसी प्रकार की बहुत सी बातें हैं जिनके कारण प्राणी-शरीर और समाज-शरीर की तुलना करना कठिन हो जाता है और इन सब बातों पर विचार करते हुए सावयव सिद्धान्त निराधार प्रतीत होता है।

राज्य की उत्पत्ति पर टिप्पणी—राज्य की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। कुछ राजशास्त्र वेत्ताओं ने शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास बतलाया है। जैन्क्स का विचार है कि राज्य

के विकास का युद्ध कौशल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक काल के प्रत्येक राज्य का विकास युद्ध द्वारा ही हुआ है। निस्सन्देह आधुनिक राज्यों को आत्मरक्षण के लिये युद्ध करना पड़ता है। परन्तु उनको युद्ध का परिणाम समझना भूल है।

कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का विचार है कि राज्य का विकास ईश्वरांश—सिद्धान्त के अनुसार हुआ। इतिहास में ऐसा भी समय आ चुका है जब राजा देवताओं के सदृश माना जाता था। उसे ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था और देवताओं की भांति पूजा जाता था। ऐसी स्थिति में राजाओं ने ईश्वरीय प्रतिनिधि बनकर प्रजा पर भांति भांति के अत्याचार किये और परलोक के भय के कारण प्रजा ने इस लोक में अनेकों कष्ट सहे। यदि कोई श्रेष्ठ राजा सिंहासन पर बैठता था तो समझते थे कि ईश्वर प्रजा से प्रसन्न है इसलिये अच्छा राजा भेजा गया है। यदि राजा अत्याचारी होता था तो प्रजा सोचती थी कि उनके पापों के कारण ऐसा अत्याचारी शासक भेजा गया है और शान्ति पूर्वक उसके अत्याचारों को सहन करते थे। यह सिद्धान्त भी निर्मूल प्रतीत होता है।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुयायियों का यह मत है कि प्राकृतिक दशा में मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। एक दूसरे पर मात्स्य-न्याय के अनुसार अत्याचार करते थे, अथवा शान्तिपूर्वक श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते थे। हाब्ज़ के अनुसार मात्स्य न्यायानुसार जीवन व्यतीत होता था। लॉक के अनुसार मनुष्य सामाजिक दशा में तो थे परन्तु आपसी झगड़ों का निर्णय करने के लिये और प्राकृतिक विधानों का ठीक ठीक अर्थ समझाने वाली कोई शक्ति न थी, अतः राज्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। रूसो के अनुसार मनुष्य में उस समय तर्क बुद्धि (reason) का विकास नहीं हुआ था। बड़ा आनन्दमय जीवन था। भ्रातृभाव से जीवन व्यतीत करते थे। 'मेरे' 'तेरे' के भाव लोगों में न थे। जब से मनुष्यों में युक्ति (reason) ने प्रवेश किया, लोगों में चालाकी आई और राज्य स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। एक अनुबन्ध में बंध कर राज्य स्थापित किया गया। यह सिद्धान्त भी हमारी समझ में नहीं आता यद्यपि इस सिद्धांत ने योरप में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

कुछ लोगों का यह मत कि पैतृक तथा मातृक सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास हुआ है बड़ा ही विलक्षण प्रतीत होता है। प्राचीन काल के पैतृक तथा मातृ-वंश-प्रधान राज्यों से आधुनिक काल के राज्य बिल्कुल भिन्न

हैं। आधुनिक राष्ट्रों का संगठन बहुत ही पेचीदा है। उनकी शक्ति भी अधिक विस्तृत है। परन्तु इस विकास को किसी एक नियम के अनुसार क्रमबद्ध दिखाना असम्भव है। बहुत से राज्यों ने जिस बात को बड़े प्रयत्न से सहस्रों वर्षों में प्राप्त किया, दूसरे राज्यों ने उसकी नक़ल कुछ ही दिनों में करके वैसे ही बन गये। अतः इस प्रकार राज्य का विकास होने का केवल एक यही कारण नहीं माना जा सकता।

जैसा कि विकास सिद्धान्त के अनुयायियों का मत है कि शनैः शनैः पारिवारिक जीवन की उन्नति होती गई और अन्त में वह राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो किसी अंश तक स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इस सिद्धान्त का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। वास्तव में मनुष्यों का प्राचीन काल का जीवन बहुत साधारण था। ज्यों-ज्यों मनुष्य के जीवन में जटिलता आती गई मनुष्य की सब बातें जटिल होती गईं। मनुष्य का राजनैनिक जीवन भी जटिल होता गया और होते होते वर्तमान दशा को प्राप्त हुआ है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो सम्भव सा प्रतीत होता है।

सावयव सिद्धान्त के अनुयायियों ने राजनैतिक समाज की मनुष्य के शरीर से तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार मनुष्य का शरीर एक पूर्ण वस्तु है और शरीर के अवयव उसके अभिन्न अंश हैं इसी प्रकार राजनैतिक समाज भी एक पूर्ण वस्तु है और उस समाज का अवयव अर्थात् मनुष्य उस समाज का अभिन्न अंश है। इन दोनों की तुलना करने में जो समानना दिखाई गई है वह भी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। दोनों में इतनी अधिक समानता तो नहीं है परन्तु हाँ थोड़ी बहुत सामानता अवश्य मानी जा सकती है। यह सिद्धान्त भी किसी अंश तक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

इन सब सिद्धान्तों पर दृष्टि डालने से प्रकट होता है कि किसी एक सिद्धान्त द्वारा राज्य के विकास को दिखाना उचित नहीं है। इसमें सन्देह भी नहीं है कि आज्ञापालन का भाव लोगों में उत्पन्न होने के पश्चात् राज्य का विकास हुआ हो। राज्य का विकास भी सामाजिक परिवर्तनों का एक अंश है। एकस्वार्थ, भौगोलिक एकता, सहनिवास, समान-जाति समान-भय आदि अनेक कारण मिलकर मनुष्यों को संगठित करते है। ये ही राज्य के उद्भव के मोटे मोटे कारण हैं।

आधुनिक कालके कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं का मत इन सिद्धातों से भिन्न

है। कार्लमार्क्स (Karl Marx) ने राज्य को आर्थिक कारणों का परिणाम कहा है। उसका कथन है कि सामाजिक संस्थाओं के समूह राज्य का विकास आर्थिक आधार पर हुआ है। वर्त्तमान राज्य उस प्रकार के संगठन को विशेषता दे रहे हैं जिसके द्वारा पूँजीपति श्रमिकों के श्रम का फल स्वयं भोग रहे हैं। सारांश यह है कि राज्य का उदय इतना जटिल है कि केवल एक ही कारण उसके रहस्य को सुलझाने में असमर्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य के उदय होने के पश्चात् कभी आर्थिक कारण और कभी युद्ध आदि राज्य की उत्पत्ति करने में मुख्य कारण रहे हों। परन्तु राज्य की उत्पत्ति के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें इतिहास की ही शरण लेनी चाहिये और ऐतिहासिक दृष्टि से ही उसकी उत्पत्ति का कारण निर्धारित करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यही एक ऐसा आधार है जो न्याय संगत तथा युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

राज्य की उत्पत्ति का आधार निश्चित करने के लिये हमें निम्नलिखित इन बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—(१) रुधिर-सम्बन्ध, (२) धर्म और (३) राजनैतिक चेतना।

(१) रुधिर-सम्बन्ध—इतिहास से हमको पता चलता है कि अति प्राचीन काल में मनुष्य किसी एक स्थान पर नहीं रहते थे। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य समुदायों में रहते थे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते रहते थे। मनुष्य कुटुम्ब में रहते थे। जो कुटुम्ब आपस में निकट सम्बन्ध रखते थे वे साथ-साथ रहते। इस प्रकार मनुष्य समाज का अति प्राचीन काल का जीवन एक पारिवारिक जीवन था जो रुधिर सम्बन्ध पर निर्भर था। मकईवर (Mc Iver) ने ठीक कहा कि "रुधिर सम्बन्ध से समाज की स्थापना हुई और समाज ने राज्य की।"

(२) धर्म—जिस प्रकार रुधिर-सम्बन्ध का राज्य की स्थापना से घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार धर्म का भी राज्य की उत्पत्ति में विशेष हाथ रहा है। गैटिल (Gettell) का कथन है कि रुधिर-सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं। एक साथ मिलकर देवता की पूजा करने से मनुष्य में अनुशासन और ऐक्य की भावना का उद्भव होना रुधिर-सम्बन्ध से अधिक महत्व रखता है। जो लोग इस धार्मिक संगठन से पृथक थे उनको शत्रुओं के समान समझा जाता था। जेन्क्स का कथन है कि पारिवारिक संगठन में

प्रकार मिलकर सब धार्मिक कार्यों को करते थे। पारिवारिक सिद्धान्त (पैतृक तथा मातृक) के अनुसार रुधिर-सम्बन्ध और धर्म को राज्य की उत्पत्ति का महत्व पूर्ण कारण बताया जाता है।

(३) **राजनैतिक चेतना**—राज्य की उत्पत्ति का तीसरा आधार राजनैतिक चेतना समझी जाती है। मानव जीवन की दैनिक आवश्यकताओं तथा रक्षा और शान्तिमय जीवन व्यतीत करने की इच्छाओं ने मनुष्य को अवश्य राजनैतिक संगठन स्थापित करने के लिये प्रेरित किया होगा। अति प्राचीन काल में लोगों का जीवन अति साधारण था। जब इन लोगों में एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास करके जीवन व्यतीत करने की भावना हुई होगी तब वास्तविक राजनैतिक चेतना का उद्भव हुआ होगा। इसी के साथ साथ उनके राजनैतिक संगठन में जटिलता आती चली गई होगी। एक स्थान पर मकान बनाकर स्थायी रूप से निवास करना, भोजन प्राप्त करने के साधन निश्चित तथा स्थापित करना, अपनी रक्षा के लिये एक पृथक् संगठन स्थापित करना, इत्यादि ऐसी बातें है जो शनैः शनैः मनुष्य को अनुभव हुई होंगी और इसी प्रकार की राजनैतिक चेतना बढ़ती गई जो आज हमें इतनी जटिल दिखाई देती है।

रुधिर-सम्बन्ध, धर्म तथा राजनैतिक चेतना के अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं जिन्होंने राज्य की उत्पत्ति में सहायता की है। उपरोक्त छः सिद्धान्तों ने (शक्ति, ईश्वरांश, सामाजिक अनुबन्ध, पैतृक मातृक विकास और सावयव) पृथक् पृथक् राज्य की उत्पत्ति और रूप को समझाने में सहायता की है। परन्तु यह जानने के लिये कि इस उत्पत्ति में कौनसा सिद्धान्त कितना सत्य है हमें ऐतिहासिक दृष्टि कोण से प्रत्येक का अध्ययन करना चाहिये। ध्यान पूर्वक प्रत्येक के पढ़ने से हमको ज्ञात होगा कि राज्य की उत्पत्ति के वास्तविक कारण क्या है और किस-किस कारण का इस कार्य में कितना हाथ है।

अध्याय ४

राज्य का विकास

पिछले अध्याय में राज्य की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा चुका है। शक्ति-सिद्धान्त के अनुयायियों ने राज्य का आधार शक्ति को ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया। ईश्वरांश सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य की स्थापना ईश्वर के प्रतिनिधि द्वारा बतलाई। सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुयायियों ने विशेषकर हाब्ज, लॉक और रूसो ने १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में यूरोप में हलचल मचादी। कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने पैतृक तथा मातृक सिद्धान्तों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन आधारों से सन्तुष्ट न होकर कुछ राजनीतिज्ञों ने डार्विन (Darwin) के विकास-सिद्धान्त (Theory of Evolution) से प्रभावित होकर उस सिद्धान्त को राज्य की उत्पत्ति समझाने में प्रयोग किया और कुछ अंश तक वे लोग इसमें सफल भी हुये। मानवशास्त्रवेत्ताओं के सावयव सिद्धान्त को कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजनैतिक संगठन के समझाने में प्रयोग करके राज्य का रूप सावयव सिद्धान्त पर स्थिर करने का प्रयत्न किया। इन सब सिद्धान्तों पर हम विचार कर ही चुके हैं। अब हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राज्य के विकास का वर्णन करेंगे। राज्य के विकास का ऐतिहासिक वर्णन क्रमशः निम्नलिखित है—

१—अति प्राचीन काल के प्राच्य साम्राज्य—संसार में अति प्राचीन काल में भारतवर्ष सबसे प्रमुख देश था। सबसे प्रथम राजनैतिक विचारों का उदय भारतवर्ष में हुआ। महर्षि व्यास ने महाभारत में राजनीति के चार पांच सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनके विचार में भारतवर्ष में राज्य सामाजिक अनुबन्ध का परिणाम है। महाभारत काल को व्यतीत हुए लगभग ५००० वर्ष हो चुके हैं। महाभारत में संसार के बहुत से राज्यों का वर्णन आया है। परन्तु उस समय में यूरोप के किसी देश का वर्णन नहीं किया गया है इससे ज्ञात होता है कि उस समय यूरोप में राजनैतिक चेतना न थी। हाँ, महाभारत में महाराजा युधिष्ठिर का चक्रवर्ती राजा होना वर्णन किया गया है। महा-

भारत के युद्ध में उस समय के राजाओं को निमन्त्रण दिया गया था। महाराजा युधिष्ठिर चक्रवर्ती राजा थे, अतः उन्होंने अपने अधीन राजाओं को युद्ध में लड़ने के लिये बुलाया था। उस युद्ध में बहुत से राजाओं ने भाग लिया था। चीन, जापान, रूस तथा अमरीका तक के राजाओं ने युद्ध में भाग लिया था। अमरीका के राजा बब्रुबाहन ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। उस समय भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनपर कौरव तथा पाण्डवों का अधिकार था। वार्षिक कर देने के अतिरिक्त वे राज्य पूर्ण स्वतन्त्र थे। उनका शासन प्रबन्ध अच्छा था। राज्य-प्रबन्ध धर्म के आधार पर था। उसी समय में मेक्सिको और पेरू आदि अमरीकी राज्य उन्नत दशा में थे और वहां के लोग सुख से अपना जीवन व्यतीत करते थे। व्यास के पश्चात् हमको शुक्राचार्य तथा चाणक्य के समय की राजनैतिक दशा का पता चलता है। उम समय एकतन्त्र राज्य-पद्धति के अनुसार शासन प्रबन्ध होता था, प्रजा सुखी थी चाणक्य ने शासन-विज्ञान की बड़ी उन्नति की। उसका अर्थशास्त्र बहुत प्रसिद्ध है। महाभारत काल के पश्चात् बौद्ध काल की राजनैतिक दशा का हमको इतिहास से विस्तृत हाल मालूम होता है। बौद्ध-ग्रन्थों से पता चलता है कि एशिया में भारतवर्ष और चीन आदि अन्य देशों में राजनैतिक स्थिति अच्छी थी। इसके पश्चात् असीरिया, फ़ारिस और मिस्र देशों में राज्य स्थापित हुये और उन सब पर भारतवर्ष की सभ्यता का प्रभाव था। उन देशों ने भारत से ही दर्शन, गणित, ज्योतिष, वेदान्त आदि की शिक्षा ग्रहण की थी।

२—**यूनान के नगर राज्य**—पीकॉक लिखित् 'इण्डिया इन ग्रीस' पुस्तक के पढ़ने से पता चलता है कि जैन तथा बौद्ध काल में भारत के भिक्षुओं ने धर्म-प्रसार के विचार से विदेशों का देशाटन किया। विदेशों को प्रस्थान करने के पश्चात् उन लोगों ने विदेशों में ही उपनिवेश स्थापित किये और वहीं बस गये। 'पीकाक' महाशय ने उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि यूनान में भारतवासी गये और वहाँ बस गये। यूनान के प्राचीन दार्शनिक विचार भारतवासियों के विचारों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। प्राचीन यूनान निवासियों का देवताओं में विश्वास उसी प्रकार था जैसा भारतवासियों का। प्राचीन काल के यूनानियों का भारतवासियों के समान 'जीव के आवागमन' में विश्वास था। उस समय यूनान में छोटे छोटे नगर राज्य थे।

यूरोप में सबसे प्रथम यूनान में राज्य सम्बन्धी विचार प्रकट हुये। यूनानियों का उद्देश्य उच्च और आचरण स्पृहणीय था। इसका उनके राष्ट्रीय

विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। प्लैटो का कथन है कि 'अतिशय उन्नत राष्ट्र वही है जो मनुष्य के बहुत पास तक पहुँचे।' एक अङ्ग में कष्ट होने से जिस प्रकार सारे शरीर को कष्ट पहुँचता है उसी प्रकार उन्नत राज्य में, राज्य रूपी शरीर पर उसके मनुष्य रूपी अङ्गों पर सुख दुःख का प्रभाव पड़ता है। प्लेटो राज्य को चेतन शरीर मानता था। उसने सावयव सिद्धान्त की पुष्टि की। उसके मतानुसार राज्य की उन्नति और पूर्णता ही नागरिकों का अन्तिम ध्येय होना चाहिये। इसी उद्देश्य की पूर्ति में नागरिकों को अपनी सब शक्ति लगा देनी चाहिये। बुद्धिमान, दूरदर्शी, राजनीति में निपुण व्यक्तियों का कर्त्तव्य राज्य में शासन करना है। वीर क्षत्रियों का धर्म राज्य का संरक्षण करना है। धनोपार्जन में लगे हुये व्यक्तियों का कार्य ऊपर लिखी दोनों श्रेणियों के पुरुषों की सेवा करना और उनके अधीन रहना है। सारांश यह है कि राज्य रूपी शरीर के प्रत्येक अङ्ग को अपनी अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार राज्य की सेवा करनी चाहिये।

अरस्तू ने भी अपने गुरु प्लैटो के समान नागरिकों का अन्तिम उद्देश्य 'राज्य की उन्नति' ही समझा था। उसका विचार था कि मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है। राज्य मनुष्यों द्वारा ही बना है। राज्य एक स्वतन्त्र शरीर है। राज्य मनुष्यों के स्वार्थ का साधन नहीं है। उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य है। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि यूनानी राज्यों में राज्य की शक्ति अपरिमित सीमा तक पहुँच गई। नागरिकों का अस्तित्व राज्य के सम्मुख कुछ भी न था। यूनान के सम्पूर्ण नागरिक अपने आपको राज्य का एक अंग समझते थे और राज्य के लिये अपने जीवन को न्योछावर करने के लिये सर्वदा उद्यत रहते थे। यूनान में स्पार्टा और ऐथन्स राज्यों ने बड़ी उन्नति की थी। स्पार्टा में नागरिकों के स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान दिया जाता था। सैनिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य थी। जीवन कठोर था। पैदा होते ही बच्चे को एक रात के लिये बाहर रख दिया जाता था अगर वह जीवित रह जाता था तो उसको पाल लिया जाता था और ऐसा विचार था कि इस प्रकार का बालक भविष्य में स्वस्थ रहेगा और जीवन की कठिनाइयों का सफलता पूर्वक सामना कर सकेगा। बालकों को बारकों में रहना पड़ता था। सब साथ साथ सामान्य आवास में रहते थे और सामान्य (common) रसोई में भोजन करते थे। शारीरिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। मानसिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। इसके विपरीत ऐथन्स में मानसिक उन्नति की

ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नागरिकों की शारीरिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। नागरिकों के स्वास्थ्य की उन्नति करते हुये उनकी मानसिक तथा आत्मिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। यूनान में उस समय छोटे छोटे नगर राज्य थे। प्रत्येक नागरिक राज्य के शासन-कार्य में भाग लेता था। नगर का विधान बनाने तथा अन्य विशेष कार्य करने के लिये नगर के सब नागरिक एकत्रित होकर सभा में बैठते थे और विधान बनाते तथा शासकों का निर्वाचन करते थे। यूनानियों का शासम प्रबन्ध बड़ी उन्नत दशा में था। यूनान के नगर-राज्य एक दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र थे। उनमें आपस में किसी प्रकार का संगठन न था। वे आपस में युद्ध भी करते थे उनमें परस्पर मित्रता न थी और एक-दूसरे से वे द्वेष मानते थे। परिणाम यह हुआ कि जब विदेशियों का आक्रमण हुआ तो वे मिल कर न लड़ सके और अन्त में एक एक करके पराजित हुये। यूनान में इन नगर राज्यों में एक विशेष दोष यह था कि वहां सब नागरिकों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनान की प्रजा साधारणतया तीन भागों में विभाजित थी हैलन्स, हैलट्स और ऐल्यन अर्थात् यूनानी, दास और अदेशी। इनमें यूनानियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। ये लोग कोई विशेष व्यवसाय नहीं करते थे। इनकी शिक्षा केवल राज्य-कार्य अथवा राज्य-रक्षा के लिये होती थी। इनका कार्य केवल राज्य-प्रबन्ध करना अथवा युद्ध में लड़ना था। राज्य की ओर से इनकी जीविका का प्रबन्ध होता था। दूसरी श्रेणी के लोग दास कहलाते थे, इनका कार्य धन उपार्जन करना तथा अन्य दस्तकारी आदि कार्य करना था। तीसरी श्रेणी के लोग विदेशी थे जो व्यापार के लिये यूनान में रहते थे। ये राज्य-प्रबन्ध में भाग नहीं ले सकते थे, न शासकों को निर्वाचित कर सकते थे। परन्तु न्यायालयों में नागरिकों की भाँति अपने मुकद्दमे लड़ सकते थे। ये दास नहीं समझे जाते थे। सरांश यह है कि यूनानियों के छोटे छोटे नगरराज्यों के आपस के द्वेष तथा आन्तरिक प्रजा-विभाग के कारण विदेशियों के आक्रमण के समय शीघ्र संगठन न होने से ये परतन्त्रता के बन्धन में जकड़ गये। मैसिडन तथा रोम वालों ने इन पर आक्रमण करके इनकी स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया, और अन्त में रोम साम्राज्य के प्रान्तों में इन छोटे राज्यों का परिवर्तन हो गया।

३—रोम का सार्वभौम साम्राज्य—रोम साम्राज्य का विकास यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों के समान हुआ। आरम्भ में इटली की टाइबर नदी

के किनारे पर छोटे छोटे राज्य थे। यूनान के समान इनकी भूमि भी पहाड़ी थी। इन छोटे छोटे राज्यों के शासक तथा प्रजा मिलकर एक देवता की पूजा किया करते थे। यहां राजतन्त्रीय शासन की प्रथा थी। राज्य में एक राजा होता था जो युद्ध में सेना का नेतृत्व करता था, धार्मिक त्योहारों पर पुजारी का कार्य करता था और शान्ति के समय न्याय तथा राज्य-प्रबन्ध करता था। रोम में भी प्रजा दो भागों में विभाजित थी—पैट्रीशियन्ज और प्लैबियन्ज। पैट्रीशियन्ज उच्च जाति के धनी लोग थे जो शासन प्रबन्ध में भाग लेते थे और नागरिक थे। प्लैबियन्ज को नागरिता के अधिकार प्राप्त न थे और न वे शासनकार्य में भाग ले सकते थे। बहुत काल तक पैट्रीशियन्ज और प्लैबियन्ज का इस विषय पर झगड़ा होता रहा। अन्त में प्लैबियन्ज पर से सब प्रकार का राजनैतिक प्रतिबन्ध उठा लिया गया और किसी प्रकार का भेद-भाव न रहा। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व राजतन्त्रीय शासन का वहां अन्त होगया और गणराज्य (Republic) की स्थापना होगई। दो पुरुशासक (Magistrates) नियुक्त किये गये जो बाद में कौन्सल्ज (Consuls) के नाम से प्रसिद्ध हुये। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पैट्रीशियन्ज और प्लैबियन्ज के झगड़े का अन्त हो गया और दोनों एक होगये। अब दोनों श्रेणियों के लोगों में से शासक निर्वाचित होने लगे।

आन्तरिक शान्ति होने पर रोम वालों ने अपने शासन-प्रबन्ध में उन्नति की। इटली के छोटे छोटे राज्यों को मिलाकर एक सुसंगठित साम्राज्य स्थापित किया। अच्छी अच्छी सड़कें बनवाईं और सुदूर राज्यों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया। इस संगठन के स्थापित करने में कुछ राज्यों ने विद्रोह भी किया परन्तु अन्त में विद्रोह दबा दिया गया और सम्पूर्ण इटली में रोम साम्राज्य की स्थापना हो गई। साम्राज्य के प्रत्येक नागरिक को नागरिकता के अधिकार दे दिये गये। किसी बात का भेद भाव प्रजा में न रहा। बहुत काल से रोम निवासी अफ्रीका यूनान आदि देशों में व्यापार करने के लिये जाया करते थे और व्यापार के लिये अन्य देशों में निवास भी करते थे। ऊपर बताया जा चुका है कि यूनान में अदेशी (aliens) थे जिन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। इन अदेशियों में अधिकतर रोम निवासी थे। जिस प्रकार मध्यकाल में अंग्रेज लोग नाविक जाति (sailors) के नाम से प्रसिद्ध थे उसी प्रकार प्राचीन काल में रोम वाले प्रसिद्ध 'नाविक' थे। उनकी नौशक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। भूमध्य सागर के किनारे के सब देशों से रोम वाले व्यापार करते थे और वहाँ उन्होंने अपने व्यापार-केन्द्र भी स्थापित कर

रक्खे थे। सम्पूर्ण इटली में साम्राज्य स्थापित करने के पश्चात् रोम वालों ने अपनी सेना का संगठन किया। समुद्रतट तक बहुत अच्छी अच्छी सड़कें बनवाई और विश्व विजय करने के लिये निकल पड़े। सबसे प्रथम उन्होंने अफ्रीका के कार्थेज राज्य को विजय किया। इस विजय में सिकन्दर के साम्राज्य का बहुत बड़ा भाग उनके अधिकार में आगया और उनकी नौ शक्ति बहुत बढ़गई। शनैः शनैः उन्होंने यूनान आदि सब यूरोपीय सभ्य देशों पर अपना अधिकार कर लिया। इन देशों पर अधिकार करने के पश्चात् उन्होंने विदेशों पर अपने आक्रमण बन्द कर दिये और विजय किये हुय देशों को संगठित करना आरम्भ कर दिया। ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व रोम वालों ने अपने साम्राज्य को पूर्ण रूप से सुसंगठित कर लिया। सम्पूर्ण साम्राज्य केन्द्रीय शासन द्वारा शासित होता था। साम्राज्य का सबसे बड़ा शासक सम्राट कहलाता था। सम्राट स्वयं अन्य प्रान्तों के शासक नियुक्त करता था तथा उनका परिवर्तन (Transfer) करता था। जब साम्राज्य की स्थापना हुई तो शासन-प्रबन्ध में भी परिवर्तन हुआ। गण-राज्य के स्थान पर सैनिक स्वेछाचारी शासन स्थापित हुआ! सम्राट (Emperor) ही सर्वे-सर्वा था। लोक सभायें तो थीं परन्तु उनको कोई विशेष अधिकार न थे। राष्ट्रीय सभा (Senate) के हाथ में बहुत अधिकार थे परन्तु उसकी रचना का अधिकार सम्राट को था। अतः सम्राट के विरुद्ध सीनेट भी शक्ति हीन थी। सम्राट की आज्ञा ही विधान थी।

दूसरी शताब्दी के अन्त में साम्राज्य पूर्ण रूप से शक्तिशाली हो गया था। सम्राट की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। सैनिक शक्ति भी बहुत बढ़ गई थी। साम्राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता का अधिकार प्राप्त था। इस समय रोम में ईश्वरांश सिद्धांत का उद्भव हुआ सम्राट ईश्वरीय प्रतिनिधि समझा जाने लगा। यहाँ तक कि वह देवता के समान पूजा जाने लगा। जब ईसाई धर्म राज्य-धर्म घोषित कर दिया गया तब लोगों का यह विश्वास हो गया कि सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर का दूत है। इस प्रकार प्राचीन काल का जनतन्त्र नगर-राज्य सार्वभौम-साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। यूनानियों का स्वाधीनता, जनतन्त्र तथा स्थानीय स्वतन्त्रता का आदर्श रोम वालों के ऐक्य, व्यवस्था, सार्वभौम-विधान तथा विश्वबन्धुता के आदर्श में परिणत हो गया। रोम वालों ने संसार के सामने एक बड़ा सुन्दर राजनैतिक-संगठन रक्खा। उनकी शासन-प्रणाली बड़ी उच्च कोटि की थी। उन्होंने अपने साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से सुसंगठित किया था। उस समय में रोम

वालों की शासन प्रणाली सभ्य संसार में सबसे अच्छी समझी जाती थी। रोम वालों ने लगभग ५०० वर्ष पाश्चात्य प्रदेशों में तथा १५०० वर्ष प्राच्य देशों में राज्य किया। नियम तथा राजनीति में रोम वाले तत्कालीन सम्पूर्ण जातियों से आगे बढ़ गये। राजनीति को कार्य रूप में प्रयोग करने में वे ही सबसे प्रथम समर्थ हुये। यही कारण है कि रोम के लोगों का संसार पर यूनानियों से अधिक प्रभाव पड़ा। आरम्भ में रोम वालों ने राष्ट्रीय विचारों में यूनानियों का अनुकरण किया। सिसरो ने राजशास्त्र लिखने समय यूनानियों को अपना आदर्श बनाया था। रोम के न्यायाधीश तथा विधान-निर्माता यूनानी दार्शनिकों के अनुगामी थे। सिसरो की सम्मत्ति में 'राज्य' ही एक ऐसा सात्मिक चेतन शरीर है जिसके बनाने में मनुष्य समाज ईश्वर के कुछ समीप तक पहुँच गया है।

सिसरो ने राज्य की सात्मिकता का समर्थन किया है। रोम वाले राष्ट्रीय विचारों में यूनानियों से बहुत आगे बढ गये। रोम वालों ने नैतिक नियमों को राजनैतिक नियमों से पृथक् किया। देश-प्रथा, सदाचार तथा धर्म से राजनैतिक नियमों को पृथक करके रोम वालों ने वैयक्तिक तथा पारिवारिक स्वतन्त्रता के भाव मनुष्यों में उत्पन्न किये। परन्तु नागरिकों का अन्तिम ध्येय राज्य की उन्नति ही स्थिर किया। राज्य की इच्छा और शक्ति का विरोध कोई नागरिक नहीं कर सकता था। रोम वालों ने जन-समाज और राज्य का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से समझाया। उन्होंने बतलाया कि जन-समाज ही राज्य है और उसकी इच्छा ही राज्य-विधान का स्रोत है। इस प्रकार नागरिक राज्य के स्थान पर जातीय राज्य की स्थापना की। रोम वालों ने सबसे प्रथम नागरिक नियमों के साथ साथ अन्तराष्ट्रीय नियमों का निर्माण किया। रोम को राजधानी बनाकर एक सार्वभौम राज्य की स्थापना की। यूनानियों के राज्य नगर ही से सम्बद्ध थे। इनको सार्वभौम राज्य-निर्माण का ज्ञान न था। ऐसा प्रतीत होता है कि सार्वभौम राज्य-निर्माण की योजना रोम वालों को भारतवासियों से प्राप्त हुई होगी क्योंकि भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल में सार्वभौम राज्य की प्रथा प्रचलित थी सार्वभौम राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से भारतीय सम्राट अश्वमेध किया करते थे।

रोम वालों ने सभ्य संसार को विधान दिया और लगभग १५०० वर्ष तक संसार के बहुत बड़े भाग पर राज्य किया। उनकी राजनैतिक संस्थाओं का प्रभाव आज तक संसार में व्याप्त है। शासन-प्रबन्ध में रोम वालों ने बड़ी ख्यति प्राप्त की थी। परन्तु फिर भी रोम वालों का राज्य

स्थायी रूप से स्थिर न रह सका। इसके पतन के अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह था कि ऐक्य स्थापित करने के ध्यान में वे लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भूल गये। ऐक्य के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान किया गया। दूसरा कारण यह था कि उनके शासन प्रबन्ध का विशेष लक्षण राज्य-शासन की सुव्यवस्था था। इस सुव्यवस्था में नैतिक सिद्धान्तों को ठुकराया गया। परिणाम यह हुआ कि उच्चश्रेणी के लोगों में दुराचार बढ़ गया, दुराचार और दुष्चरित्रता के कारण शासन प्रबन्ध कलुषित हो गया और रोम साम्राज्य का पतन हो गया। तीसरा कारण यह था कि उनके शासन काल के अन्त में यूरोप में भयंकर प्लेग फैला जिनमें सहस्रों मनुष्यों की मृत्यु हो गई। शासक और शासित दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए चौथा कारण यह था कि साम्राज्य की आर्थिक दशा सुसंगठित तथा दृढ़ न रही। आर्थिक दशा के बिगड़ने से शासन प्रबन्ध दूषित हो गया और साम्राज्य का अन्त हुआ। पाँचवा कारण यह था कि सम्राटों के उत्तराधिकार के विषय में कोई विशेष विधान न था। परिणाम यह हुआ कि शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार ही अन्त के शासकों ने राज्य किया। जब शासक की शक्ति में कमी हुई प्रजा ने विद्रोह किया और एक एक करके अधीन राज्य स्वतन्त्र हो गये। छठा कारण यह था कि ईसाई धर्म में विकिरण हुआ। धार्मिक विभाजन होने के कारण फूट पड़ गई और जब उत्तर की ओर से बर्बर टयूटन जाति के आक्रमण हुए तो ये लोग उन्हें न रोक सके और अन्त में पराजित हुए। यूनान और रोम के दोषों और गुणों की तुलना करते हुए गैटिल ने कहा है कि "यूनानियों ने बिना ऐक्य के लोकतन्त्र की उन्नति की, रोम वालों ने बिना लोकतन्त्र के ऐक्य स्थापित किया।"

टयूटन लोगों के राजनैतिक विचार—टयूटन लोगों ने रोम के भिन्न भिन्न प्रान्तों को एक एक करके विजय किया। कहीं कहीं रोम के सम्राटों ने विपत्ति के समय टयूटन राजाओं से सहायता ली। मध्यकाल में यूरोप में टयूटन लोगों का बोलबाला हो गया, टयूटन लोगों का स्वभाव रोम वालों से भिन्न था। उन्होंने रोम साम्राज्य की शक्ति को नष्ट करके यूरोप में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधि शासन की नींव डाली। टाइटिस ने लिखा है कि जर्मन राजा जन-सभा तथा जन-समिति के परामर्श से सब कार्य करते थे। टयूटन लोग वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। अतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये वे सदैव युद्ध करने के लिये उद्यत रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्यकाल में व्यक्ति, परिवार, व सभासमितियों को

पूर्वापेक्षा अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। टयूटन लोग जातीय कार्यों में भी राज्य की शक्ति को निरंकुश न मानते थे। साम्राट का ईश्वरीय रूप उनको स्वीकार न था। सम्राट् की आज्ञा पर चलने से पूर्व वे अपनी इच्छा प्रकट कर देना आवश्यक समझते थे। सावयव सिद्धान्त को वे नहीं मानते थे। उनका यह विचार था कि बिना जनता की सम्मति लिये राजा कोई विधान नहीं बना सकता। राज्य की सत्ता का स्रोत वे व्यक्तियों को ही समझते थे। इसीलिये राज्य की शक्ति को उन्होंने भिन्न भिन्न नागरिक तथा नागरिक संघों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक नागरिक तथा नागरिक संघ एक दूसरे की शक्ति को निरंकुश होने से रोकता था।

४—**सामन्तिक राज्य** (Feudal State)—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के भावों की उन्नति होने से व्यक्तियों के राजनैतिक अधिकार भी बढ़ गये। प्रांतों पर व्यक्तियों का वंशागत स्वत्व स्थापित हो गया। राज्य कार्यों का करना भार समझा जाने लगा। सामन्ती राजुलों (Feudal Lords) के समुत्थान से यूरोप में रोमन काल के समान राजनैतिक एकता न रही। भिन्न भिन्न यूरोपीय राज्यों का रोम के साथ एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो गया। पोप की स्थिति के कारण यूरोप की धार्मिक एकता नष्ट न हुई। रोम यूरोप की राजनैतिक राजधानी न रहने पर भी चिरकाल तक धार्मिक राजधानी बना रहा।

जब रोमन साम्राज्य का अन्त हुआ तो भिन्न भिन्न प्रान्तों के शासकों ने अपने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। यही राज्य सामन्तिक राज्यों में परिवर्तित हो गये। प्रान्तीय शासक सामन्ती राजुल बन बैठे। अपनी शक्ति को स्थिर बनाने के लिये उन्होंने अपने राज्य के छोटे छोटे भाग करके उन्हें अपने विश्वासपात्र सैनिक और सरदारों को सौंप दिया। उन्हें भूमि पर पूर्ण अधिकार दे दिया, केवल यही शर्त थी कि विपत्ति के समय वे अपने शासक (सामन्ती राजुल) को धन-जन से सहायता करेंगे। इन सरदारों ने अपनी अपनी भूमि को छोटे छोटे भागों में विभाजित करके अपने से छोटे सरदारों और जमींदारों को दे दिया। इन जमींदारों ने किसानों को दिया और किसानों ने दासों से भूमि जोतने अथवा बोने का कार्य लिया। इस प्रकार सामन्ती राजुलों से लेकर दासों तक राज्य भिन्न भिन्न भागों में विभाजित हो गया। इस प्रकार शासक और शासितों की क्रमबद्ध श्रेणियाँ बन गईं जिनमें सबसे उच्चश्रेणी में सामन्ती राजुलों और सबसे छोटी श्रेणी में दासों की गणना होती थी। दासों की भलाई बुराई बड़े बड़े कृषकों के हाथ में थी। यदि ये कृषक

दासों के साथ भला व्यवहार करते थे तो दास इनके लिये आपत्ति के समय जीवन तक न्यौछावर कर सकते थे वरना ऐसा भी अवसर आ जाता था कि वे बुरा बर्ताव करने पर दासों द्वारा मार डाले जाते थे। अच्छाई इसी में थी कि अपने अधीन दासों के साथ सद्व्यवहार किया जाये और ऐसा ही होता था। इस प्रकार कृषकों का जीवन सुखी रहता था। ये कृषक इसी प्रकार अपने जमींदारों के अधीन थे। आपत्ति के समय उनकी धन जन से सहायता करते थे। जमींदार इसी प्रकार अपने से बड़े ताल्लुकदारों के अधीन थे और जिस प्रकार ये जमींदारों से सेवा लेते थे वैसे ही अपने स्वामी सामन्ती राजुलों की आवश्यकता पड़ने पर सेवा तथा सहायता करते थे। मध्यकाल में यूरोप में यह सामन्त-प्रणाली बड़ी प्रबल तथा शक्तिशाली थी। जिस समय यूरोप में कोई सर्वमान्य सत्ता (common power) यूरोपीय राज्यों को संगठित तथा सुरक्षित रखने वाली न थी उस समय इस सामन्ती प्रणाली ने यूरोप में शान्ति स्थापित रक्खी और जनता की सब प्रकार से रक्षा की। सामन्ती शासन-प्रणाली का आधार व्यक्तिगत भक्ति था। व्यक्ति अथवा जाति अपने स्वामी के आधीन रहते थे और इस प्रकार समाज पूर्णरूप से राजनैतिक बन्धन में बंधा हुआ था। यह एक प्रकार का सैनिक संगठन था जिसमें सैनिक अनुशासन के अनुसार सब कार्य होते थे। इस प्रकार की शासन-प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन और उन्नति करना सम्भव न हो सकता था। क्योंकि तत्कालीन विद्यमान व्यवस्था से सब का हित बँधा हुआ था यदि किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विचार फैलाया जाता तो इसका यही प्रयोजन हो सकता था कि सामन्त शासन-प्रणाली की जड़ पर कुठाराघात किया जाय। सामन्त-प्रणाली कहीं कहीं (उदाहरणार्थ इंगलैण्ड) राजतन्त्र में परिवर्त्तित हो गई। पहले स्वेच्छाचारी राजतन्त्र और फिर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई।

ईसाई धर्म तथा सामन्तिक राज्य—तीसरी शताब्दी के अन्त तथा चौथी शताब्दी के आरम्भ में यूरोप में ईसाई धर्मका प्रचार हुआ। जिस प्रकार ईसाई धर्म-प्रचार के आरम्भ काल में भारतवर्ष में नीची श्रेणी के लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया था वैसा ही उस समय यूरोप में हुआ। आरम्भ में नीची श्रेणी के लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। परन्तु सन् ३३७ में रोमन सम्राट् कॉन्स्टेन्टाइन (Constantine) ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। उसने ईसाई धर्म को राज-धर्म घोषित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म का प्रचार बड़ी शीघ्रता से हुआ। सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में

ईसाई धर्म फैल गया। मध्यकाल में ईसाई धर्म ने यूरोप में बड़ी उन्नति की। ईसाई पोप और पादरियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। यूरोप की भूमि का बहुत कुछ भाग धार्मिक कार्यों के लिये उनको सौंप दिया गया। पोप ईसाई संगठन का सबसे बड़ा अधिकारी, नेता तथा शासक था। सम्पूर्ण यूरोप में ईसाइयों के धार्मिक संसार का पोप सम्राट् बन गया। लौकिक और राजनैतिक शासक तो केवल अपने अपने देश तथा राज्यों के ही शासक थे परन्तु पोप तो संसार भर के सब ईसाइयों तथा धर्मार्थ प्रदान की हुई यूरोप की सम्पूर्ण भूमि का स्वामी था। इस प्रकार पोप बहुत शक्तिशाली हो गया था। रोमन साम्राज्य के पतन तथा सामंत प्रथा स्थापित होने के पश्चात् यूरोप में पोप से बढ़ कर कोई सर्वोच्च सत्ता राजनैतिक तथा धार्मिक विषयों में नहीं थी। सामन्तिक राज्यों की स्थिति ने पोप की शक्ति बढ़ाने में बड़ी सहायता की। पोप ने सामन्तिक शासन-प्रणाली से लाभ उठाया। एक सामन्त को दूसरे सामन्त के विरुद्ध भड़का कर उनमें कभी ऐक्य स्थापित नँ होने दिया और इस प्रकार उनमें विच्छेद करके पोप अपने स्वार्थों की पूर्त्ति करता रहा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में कुछ यूरोपीय राजाओं ने पोप का विरोध करने का प्रयत्न किया। पोप ने उन्हें विधर्मी घोषित करके प्रजा को उनके विरुद्ध भड़काया और इस कार्य में सफल हुआ। चौदहवी शताब्दी के आरम्भ में फ्रान्स के राजा ने पोप का घोर विरोध किया। यहाँ तक कि पोप को रोम से हटाकर फ्रान्स ले गया। उसे आविग्नान (Avignon) में बन्दी की भांति रक्खा और पोप के स्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रौटेस्टैन्ट (protestant) धर्म का प्रचार हुआ। इसी बीच में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई और पोप का प्रभुत्व सदा के उिये उठ गया। धार्मिक भावों के स्थान पर मनुष्यों में राष्ट्रीय भाव जाग्रत हुए। राष्ट्रोन्नति को धर्म से अधिक प्रिय समझा जाने लगा। समय के साथ विचारों में परिवर्तन हुआ।

५—आधुनिक काल के राष्ट्रीय राज्य—यूरोप में प्रौटेस्टैन्ट धर्म फैला। इसके साथ साथ यूरोप में जागृति आरम्भ हुई। प्राचीन शिल्पकला, चित्रकला, विद्या तथा विज्ञान का पुनरुद्धार हुआ। जब विद्या का प्रचार हुआ तो जनता को बहुत सी बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ। मध्यकाल में जो अराजकता यूरोप में फैली उसे रोकने के लिये देश के शासकों को बल प्रयोग करना पड़ा। साधारण जनता तथा व्यापार करने वाले अपने जीवन और धन की रक्षा के लिये शान्ति चाहते थे। इन लोगों ने शान्ति

स्थापित करने में अपने अपने देश के राजाओं को पूर्णरूप से सहायता दी। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। राजाओं की शक्ति प्रबल हो गई। कुछ राजाओं ने रोम के सम्राटों की नकल करके बड़े साम्राज्य स्थापित करने चाहे। इसके विरुद्ध भिन्न भिन्न देशों के राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता स्थायी रूप से स्थिर रखनी चाही। लोगों में एक जाति, एक देश, एक भाषा तथा एक सभ्यता के आधार पर राष्ट्रीय एकता के भाव उत्पन्न किये गये। भौगोलिक, जातीय तथा सांस्कृतिक एकता के आधार पर राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय में मैकिआवेली (Machiavelli), बौदां (Bodin), ग्रोशस (Grotius) आदि राजनीतिज्ञ उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने अपने देशवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव कूट कूटकर भरे। इनके लेखों और ग्रन्थों ने मनुष्यों को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया और अपने देश और राष्ट्र के लिये न्योछावर होना सिखाया। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। फ्रान्स, इटली, जर्मनी आदि देशों के शासकों ने अपने राज्यों को संगठित किया और प्रजा की सब प्रकार की उन्नति की। लोगों की आर्थिक तथा सामाजिक दशा में सुधार किया। रूस में पीटर महान्, आस्ट्रिया में विलियम आदि राजाओं ने बड़े बड़े सुधार किये। इसमें से अधिकतर स्वेच्छाचारी राजा थे जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक शासन किया। कुछ स्वेछाचारी शासकों ने प्रजा को सताया और लोगों पर अत्याचार किये। परिणाम यह हुआ कि लोगों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के भाव जागृत हुए। यदि स्वेच्छाचारी राजाओं ने लोगों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आघात न किया होता तो कभी जनता उनका विरोध न करती और राजनैतिक क्रान्तियाँ न होतीं। ज्यों-ज्यों शासकों ने जनता के वैयक्तिक अधिकारों में हस्तक्षेप किया त्यों-त्यों जनता उनके विरुद्ध होती गई। अन्त में परिणाम यह हुआ कि यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में क्रांन्तियाँ हुईं। कुछ शासकों को गद्दी से उतार कर और कुछ का वध कर प्रजातन्त्र राज्य स्थापित किये गये। कहीं कहीं प्रजातन्त्र राज्य पुनः साम्राज्यों में परिवर्तित हो गये किन्तु इस बार राष्ट्रीयता के आधार पर साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

६—विश्वव्यापी राज्य—मानव प्रकृति का अन्वेषण तथा पर्य्यवेक्षण करने से विदित होता है कि उसकी स्वाभाविक प्रकृति एकता की ओर रहती है। सृष्टि की विभिन्नताओं और विविधताओं में भी स्वभाव से ही वह एकता को दर्शन करने के लिये प्रवृत्त होती है। संसार में अनेक विभिन्नताओं तथा

विविधताओं से घिरी रहने पर भी वह आदर्श "एकता" रखती है। संसार में अनेक मत-मतान्तर हैं परन्तु उन सबका लक्ष्य एक ही है। विभिन्नताओं से निकल कर संसार एकता की ओर दौड़ रहा है। विज्ञान भी इसी बात का अन्वेषण कर रहा है कि प्रकृति के भिन्न भिन्न नियमों में एकता का तत्व निकल आवे। सब दार्शनिक, तथा उच्चकोटि के कवि "एकता" ही की ओर दौड़ रहे हैं। यह प्रवृत्ति सृष्टि के आरम्भ काल से चली आ रही है। वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम के पश्चात् अलेक्ट्रन और एटम रूपी तत्वों का अन्वेषण किया है। संसार के सब धर्म एक सर्वसामान्य सर्वव्यापी तत्व की खोज कर रहे हैं। मनुष्य को तब तक शान्ति न मिलेगी जब तक वह एकता के दर्शन नहीं कर लेगा। राजनैतिक संसार में भी सहस्रों वर्षों से इस एकता को स्थापित करने का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है। प्राचीनकाल के राजशास्त्र-वेत्ताओं ने एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था और आज भी अनेकों इस एकता को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह बात अत्यन्त आवश्यक समझी जा रही है कि मानव समाज को भयंकर युद्धों और नाश से बचाने के लिये किसी प्रकार की राजनैतिक एकता स्थापित की जाय। आधुनिक काल में जो मानसिक क्रान्ति हो रही है वह इसी हेतु हो रहा है। संसार के बड़े बड़े दार्शनिक तथा राजशास्त्रवेत्ता एकता स्थापित करने के प्रयत्न में एक बार असफल हो चुके हैं। लीग आफ़ नेशन्स की स्थापना इस लिये की गई थी परन्तु लीग एकता स्थापित न कर सकी। संयुक्त राष्ट्र (United Nations) की स्थापना भी इसी हेतु हुई है और अब देखना यह है कि एकता स्थापित करने में इसे कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है।

७–सार्वभौमिक राज्य—यूनान के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता अरस्तू (Aristotle) का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से ही राजनैतिक प्राणी है। मनुष्य की किसी विशेषता के कारण राज्य की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसकी प्रकृति ही ऐसी है कि बिना राज्य के वह रह नहीं सकता। मानव समाज को राज्य की अत्यन्त आवश्यकता है। अनेक राजनैतिक दार्शनिकों के सम्मुख प्रश्न है कि क्या भूमण्डल के विभिन्न देश एक राजसंघटन में अपने आपको नहीं बाँध सकते ? मनुष्य-जाति उसके समष्टि रूप में एकतामय है। वह किसी न किसी प्रकार की सर्वसामान्य भावना से प्रेरित होती है। ऐसी दशा में क्या संसार की सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिये एक सर्वमान्य राज्य का आदर्श असंगत है ? यह सत्य है कि संसार में अनेक ऐसे राज्य हैं जो राष्ट्रीय हैं। वे

अपने राष्ट्र में एकता रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु राजनीति के उदार दार्शनिकों को इसमें सन्तोष नहीं होता। उनका विचार है कि राज्य की सर्वोत्तम और सर्वोच्च कल्पना की सिद्धि इन राज्यों से नहीं होती। उनके विचार में सार्वभौमिक राज्य ऐसा होना चाहिये जिसमें सम्पूर्ण मानव जाति के विचार, भावनायें व इच्छायें मूर्त हो उठें। उनके कथनानुसार सार्वभौमिक राज्य ही मानवी प्रगति का आदर्श है। इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन तथा मध्यकाल में भी सार्वभौमिक राज्य स्थापित करने के असफल प्रयत्न किये गये थे। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वर्तमान तथा भविष्य में भी इस प्रकार के प्रयत्न असफल होंगे। संसार विकासमय है मनुष्य के दिव्य गुणों का ज्यों-ज्यों विकास होता जायगा त्यों त्यों इस राजनैतिक आदर्श में सफलता मिलती जायगी। इस उद्देश्य की असफलता का कारण यह रहा है कि बाहरी कृत्रिम साधनों द्वारा एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इसकी सफलता के लिये मनुष्य जाति के अन्तःकरण की एकता की आवश्यकता है। जब तक मनुष्य को आत्मैक्य का दिव्य अनुभव नहीं होगा और वह सृष्टि में ऐक्य का अनुभव न करेगा तब तक राजनैतिक विश्वव्यापी एकता का—सार्व-भौमिक राज्य का—सफलता के साथ स्थापित होना असम्भव है। यदि कोई प्रबल राष्ट्र अपनी स्वार्थ सिद्ध के लिये कोई सार्वभौमिक सत्ता या राष्ट्रीय संघ स्थापित करके संसार में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करेगा तो कदापि सफल न होगा। बाहरी शक्ति के बल पर स्थापित किया हुआ सार्वभौमिक राज्य कभी स्थायी नहीं रह सकता।

सार्वभौमिक-राष्ट्र-निर्माण का सबसे प्रथम प्रयत्न यूरोप में सिकंदर ने किया था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने सूसा पर विवाह के द्वारा यूरोप तथा एशिया को संगठित करने का प्रयत्न किया था। प्राचीन काल की राष्ट्रीय शासन-पद्धति प्रजा-सत्तात्मक थी, परन्तु छोटे छोटे नागरिक राष्ट्रों को 'राष्ट्र संगठन' का ध्यान न था। राष्ट्र-संगठन के अतिरिक्त अन्य कोई विधि सार्वभौमिक राष्ट्रनिर्माण में सहायक नहीं हो सकती। राष्ट्र-संगठन विधि की अज्ञानता से ही यूनानियों को सिकन्दर के एक सत्तात्मक राज्य में संगठित होना पड़ा था। भारतवर्ष में भी यूनान के ही सदृश आर्यों को समुद्र-गुप्त तथा चन्द्रगुप्त के एकमात्र आधिपत्य में संगठित होना पड़ा। एक सत्तात्मक राज्य दूरस्थ राष्ट्रों को संगठित कर सकता है, परन्तु वह संगठन चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता। रोमन लोगों ने प्राचीन काल में अन्य

जातियों की अपेक्षा राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने में किसी अंश तक सफलता प्राप्त की। परन्तु वे साम्राज्य की सब जातियों को 'रोमन' बनाना चाहते थे। यह बात उन्हें स्वीकार न थी। अतः पूर्ण रूप से चिरकाल तक सार्वभौमिक राज्य स्थापित करने में रोमन लोग असफल रहे। अमेरिका ने राष्ट्र संगठन की नवीन विधि अर्थात् संघ शासन अपना कर संसार के सम्मुख एक नवीन राजनीतिक आदर्श रक्खा है और उससे अन्य देशों का उपकार भी हुआ है। इसी विधि के अनुसार फ्रांस, जर्मनी तथा स्विट्ज़रलैंड ने संगठन किया है और भारतवर्ष ने भी अपना नवीन विधान बनाने में बहुत कुछ सहायता अमेरिका के विधान से ली है।

बहुत से राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है सार्वभौमिक राष्ट्रका विचार अस्वाभाविक है। वे निम्न कारणों से इसे अस्वाभाविक समझते हैं—

(१) सार्वभौमिक-राष्ट्र-संगठन की शासन पद्धति को वे राजात्मक समझते हैं। ऐसी शासन पद्धति प्रभुत्व शक्ति के विपरीत है।

(२) व्यक्तियों तथा राष्ट्रों में भेद होता है। मनुष्य राजनैतिक प्राणी है क्योंकि दुर्बल तथा शक्तिहीन है। एक देशीय राष्ट्र सशक्त होने के कारण राजनैतिक जीव नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्यों को संगठन की आवश्यकता होते हुये भी एकदेशीय राष्ट्र को सार्वभौमिक राष्ट्र का सदस्य होने की आवश्यकता नहीं।

(३) मनुष्य शक्तिहीन होने के कारण राज्य की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने के लिये बाध्य है। राष्ट्र सशक्त होने के कारण सार्वभौमिक राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने को बाध्य नहीं है।

(४) यदि सार्वभौमिक राष्ट्र किसी राष्ट्र को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है तो यह अन्याय है और उस राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात है।

(५) मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति के लिये राष्ट्र पर्याप्त है। सार्वभौमिक राष्ट्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

सार्वभौमिक राष्ट्र के समर्थक निम्नलिखित युक्तियों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं—

(१) सार्वभौमिक राष्ट्र की शासन-पद्धति राजात्मक होने के स्थान पर प्रधान सत्तात्मक हो सकती है। इससे राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्ति संरक्षण हो सकती है वर्तमान काल के अन्तर्राष्ट्रीय नियम सार्वभौमिक राष्ट्र संगठन के नियमों के आधार कहे जा सकते हैं।

(२) व्यक्तियों के समान जातियाँ भी दोषपूर्ण और दुर्बल हैं। जिस प्रकार व्यक्तियों को राष्ट्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार ऐसी जातियों को भी सार्वभौमिक राष्ट्र की आवश्यकता है।

(३) जिस प्रकार व्यक्तियों पर राष्ट्र प्रबल है उसी प्रकार सार्वभौमिक राष्ट्र, राष्ट्र पर प्रबल होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति राष्ट्र की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने को बाध्य है उसी प्रकार एक राष्ट्र भी सार्वभौमिक राष्ट्र की प्रभुत्व शक्ति को स्वीकार करने के लिये बाध्य है।

(४) सम्पूर्ण राष्ट्रों के सार्वभौमिक-राष्ट्र संगठन में संगठित हो जाने पर भी सदस्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता पूर्ववत् बनी रहेगी।

(५; संसार में रेडियो, वायुयान, वायरलैस इत्यादि के आविष्कारों न राष्ट्रों का सम्पर्क इतना घनिष्ठ कर दिया है कि अब राष्ट्रों का एक दूसरे से पृथक् रहना असम्भव है। अतः सार्वभौमिक राष्ट्र की स्थापना अनिवार्य है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

विलोबी, डब्ल्यू० डब्ल्यू०—नेचर आफ़ दी स्टेट।

गैटिल, आर० जी०—*रीडिंग्ज़ इन पोलीटिकल साइन्स*।

गैटिल, आर० जी०—*इंट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइन्स*।

जैन्क्स, ई०—*शिप आफ़ दी स्टेट*।

लोवी, आर० ऐच०—*ओरीजिन आफ़ दी स्टेट*।

रूसो, जे० जे०—*सोशल कौंट्रैक्ट*।

ब्लंश्ली—*थ्यौरी आफ़ दी स्टेट*।

अध्याय ५

राज्य का ध्येय और आवश्यकता

प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में राजनीति को 'राजधर्म' के नाम से सम्बोधित किया गया है। अति प्राचीन काल में हमारे जीवन का प्रत्येक कार्य धर्म के अनुसार किया जाता था और उसका करना धर्म समझा जाता था। मनुष्यों को वर्णों के अनुसार अपने अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। मनुष्य के कार्यों का नाम 'मनुष्य धर्म', स्त्री के कार्यों का नाम 'स्त्रीधर्म', गृहस्थ पुरुषों के कार्यों का नाम 'गृहस्थ धर्म' कहलाता था। राजकार्य अथवा शासनकार्य 'राजधर्म' कहलाता था। वेदों और शास्त्रों में भी राजधर्म का वर्णन आया है। महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तर्गत एक पर्व का नाम 'राजधर्मानु-पर्व' है। इस पर्व में राजाओं के कर्तव्यों तथा अन्य राजनीतिक विषयों का वर्णन है। उसमें बताया गया है कि राजा कैसा होना चाहिये ? उसे प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? अच्छे राजा का क्या धर्म है ? राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को राजधर्म कहा गया है। यदि राजा अच्छा होता है तो प्रजा सुखी रहती है और राज्य में सब प्रकार की उन्नति होती है। यदि राजा बुरा होता है तो प्रजा को कष्ट मिलता है और राज्म में सब प्रकार की बुराइयाँ फैलती है। यह कहावत प्रसिद्ध है "यथा राजा तथा प्रजा" अर्थात् जैसा राजा होगा, जैसी उसकी वृत्ति और भावना होगी, प्रजा भी वैसी ही हो जायगी। अतः राजा आदर्श पुरुष होना चाहिये जिससे राज्य प्रवन्ध भी आदर्श हो। उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं होना चाहिये तभी प्रजा का जीवन सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में राज्य के उद्देश्य बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत रूप से वर्णन किये गय हैं। उनमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि राज्य केवल प्रजा की इहलौकिक उन्नति के लिये ही नहीं है, वह तो पारलौकिक उन्नति के लिये भी उत्तरदायी है। इन शास्त्रों में राज्य के उद्देश्य और लक्ष्य बताये गये हैं। प्राचीन यूनानी लोगों का भी राज्य के सम्बन्ध में यही विचार था। वे राज्य को

आदर्श पर पहुँचने का केवल साधन ही नहीं वरन् स्वतः राज्य ही को अन्तिम आदर्श मानते थे। मनुष्यों को वह राज्य का अंशमात्र ही समझते थे। व्यक्तियों के स्वतन्त्र अस्तित्व को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। वे सावयव सिद्धान्त के अनुसार राज्य को एक शरीर की भाँति समझते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार शरीर के अवयवों का कार्य शरीर की सेवा करना है उसी प्रकार व्यक्तियों का कार्य राज्य रूपी शरीर की सेवा करना है। व्यक्तियों को अपना अस्तित्व राज्य के अस्तित्व में विलीन कर देना चाहिये। अति प्राचीन काल से अब तक भिन्न-भिन्न कालों में राजशास्त्रवेत्ताओं ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार राज्य के भिन्न-भिन्न ध्येय बतलाये हैं। इस विषय पर अति प्राचीन काल में हिन्दुओं के विचारों का, प्राचीन काल के यूनानी और रोमन लोगों के विचारों का, मध्यकालीन ईसाई धर्मानुयायी राजशास्त्रवेत्ताओं के विचारों का तथा आधुनिक काल के राजनीतिज्ञों के विचारों का हम पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार राज्य का ध्येय—प्राचीन काल में हिन्दू समाज में धर्म की बड़ी महिमा थी। उसके प्रत्येक कार्य का धर्म से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। जब कभी धर्म पर आघात होता था और समाज उसकी रक्षा नहीं कर सकता था तब जो महापुरुष अपने बाहुबल से धर्म पर आघात करनेवालों का दमन करके समाज को पूर्ववत् व्यवस्थित करता था वह मनुष्य अत्यन्त श्रेष्ठ समझा जाता था। ऐसे मनुष्य को ईश्वर की विभूति समझा जाता था। यहाँ तक कि लोग उसे साक्षात् परमेश्वर ही समझने लगते थे और उसे अवतार मानने लगते थे। अतः श्रेष्ठ राजा के राज्य में राज्य की व्यवस्था अच्छी होती थी और सब प्रकार से प्रजा की भलाई तथा उन्नति की ओर ध्यान दिया जाता था। महाभारत में शान्ति पर्व के अन्तर्गत राज-धर्मानुशासन पर्व में राज्य के ध्येय तथा उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। महाभारत काल से लेकर चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक काल तक राज्य के ध्येय एक ही थे। वे ये हैं—

(क) सार्वजनिक सुख—हिन्दू राजशास्त्र दार्शनिकों के अनुसार प्रजा को सब प्रकार से सुखी रखना राज्य का सर्वप्रथम उद्देश्य था। इसके अतिरिक्त प्रजा के सब व्यक्तियों को धर्मानुसार आचरण करने का भी राज्य आदेश करता था। राज्य की ओर से प्रजा की भलाई के लिये बहुत से कार्य किये जाते थे। धनहीन और दरिद्री लोगों को राज्य द्वारा धन की सहायता दी जाती थी। मनुष्य के आचरणों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

राजा स्वयं प्रजा के लिये एक आदर्श होता था। राजा इस बात को समझता था कि 'मैं प्रजा का आदर्श हूँ, जैसा मैं करूँगा प्रजा भी वैसा ही करेगी !' इस बात को ध्यान में रखते हुये राजा प्रत्येक कार्य करता था। राजा का निजी अथवा सामाजिक जीवन प्रजा से छिपा नहीं रहता था। राजा हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, रामचन्द्र, कृष्ण, युधिष्ठिर, अशोक आदि सब ने प्रजा के हित के लिये जो कार्य किये वे किसी से छिपे नहीं हैं।

(ख) **राज्य में शान्ति**—राजा का कर्तव्य राज्य में शान्ति स्थापित रखना था। प्राचीन हिन्दू राजाओं का साधारणतया यह ध्येय रहता था कि राज्य की वाह्य आक्रमणों से रक्षा की जाय। वाह्य आक्रमणों से भी प्रजा का संहार होता था, खेती नष्ट होती थी तथा अराजकता फैलती थी। राज्य का उद्देश्य वाह्य आक्रमणों से रक्षा करना तथा आन्तरिक अराजकता तथा अनीति को रोकना था। मनुस्मृति के अनुसार राज्य में दण्ड की व्यवस्था थी। भिन्न भिन्न अपराधों के लिये भिन्न भिन्न दण्ड दिये जाते थे। ब्राह्मणों के साथ दया का बर्ताव दण्ड देने में भी किया जाता था। कुछ आनों के अर्थ-दण्ड (जुर्माने) से लेकर प्राणदण्ड तक दिया जाता था। महाभारत में दण्ड का अलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार राजा की सहायता के लिये ईश्वर ने राजा के जन्म से पहिले ही दण्ड को उत्पन्न किया। इसी दण्ड के भय से चराचर प्राणी-मात्र अपने धर्म से नहीं डिगते। देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार करके राजा दण्ड को अन्यायियों पर चलाता था। दण्ड ही वस्तुतः राजा है, वही पुरुष है और वही मनुष्यों के चारों आश्रमों का ठीक रखनेवाला प्रति-भू समझा जाता था। दण्ड ही समस्त प्रजा को आज्ञा देता तथा रक्षा करता था। जब सब सोते हैं, तब दण्ड जागता है। दण्ड को ही बुद्धिमान् लोग धर्म कहते थे। जब समझ बूझ कर अच्छी तरह दण्ड ग्रहण किया जाता है, तब प्रजा में प्रसन्नता होती है। परन्तु जब बिना विचारे ही दण्ड ग्रहण किया जाता है तब राज्य का नाश होता है जहां श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक दण्ड विचरता है, वहाँ प्रजा व्याकुल नहीं होती। दण्ड ही महत्तेज है, जिसका प्रयोग करना नीतिशास्त्रानभिज्ञ मनुष्य के लिये कठिन है, क्योंकि धर्म से विचलित राजा को भी वह बान्धवों सहित मार डालता है।*

कौटिल्य का भी कहना है कि पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के

* देखो मनुस्मृति अध्याय ९; श्लोक १४, १५, १६, १७, १८, १९, २५, २६।

अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है, वही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है। * दंड के द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने अपन धर्म कर्म में ठीक रखकर उचित मार्ग से चलाता है। कौटिल्य ने दण्ड के तीन भेद करके उनके फल भी बताये हैं। एक सुविज्ञात प्रणीत अर्थात् नीतिशास्त्र के ज्ञाता का दिया हुआ दण्ड है जिसका फल प्रजा को धर्म,अर्थ और काम में लगाता है। दूसरा दुष्प्रणीत अर्थात् काम, क्रोध और अज्ञान से दिया हुआ दण्ड है जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है ? तीसरा अप्रणीत अर्थात् जहां दण्ड देना चाहिये वहां न देना है। इसका फल मत्स्यन्याय है। दण्डधर के अभाव में सबल निर्बल को खाते हैं। † परन्तु जब दण्ड द्वारा सबल से निर्बल की रक्षा की जाती है, तो यह भी सबल हो जाता है। दण्ड के तीन रूप हैं—एक दण्ड, दूसरा बल और तीसरा व्यवहार। बल का प्रयोग कामन्दक न दण्ड अर्थ में किया। ‡ महाभारत के अनुसार दण्ड का नाम ही धर्म और व्यवहार है। अतः दण्ड के तीन अर्थ हुए (१) बल वा सेना, (२) व्यवहार वा धर्म व्यवस्था और (३) दुष्टों का नियन्त्रण वा दमन। बल के बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता इसीलिये महाभारत में इन्द्र मान्धाता से कहते हैं कि दुर्बल की रक्षा के लिये ब्रह्मा ने बल की सृष्टि की है। क्योंकि बलहीन की रक्षा करना बड़ा पुण्य है। + शुक्रनीतिसार की यह बात अक्षरशः सत्य है कि बलियों के वश में सभी रहते हैं और दुर्बल के सभी शत्रु होते हैं। छोटे लोगों

---

* दण्डोहि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः ।। अर्थ० अधि० ३, अ० १ ।।

† सुविज्ञात प्रणीतो हि दण्डः प्रजां धर्मार्थकामैर्योजयति ।। १४ ।। दुष्प्रणीतः काम क्रोधाभ्याम ज्ञाना वानप्रस्थपरिव्राजकानति कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् ।। १५ ।। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति ।। १६ ।। बलीयानबलंहि ग्रसते दण्डधराभावे ।। १७ ।। तेन गुप्तः प्रभवतीत ।। १८ ।। अर्थ० अधि० १ अध्याय ४ ।

‡ स्वाम्ममात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारादि सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।। १ ।। नीतिसार सर्ग ४ प्र० ७ ।।

\+ दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्र मान्धातरुच्यते।
अबलन्तु महद्भुते यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। १२ ।। शां० प० अ० ९१।।

की जब यह बात है, तब राजाओं का तो कहना ही क्या है। * शुक्राचार्य का वचन है कि धन और प्रिय वचनों से पहले का अपनाया हुआ आपत्तिकाल में जो राजा की रक्षा करता है, वह बल कहाता है। † ये विचार हिन्दू काल में राज्य तथा राज्य-दण्ड के विषय में थे।

(ग) **प्रगति**—(Progress)--हिन्दू राज्य का अन्तिम ध्येय सर्व प्रकार की उन्नति करना था। राज्य का यह ध्येय था कि मनुष्य-समाज की धार्मिक, आर्थिक. तथा आध्यात्मिक उन्नति हो। मनुष्य को सदाचारी बनाना और कलुषित प्रभावों से बचाना राज्य का कर्तव्य समझा जाता था। धर्म की उन्नति के लिये राजा की नियुक्ति होती है। धर्मोन्नति को सर्वसाधारण की उन्नति कह सकते हैं। गर्भिणी स्त्री जैसे अपने मन के अनुकूल कार्य न करके सदा गर्भ के हित का ध्यान रखती है वैसे ही राजा अपने मनमाने कार्य न करके, वे ही कार्य करता है जिसमें प्रजा की सब प्रकार की उन्नति तथा हित हो। ‡ ऐसा वर्णन अनेक स्थानों पर हमारे 'प्राचीन धर्म-शास्त्रों में राज्य के विषय में आया है।

(घ) **सामाजिक उन्नति**—हिन्दू शास्त्रों के अनुसार राज्य का ध्येय समाज की उन्नति करना और उसकी सब प्रकार की बुराइयों को दूर करना था। महाभारत के शान्ति पर्व में श्वेतकेतु ने बताया है कि राजा का सनातनधर्म प्रजा का रंजन, सत्य रक्षण और व्यवहार की सत्यता (नीरक्षीर न्याय) है। धर्म-संकरता से प्रजा की रक्षा करना राजा का सनातन धर्म है। प्रजा में अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करना राज्य का उद्देश्य तथा ध्येय था। हिन्दू काल में राज्य का सदैव यही ध्येय रहा कि समाज की उन्नति हो। मनुष्यों के सदाचार की उन्नति के लिये राज्य की ओर से शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। प्राचीन काल की शिक्षा और आधुनिक शिक्षा में बड़ा अन्तर है। प्राचीन-काल में धर्म के आधार पर शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों को नगर से दूर गुरुकुलों में रक्खा जाता था जहाँ धर्मशास्त्रों में निपुण वृद्ध-पुरुष ब्रह्म

---

* बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः।
भवन्त्यल्प जनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः॥ ८६७॥ अ० ४

† धनेन प्रिय सम्भाषैर्यतश्चैव पुरार्जितम्।
आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षे सतो बलमिति स्मृतम्॥ शा० अ० ५९॥

‡ यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमर्थे तथा राज्ञाप्य संशयम्॥ ४५॥ शा० अ० ६७॥

चारियों को सब प्रकार की शिक्षा देते थे। समाज में स्त्रियों का बड़ा सत्कार होता था। इसका कारण यह था स्त्रियों को राज्य द्वारा सब प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। बालक और बालिकाओं की शिक्षा में कोई भेद न था। हाँ यह बात अवश्य थी कि उस समय बालिकाओं की शिक्षा नहीं होती थी। बालिकाओं के लिये पृथक् कन्या गुरुकुल थ। गार्गी लीलावती आदि बहुत-सी विदुषी और विद्वान् स्त्रियाँ हुई हैं। राज्य विशेष प्रकार से सामाजिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देता था और समाज के उपकार के लिये राज्य द्वारा मार्ग, चिकित्सालय, धर्मशाला, पौशाला, पाठशाला आदि का प्रबन्ध होता था। उस समय समाज की उन्नति करना ही राज्य का परमधर्म समझा जाता था।

(ङ) **न्याय**—वैदिक काल में राजा राष्ट्र सभा में बैठकर व्यवहारों और विवादों का निर्णय किया करता था। संघ राज्यों में भी संघ-मुख्य व राष्ट्रपति यही कार्य किया करते थे। कालान्तर में धर्म सभा वा धर्माधिकरण * इन्हीं राष्ट्र सभाओं का कार्य प्रायः वैसे ही चलाने लगे, जैसे आजकल प्रिवी कौन्सिल की जुडीशल कमेटी अथवा संघ न्यायालय चलाता है। इन धर्मसभाओं में कितने और किस योग्यता के मनुष्य बैठने चाहिय इस विषय में धर्म शास्त्र वा स्मृति ग्रंथों में विस्तृत वर्णन किया गया है। ये धर्माधिकरण व्यवहार अर्थात् लेन देन, भूमि, सम्पत्ति आदि के विशेष रूप से और साधारण रूप से चोरी, गाली-गलौज और मारपीट के विषयों पर विचार करते थे। मौर्य साम्राज्य में ग्राम पंचायतें ग्राम के विवादों पर विचार करती थीं, जिनमें गोप वा ग्रामाधिकारी न्यायाधीश का आसन ग्रहण करता था। ग्राम-पंचायत चोर को ग्राम से वहिष्कृत कर देती थी। प्रत्येक नगर वा संग्रहण में न्यायालय होते थे, जिनमें आस पास के दस ग्रामों के विवादों पर विचार होता था। इन्हें परगना अदालत कह सकते हैं। इनके ऊपर ४०० ग्राम वाले नगरों वा द्रौणमुखों के न्यायालय थे, जो तहसील वा सब-डिवीज़न की अदालत कहे जा सकते हैं। इनके ऊपर स्थानीय व जिले का न्यायालय था। इनके ऊपर साम्राज्य के दो प्रदेशों के मध्य भाग के न्यायालय तथा इनके ऊपर पाटलिपुत्र के न्यायालय थे तथा सबसे ऊपर सम्राट् का न्यायालय था जिसमें न्यायकर्ताओं के साथ बैठकर सम्राट् व्यवहार पर विचार करता था। न्यायकर्ता को कौटिल्य ने धर्मस्थ कहा है और बताया

---

* जिस स्थान में धर्मशास्त्रानुसार व्यवहार के विवेचन का प्रस्ताव होता है, वह धर्माधिकरण (न्यायालय) कहाता है।

है—कि देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढ़े, रोगी तथा अपने दुःखों को कहने में असमर्थ अनाथों के कार्यों को धर्मस्थ स्वयं कर दें। देश काल का बहाना करके न तो उनके धन का अपहरण करें और न उन्हें तंग करें तथा जो पुरुष विद्या, बुद्धि, पौरुष, कुल आदि के कारण बढ़े हुये हों, उनकी सदा प्रतिष्ठा करें। इस प्रकार का धर्मस्थ छल कपट रहित होकर अपने सब कार्य करें और सबका बराबर निरीक्षण करते हुये जनता का विश्वासपात्र तथा लोकप्रिय बने। * राजधानी व पुर में जो धर्म सभा होती थी उसका सभापति राजा और उसकी अनुपस्थिति में प्राड्विवाक होता था। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक में जो लगभग ईस्वी ५ वीं शताब्दी में रचा गया था। तथा पीछे बने हुये धर्म शास्त्रों में कहा गया है कि न्यायाधीश की गद्दी पर प्राड्विवाक वैठे व धर्म सभा में न्याय करे। शकुन्तला नाटक से पता चलता है कि जब राजा दुष्यन्त धर्मसभा में नहीं गये तब ब्राह्मण मंत्री पिशुण को धर्मासन पर बैठने का आदेश दिया। वादी और विवादी से प्रश्न करने के कारण 'प्राट्' और सत्यासत्य का विवेचन करने के कारण 'विवाक' होता है, इसलिये उसका नास 'प्राड्विवाक' लिखा गया है। अथवा सभ्यों के साथ बैठकर जो धर्माधर्म का विचार करता है वह प्राड्विवाक है। † प्राड्विवाक के सिवा धर्मसभा में और भी सभासद होते थे। मनु का मत है कि प्राड्विवाक के अतिरिक्त तीन सभ्य सभा में होने चाहिये। ‡ कौटिल्य का कथन है कि जनपदसन्धि (सीमाप्रान्त), संग्रह, द्रोण मुख और स्थानीय में अमात्यवत् धर्मस्थ (जज) होने चाहिये। + शुक्रनीति के अनुसार धर्मस्थों

---

* देव ब्राह्मण तपस्वि स्त्री बालक वृद्ध व्याधितानामनाथानाभिसरतां धर्मस्थाः कार्याणि कुर्युः ॥ २८ ॥ न च देशकाल भोगच्छलेनातिहरेयुः ॥ २९ ॥ पूज्या विद्या वृद्ध पौरुषाभिजन कर्मातिशयतश्च पुरुषाः ॥ ३० ॥

† वादिनौ प्रच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यतः।
विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मौ विवक्ति वा ॥ ५८४ ॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

‡ यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥
सोऽस्व कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥ अ० ८

+ धर्मस्थस्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धि-संग्रहे-द्रोहमुख-स्थानीषु व्यावहारिकानर्थान् कुर्युः ॥ ३८ ॥ अधि० ३ आ० १

की संख्या ऊन (odd numbers) रहनी चाहिये, चाहे सात हो या पांच या तीन। जिस सभा में ब्राह्मण बैठे हों, वह सभा यज्ञ समान होती है और राजा उस सभा में कार्यों के सुननेवाले, अच्छे पंडित वैश्यों को नियुक्त करे। राजा द्वारा नियुक्त हो वा अनियुक्त हो, धर्मज्ञाता सभा में बोल सकता है, क्योंकि जो धर्मशास्त्र जानता है, वह दैवी वाणी बोलता है।* शुक्रनीतिसार में बताया गया है कि यज्ञ के समान सभा के कुछ उपकरण भी हैं और यह बताया गया है कि सभा में किसका क्या कर्त्तव्य और क्या अधिकार है। राजा, अधिकारी (प्राड्विवाक), सभासद, धर्मशास्त्र, गणक, लेखक, सुवर्ण, अग्नि, जल और चपरासी ये दस कार्य सिद्धि के अंग बताये गये हैं। इनके सहित राजा जिस सभा में बैठकर न्याय का विचार करता है, वह सभा यज्ञ के तुल्य है। अध्यक्ष वा प्राड्विवाक तो अर्थी वा वादी का लिखित अर्थ वा दावा पढ़कर सुनाये, सभासद व्यवहार की छानबीन करें, स्मृति निर्णय अर्थात् जयदान और दण्ड बतावे और राजा दण्ड दे। शपथ के लिये सोना और अग्नि, प्यासे और क्रोधी के लिये जल, द्रव्यादि गिनने के लिये गणक और निर्णय लिखने के लिये लेखक होना चाहिये। † बृहस्पति का मत है कि सभासद विवाद का विचार करें, प्राड्विवाक निर्णय करे और राजा दण्ड दे।

शुक्रनीतिसार में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया है कि व्यवहार और विवाद का विचार एकान्त में न किया जाय और न राजा अकेला ही यह काम करे; वरंच मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण और प्राड्विवाक के साथ

* व्यवहार धुरं वोढुं ये सक्ता पुङ्गवा इव।
लोक वेदज्ञ धर्मज्ञाः सप्त पञ्चत्रयोऽपिवा ॥ ५४८ ॥
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदशी सभा।
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्त्तव्याः सचिवक्षणाः ॥ ५४९ ॥
अनियुक्तो नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तु महर्ति।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥ ५५० ॥ अ० ४

† नृपोऽधिकृत सभ्याश्च स्मृतिर्गणक लेखकौ ॥ ५५९ ॥
हेमाग्न्यम्बु स्वदुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश।
एतद्दशाङ्गकरणं यस्य मध्यस्थ पार्थिव : ॥ ५६० ॥
वक्ताध्यक्षो नृपः शास्त्रा सभ्याः कार्यपरीक्षकाः।
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जयं दानं दमं तथा ॥ ५६१ ॥
शपथार्थे हिरण्याग्नी अम्बुतृषितक्षुब्धयोः।
गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्यार्यं च लेखकः ॥ ५६२ ॥ अ० ४ शुक्रनीति

विचार करे। इसका कारण पक्षपात की सम्भावना है। पक्षपात के पाँच कारण बताये गये हैं, प्रीति, भय, वैर, लोभ और एकान्त में वादी विवादी की बातें सुनना। * जब राजा धर्माधिकरण में न बैठे, तब वहाँ बैठने के लिये ऐसे ब्राह्मणों को नियत करे जो वेदों के ज्ञाता, जितेन्द्रिय, कुलीन, निरपेक्ष, अनुद्वेगकारी स्थिर बुद्धि, परलोक से डरनेवाले, उद्युक्त और क्रोध रहित हों। यदि ब्राह्मण न मिलें, तो क्षत्रिय और क्षत्रिय न मिलें तो धर्मशास्त्रज्ञ वैश्यों को नियुक्त करे। इनके साथ ही व्यवहार के ज्ञाता, आचारवान्, गुणी, शत्रु-मित्र में समान भाव रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, निरालस, क्रोध, काम और लोभ को जीते हुये प्रियवादी सभासद सब जातियों से नियुक्त करे। इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि सभासद तो वर्तमान काल की जूरी का कार्य करते, वेद के ज्ञाता ब्राह्मण और उनके अभाव में धर्मशास्त्र के ज्ञाता क्षत्रिय आदि धर्मशास्त्र का मत बताते थे। †

---

* धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोध लोभ विवर्जितः।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मण पुरोहितः॥ ५२८॥
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्।
नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः॥ ६२६॥
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन।
पक्षपाताधिरोपस्व कारणानि च पञ्च वै॥ ५३०॥
रोगलोभ भयद्वेषावादिनोश्चरहः श्रुतिः। शुक्रनीति० अ० ४

† यदा न कुर्यान्नृपतिः स्वयं कार्ये विनिर्णयम्।
तदातत्र नियुञ्जीत ब्राह्मण वेद पारगम्॥ ५३५॥
दान्तं कुलीनं मध्यस्थनुद्वेगकरं स्थिरम्।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठमद्युक्तं क्रोध वर्जितम्॥ ५३६॥
यदा विप्रो न विद्वान्स्यात् क्षत्रियं तन्नियोजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥ ५३७॥
व्यवहार विदः प्राज्ञा वृत्तिशीला गुणन्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥ ५३८॥
निरालसा जितक्रोध कामलोभाः प्रियम्वदाः।
राज्ञा निर्योजितधास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु॥ ५३६॥
कीनाशाःका रुकाः शिल्पिकुसीद श्रेणिनर्त्तकाः।
लिङ्गनस्तस्कंराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम्॥ ५४०॥
भर्तृ प्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथाऽपरः।
तस्माद् यः सहितो दृष्टो भर्तृ प्रत्यय लक्षणः॥ ५०॥

धर्मशास्त्र का ज्ञाता सभापति होता था। सभासदों के विषय में बताया गया है कि जिन लोगों का विवाद हो, उन्हीं के समव्यवसायी ही सभासद बनाये जायें। जैसे किसानों के विवाद में किसान, कारुशिल्पों के विवाद में कारु-शिल्पी, ब्याज लेने वालों के झगड़े में कुसीद जीवी, नाचने वालों के विवाद में नाचने वाले, संन्यासियों के झगड़े में संन्यासी और चोरों के झगड़े में चोर सभासद नियुक्त किये जायें। क्योंकि सम्प्रदाय वाले अपने सम्प्रदाय के नियमों के विषय में विचार कर सकते हैं। महाभारत में दण्ड के स्वरूप के वर्णन में व्यवहार की चर्चा की गई है। कहा गया है कि वादी प्रतिवादी से व्यवहार उत्पन्न होता है। वह दो प्रकार का है, एक कुल के आचरण का उल्लंघन और दूसरा शास्त्र की अवहेलना।

व्यवहार में चार बातें होती थीं पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रिया, और निर्णय। अतः इसकी संज्ञा चतुर्विध न्याय थी। जिनको आजकल वादी प्रतिवादी कहते हैं, उनके प्राचीन नाम थे अर्थी, प्रत्यर्थी। अर्जीदावे को आवे-दन कहते थे। धर्माधिकरण में अपने पक्ष की पुष्टि में अर्थी जो वक्तव्य सुनाता था वह भाषा कहाता था। भाषा को पूर्वपक्ष और प्रत्यर्थी के जवाबदावे को उत्तरपक्ष कहते थे। विचार का नाम क्रिया और निष्कर्ष का नाम निर्णय था। अर्थी प्रत्यर्थी से भिन्न कार्य का ज्ञाता साक्षी कहाता था। व्यवहार के निर्णय में शपथ और साक्षी का भी प्रयोजन होता था। उस समय वकील न थे वकील का कार्य प्राड्विवाक करता था। उसे अर्थी वा प्रार्थी कुछ नहीं देता था। व्यवहार की उत्पत्ति सत्य और मिथ्या दोनों से होती है क्योंकि एक मनुष्य सत्य बोलता है और दूसरा असत्य। सत्यवादी को अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये धर्माधिकरण की शरण में जाना पड़ता है। कभी अर्थी सत्य बोलता है और कभी प्रत्यर्थी। अत: व्यवहार के लिये साक्षी की आवश्यकता होती है। मनु के अनुसार साक्षी को गृहस्थ, पुत्रवान् अथवा पड़ौसी, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र होना चाहिये। जो पहले झूठा माना जा चुका हो, व्याधि पीड़ित हो, पाप से दूषित हो जिसका लेन देन का सम्बन्ध हो, जो मित्र, नातेदार, सहायक व शत्रु हो वह साक्षी नहीं हो सकता। राजा, कारीगर, नट, ब्रह्मचारी, संन्यासी श्रोत्रिय, संघ से निकाला हुआ, दस्यु, निषिद्ध कर्मों से आजीविका करनेवाला, बूढ़ा, बच्चा, अति शूद्र, अत्यन्त दु:खित वा मत्त, क्षुधा, पिपासा से पीड़ित,

---

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेद प्रत्यय उच्यते।
मौनश्च नर शार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथाऽपरः॥ ५१॥ शां० प० अ० १२१

थका हुआ, कामातुर, पागल, क्रोधी और चोर मनुस्मृति के अनुसार साक्षी नहीं हो सकते। * एक साक्षी की बात की पुष्टि यदि कोई दूसरा न करता तो उसी पर निर्णय नहीं होता था। झूठ बोलने वाले साक्षी पर १०० से १००० पण तक दण्ड होता था। मनु के अनुसार ब्राह्मण अपनी सत्यता, क्षत्रिय अपने यान वा सवारी और शस्त्र की, वैश्य अपने अन्न, पशु और सोने की और शूद्र महा पापों को अपने सिर लेने की, शपथ लेता था। लेख्य साक्ष्य का उपयोग किया जाता था। विष्णु स्मृति में तीन प्रकार के लेख्य बताये गये हैं, राजकर्मचारियों द्वारा माने हुए, साक्षियों द्वारा माने हुये और न माने हुए। जिस लेख्य पर साक्षियों के हस्ताक्षर होते थे वह प्रमाणिक माना जाता था। अभियुक्त का दोष अथवा निर्दोषिता सिद्ध करने के लिये जल, अग्नि, तुला, और विष का प्रयोग किया जाता था। चीनी यात्री ह्यूनत्सांग ने बताया है कि अभियुक्त को एक बोरे में पत्थर और धड़े के साथ गहरे पानी में छोड़ दिया जाता था। यदि पत्थर डूब जाता था और वह तैरता रहता था तो निर्दोष और डूब जाता था तो दोषी समझा जाता था यह थी जल की परीक्षा। अग्नि की परीक्षा में अभियुक्त लोहे के तपे बर्तन में बैठाया जाता था। उस पर उसके पैर और हथेलियाँ रखवाई जाती थीं और वह बर्तन उसे चटाया जाता था। यदि जीभ में छाले पड़ जाते थे, तो दोषी वरना निर्दोष समझा जाता था। जो ऐसी परीक्षा से डरते थे, उन्हें फूल की एक कली आग में फेंकनी पड़ती थी। यदि फूल खिल जाता तो निर्दोष और जल जाता था तो दोषी समझे जाते थे। तुला की परीक्षा में एक पलड़े पर अभियुक्त बैठाया जाता था और दूसरे पलड़े पर पत्थर रखा जाता था। भार दोनों का समान होता था। यदि

---

* गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट् शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केनचिदनापदि ॥ ६२ ॥
नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुक कुशीलवौ ।
अ श्रेत्रिय न लिङ्गभ्यो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥
नाध्यधीनो न कर्त्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत ।
न वृद्धो न शिशुर्वैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥
नार्त्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृषापीडितः ।
न श्रमार्त्तो न कामार्त्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥ अ० ८

अभियुक्त निर्दोष होता था, तो पत्थर वाला पलड़ा गिर जाता था और अभि
युक्त वाला उठ जाता था। विषप्रयोग की विधि यह थी कि एक मेढ़े के अं
में घाव करके विष भर दिया जाता था। यदि मेढ़ा मर जाता था त
अभियुक्त दोषी और जीता रहता था तो निर्दोष समझा जाता था।

प्राचीन काल के राजशास्त्र के ग्रन्थों में वकील का वर्णन कहीं न
आया है परन्तु शुक्रनीतिसार में मुख्तार या वकील का वर्णन है। उसमें लिख
है कि जो अर्थी वा प्रत्यर्थी व्यवहार न जानता हो वा अन्य कार्य के कारण
व्याकुल हो तो उसे व्यवहार के ज्ञाता प्रतिनिधि को सदा नियुक्त करना
चाहिये। अप्रगल्भा (जो अपनी बात ठीक ठीक न समझा सके), जड़, उन्मत्त
वृद्ध, स्त्री, बालक, और रोगी के पूर्वपक्ष वा उत्तरपक्ष को प्रतिनिधि अथवा
पिता वा माता, मित्र, भ्राता अथवा सम्बन्धी कहें। * प्रतिनिधि का किया
हुआ कार्य अर्थी व प्रत्यर्थी का ही समझा जाता था। ऐसे प्रतिनिधि को ए
आना रुपया पारिश्रमिक वा वेतन मिलने की व्यवस्था की गई थी। धर्माधि
करण में प्रजा के मुकदमे ही आते थे, चाहे वे दीवानी हों या फौजदार
अर्थात् क्रय-विक्रय, वस्तुविक्रय, लेन-देन, उपनिधि (safe custody)
अप्राप्त व्यवहार (नाबालिग) व्यक्ति के बेचने, वेतन, डाके, गालीगलौज
धर्म की, निन्दा, और मारपीट के सभी मामलों पर वहां विचार होता था
कौटिल्य ने चोरी के मामले पर विचार के लिये कण्टकशोधन न्यायालय की
व्यवस्था की है, परन्तु डाके के मामलों का विचार करने का स्थान धर्माधिकरण
बताया है। अभियुक्त को दण्ड देने के लिये उसके अपराध का विचार कर लिया
जाता था। जो अपराध खुल्लमखुल्ला डण्के की चोटपर किये जाते थे, उनके

---

* व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन च ॥ ६२९ ॥
प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्य्यः प्रतिनिधिस्तदा ।
अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्री बालरोगिणाम् ॥ ६३० ॥
पूर्वोत्तरं वदेद् बन्धुर्नियुक्तो वाथवा नरः ।
पिता माता सुहृद् बन्धुर्भ्राता सम्बन्धिनोऽपि च ॥ ६३१ ॥
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्त्तयेत् ।
यः कश्चित्कारयेत्किञ्चिन्नियोगाद्येन केनचित् ॥ ६३२ ॥
तत्तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवर्त्त्यं हि तत्स्मृतम् ।
नियोगितस्यापि भृतिं विवादात् षोडशांशिकीम् ॥ ६३३ ॥

शुक्रनीतिसार अ०

संज्ञा 'साहस' थी। * छोटे साहस में छोटा दण्ड होता था परन्तु बड़े साहस के तीन भेद थे। प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस। प्रथम साहस दण्ड ४८ से ९६ पण, मध्यम साहस दण्ड २०० से ५०० पण और उत्तम साहस में दण्ड ५०० से १००० पण होता था। साधारण अपराधों के लिये दण्ड की व्यवस्था साधारण थी। तांबा, पीतल, कांच तथा हाथीदांत के बर्तनों के लिये डाका डालने वाले को प्रथम साहस, बड़ेबड़े पशु, मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सुवर्ण, महीन वस्त्रों के लिये डाका डालने वाले को मध्यम साहस दण्ड, और स्त्री वा पुरुष को बलात्कार से बाँधने वा बँधवाने वाले वा राजाज्ञा से बँधे हुये को छुड़ाने वाले को उत्तम साहस दण्ड की व्यवस्था थी। † कौटिल्य ने भी इसकी पुष्टि की है।

चलती गाड़ी रोकने में जो बाधक होता है उसे कण्टक समझा जाता था। राज्य प्रबन्ध में बाधा डालने वाले को शासन का कण्टक समझा जाता था। राज्य के विरुद्ध जो षड्यन्त्र रचते थे वे राज्य के कण्टक समझे जाते थे। इनका नाश करने वाली संस्था का नाम कण्टक शोधन था। कण्टक दो प्रकार के बताये गये हैं। एक में धोबी, सुनार, दर्जी, ताँता आदि शिल्पी, दुकानदार, ब्याज खाने वाले और दूसरे में राज्य को आर्थिक हानि पहुँचाने वाले तथा राज्य के नियमों का उल्लंघन करने वाले थे। अग्नि, चूहे, सर्प, जल, महामारी और बाघ की गणना कण्टक में होती थी। पहले प्रकार के कण्टक प्रजा को ठगने वाल समझे जाते थे क्योंकि वे प्रजा को कष्ट देते थे। धोबी समय पर कपड़ा न देता, खराब कर देता या फाड़ देता था तो वह प्रजा को कष्ट देने वाला समझा जाता था। ताँती या जुलाहा कपड़ा बुनने के लिये अधिक सूत लेता था और उसकी सूचना सूत्रगाध्यक्ष को न देता था तो दण्ड का भागी होता था। थोड़े दामों पर अधिक का माल लेनेवाला चोरी का अपराधी समझा जाता था। ग्राहक के सोने चाँदी में जो मिलावट करता था, उससे कुछ चुरा लेता था या अच्छे माल के बदले में खोटा माल

---

* साहसमन्वयवत्प्रसभ कर्म ॥ १ ॥ अधि० ३ अ० १७

† बृत्तकंसकाचन्दतभांडादीन स्थूल द्रव्याणामष्टचत्वारिंशतपणावरं षण्णवतिपरं पूर्वस्साहस दण्डः ॥ ८ ॥ महापशुमनुष्यक्षेत्रगृह हिरण्य सुवर्ण सूक्ष्म वस्त्रदीनां स्थूलकद्रव्याणां द्विशातावरः पञ्चशतापरः मध्यमस्साहस दण्डः ॥ ९ ॥ स्त्रियं पुरुषं वाभिषह्य बध्नतोबन्धयतो बंधं वा मोक्षयतः पञ्चाशतावरः सहस्त्र पर उत्तमः साहस दंड इत्याचार्याः ॥१०॥ अधि० ३ अ० १७

देता था तो वह दण्ड का भागी होता था। कसेरों और बर्तन बनाने वालों के लिये वेतन, माल की छीजन और दण्ड आदि की व्यवस्था कौटिल्य ने की है। दुकानदार किसी प्रकार भी प्रजा को लूट नहीं पाते थे। दुकानदारी में भ्रष्टाचार के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है।

सरकारी कोष में जाली सिक्के रखने वालों और वहाँ से चोरी करने वालों, गढे हुए धन को बिना प्रमाण अपनाने वालों और राजा को बिना सूचना दिये रोगी की चिकित्सा करने वालों की गणना कण्टकों में की गई है। भलेमानस दिखाई देनेवाले चालाक और मक्कार बनियों, कारीगरों, नटों, भिखारियों और ऐन्द्रजालिकों से भी प्रजा की रक्षा की व्यवस्था की गई है। ऊपर लिखे कण्टकों के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कण्टक भी थे। ये लोग राजकर्मचारी थे। इनके सुधारने के लिये समाहर्त्ता को आदेश था कि समग्र जनपद में संन्यासी, तपस्वी, सिद्ध, निरन्तर घूमने वाले ऐन्द्रजालिक, नट, भांड, भाट, कलवार, हलवाई, पका हुआ मांस बेचनेवाले, रसोइया, आदि के वेष में गुप्तचर नियुक्त करें। ये ग्राम के अधिकारियों की ईमानदारी और बेईमानी का पता लगाकर उनको दण्ड दिलवाते थे। लोक में उपद्रव करने वाले १२ प्रच्छन्न वा अप्रत्यक्ष कण्टक ये बताये गये हैं—धर्मस्थ, प्रदेष्टा, ग्रामाध्यक्ष, झूठा साक्षी, अपने ऊपर भूत प्रेत बुलाने वाला, हत्यारा, विष देने वाला, बेहोश करने वाला, जाली सिक्के बनाने वाला, झूठे कागज तैयार करने वाला, वशीकरणकर्त्ता तथा नकली सोने के व्यापारी। इनसे प्रजा की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। कण्टक पुरुषों का विचार कण्टक शोधन न्यायालय में होता था। आधुनिक काल के स्पेशल ट्राइब्यूनल के ढङ्ग पर यह न्यायालय था। निरपराध को दण्ड नहीं मिलता था। अर्थ दण्ड के अतिरिक्त शारीरिक दण्ड का विधान भी था। यह चार प्रकार का था—छः डण्डे या चार कोड़े मारना, हाथ पैर बांधकर उलटा लटकाना या नाक में नमक का पानी डालना। छोटे-छोटे अपराध करने वालों तथा बालक, वृद्ध, रोगी, भूखे प्यासे, थकेमांदे अथवा अफरकर खाये हुये अपराधियों को डण्डे या कोड़े मारने का निषेध था। ब्राह्मण वा तपस्वी को पकड़ कर इधर उधर घुमाना ही यथेष्ट दण्ड था। गर्भिणी वा एक माह की प्रसूता स्त्री को दण्ड नहीं दिया जाता था। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में चोरी नहीं होती थी। इसका यह कारण है कि कौटिल्य ने ऐसी दण्ड व्यवस्था की थी कि किसी को चोरी करने का साहस ही न होता था। राजकर्मचारियों को जनसाधारण से अधिक दण्ड दिया जाता था। व्यभि-

चारियों और चोरों के लिये नाक कान काटने के दण्ड के साथ ५०० पण दण्ड की व्यवस्था थी। कुटने दूना दण्ड पाते थे। अपने से उत्तम वर्ण के व्यक्ति वा गुरुजनों को हाथ वा पैर से मारने वाले, राजा के यान वा वाहन पर चढ़ने वाले का एक हाथ और एक पैर काट दिया जाता था अथवा ७०० पण दण्ड लिया जाता था। जो शूद्र अपने को ब्राह्मण कहता और देवता के उद्देश्य से दिये द्रव्य का अपहरण करता अथवा ज्योतिषी बनकर राजा का अनिष्ट बताता वा राजा का द्रोह करता वा किसी की दोनों आँखें फोड़ देता तो औषधियों द्वारा वह अन्धा कर दिया जाता वा उसको ८०० पण दण्ड दिया जाता था। स्त्रियों वा कन्याओं के साथ उनकी इच्छा से संग करता तो स्त्री पुरुष दोनों दण्ड के भागी होते थे और यदि अनिच्छा से करता था तो पुरुष दण्ड पाता था। चोर वा व्यभिचारी को छोड़ देने वाले, राजा की आज्ञा को न्यूनाधिक लिखनेवाले, कन्या व दासी को सगर्भ चुराने वाले, झूठा व्यवहार करने वाले और अभक्ष्य पशुओं का मांस बेचने वाले का बायां हाथ और दोनों पैर काट दिये जाते थे। देव सम्बन्धी पशु, प्रतिमा, मनुष्य, खेत, घर, सुवर्ण और रत्न बेचने वाले को प्राण दण्ड मिलता था। बलात्कार स्त्री या पुरुष की हत्या करने, या उसे उठा ले जाने वाले को, नाक कान काटने वालों को नगर या ग्राम से द्रव्य अपहरण करने वाले को, सेंध लगाने वा धर्मशाला से चोरी करने वाले या राजा की कोई वस्तु चुराने वाले को सूली पर चढ़ाने का दण्ड कौटिल्य ने बताया है। सूली पर चढ़े हुए शव को उठा ले जाने वाले को भी यही दण्ड बताया है। लड़ाई झगड़े में यदि कोई किसी को मार डालता था तो उसे कष्ट देकर मार दिया जाता था। चोट खाया मनुष्य यदि ७ दिन में मर जाता था तो अभियुक्त को बिना कष्ट के प्राणदण्ड दिया जाता था। यदि १५ दिन में मरता तो प्रथम साहस दंड और तीन मास पश्चात् मरता तो ५०० पण दण्ड दिया जाता था और चिकित्सा आदि का व्यय भी अभियुक्त से लिया जाता था। किसी स्त्री को मार कर गर्भ गिरा देने वाले को उत्तम साहस दण्ड, औषधि द्वारा गिराने वाले को मध्यम साहस दण्ड और कठोर काम कराके गिराने वाले को प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। किसी पुरुष का अनाचक बध करने वाले या न्यून से न्यून दस पशुओं वा घोड़ों को चुराने वाले को प्राण दण्ड दिया जाता था। जल रोकने वाले, पुल अथवा बाँध को तोड़ने वाले को कौटिल्य ने वहीं डुबा देने की व्यवस्था की है। यदि पुल बिना जल का हो तो उत्तम साहस दण्ड और पहले से टूटा फूटा हो तो मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। यदि

कोई माता, पिता, पुत्र, भाई, आचार्य या तपस्वी की हत्या का अपराधी होता था तो उसके सिर की खाल उतार ली जाती थी या वह जीवित जला दिया जाता था। यदि कोई उन्हें कोसता था तो उसकी जीभ काट ली जाती थी। यदि नोचता खसोटता था तो जिस अंग से ऐसा करता था वह अंग काट दिया जाता था। स्त्री को विष देकर जो पुरुष मार डाले उसे तथा पुरुष को विष देकर मार डाले उस स्त्री को जल में डुबाया जाता था। स्त्री गर्भिणी होती थी तो बच्चा होने के एक मास पश्चात् उसे डुबाया जाता था।

कौटिल्य ने राजकीय अपराधों के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। राज्य लेने का अभिलाषी, रनवास में झगड़ा पैदा करने वाले, जंगलियों और शत्रुओं को उभारने वाले, दुर्ग वा राष्ट्र को राजा से कुपित कराने वाले के सिर और हाथ पैर अंगारों पर रखकर शिरच्छेदन करा दिया जाता था। ब्राह्मण को ऐसे अपराधों के लिये कालकोठरी का दण्ड दिया जाता था। जो व्यक्ति चरागाह, खेत, खलिहान, घर, लकड़ी तथा हाथियों के सुरक्षित जंगलों में आग लगाता था तो उसे आग में जला दिया जाता था। राजा को गाली देने, गुप्त रहस्य प्रकट करने, राजा का अनिष्ट प्रचार करने तथा ब्राह्मण की रसोई से बलात् भोजन लेकर खाने पर उसकी जीभ कटवा दी जाती थी। कौटिल्य ने लिखा है कि अपराधी को एकांग बध अथवा एक उंगली काटने से प्राण बध तक दण्ड दिया जा सकता था। जो अधिकारी निरपराधों को दण्ड देते थे उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। यदि राजा अपराध करता था तो वह भी दण्ड का भागी होता था। कौटिल्य के मतानुसार राजा अदण्ड्य नहीं है। कौटिल्य ने लिखा है कि यदि राजा अदण्ड्य को दंडित करे तो उस पर ३० गुना दण्ड हो और दण्ड का यह धन राजा देवता को अर्पण करके ब्राह्मणों को बांट दे। ऐसा करने से ठीक दंड न देने के कारण उत्पन्न राजा का पाप मिट जाता है, क्योंकि मिथ्या व्यवहार करने वाले राजाओं का शासन वरुण ही करता है।* यहां केवल अर्थ दंड की व्यवस्था ही है।

प्राचीन यूनानियों के मतानुसार राज्य का ध्येय—प्राचीन काल के

---

* अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशगुणोऽम्भसि।
वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम्॥ ५८॥
तेन तत्पूयते पापं राज्ञो दण्डापचारजम्।
शास्ताहि वरुणो राजा मिथ्या व्याचरतां नृषु॥ ५९॥ अधि० ४ अ० १३

यूनानियों का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त हमें बतलाता है कि यूनानियों का विचार राज्य के उद्देश्य तथा ध्येय के विषय में बड़ा उच्च था। वे लोग राज्य को मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय समझते थे वे राज्य को अन्तिम आदर्श पर पहुँचने का केवल साधन ही नहीं वरन् स्वतः राज्य ही को अन्तिम आदर्श मानते थे।

१—सार्वजनिक सुख—यूनान के सबसे प्रसिद्ध राजनैतिक दार्शनिक प्लैटो और अरस्तू ने राज्य का ध्येय स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। प्लैटो के मतानुसार राज्य का ध्येय मनुष्य को न्यायपरायण तथा सद्गुणी बनाना था। प्रजा को सब प्रकार से सुखी बनाना था। नगर के अधिकारियों का यह कर्त्तव्य था कि वे लोगों का प्रबन्ध इस प्रकार से करें कि जिससे सार्वजनिक सुख की प्राप्ति हो। अतः प्लैटो ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने का आदेश किया है क्योंकि उसका विचार था कि जब तक राज्य में धन की कमी होगी अथवा धन का सदुपयोग न होगा तब तक प्रजा सुखी नहीं रह सकती। सार्वजनिक सुख के हेतु उसने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में साम्यवाद पर जोर दिया है। उसका विचार है कि प्रजा को सुखी रखने के लिये शासकों तथा देश के रक्षकों में साम्यवाद का होना आवश्यक है। धन और कुटुम्ब का साम्यवाद स्थापित हो जाने पर देश के शासकों और रक्षकों को पक्षपात करने का संयोग प्राप्त न होगा और राज्य-कार्य में सफलता होगी। राज्य-कार्य की सफलता पर ही जन साधारण का सुखी होना निर्भर है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिये जिसके लिये वह योग्य है। राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना कार्य सफलतापूर्वक करके ही सुख-पूर्वक रह सकता है। यदि कोई व्यक्ति उस कार्य को न करके जिसके वह योग्य है, कोई दूसरा कार्य करता है तो वह दो अपराध करता है एक तो यह कि वह दूसरे के कार्य को इतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता जैसा कि वह करता दूसरा यह कि वह एक अच्छे तथा योग्य व्यक्ति को उस कार्य को करने से वंचित रखता है। इस प्रकार प्रजा के सुखी रहने में बाधा पड़ती है। अतः उसने ऐसी बातों का निषेध किया है। उसके अनुसार राज्य का ध्येय प्रजा को शिक्षित बनाकर तथा शासक और रक्षकों में साम्यवाद की स्थापना करके सर्वसाधारण को सुखी बनाना है। अरस्तू के मतानुसार राज्य का ध्येय प्रजाजनों में सद्गुण उत्पन्न करना है। उसका विचार है कि राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र तथा धन धान्य से परिपूर्ण होना चाहिये। राज्य को भोजन वस्त्र के लिये अन्य राज्य तथा व्यक्तियों पर निर्भर न रहना

चाहिये। राज्य में सब प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करनी चाहियें जिससे नागरिकों की सब आवश्यकतायें पूरी होती रहें और किसी वस्तु की कमी न रहे। राज्य का ध्येय केवल राज्य में धन की अधिकता तथा शान्ति ही नहीं है। राज्य का वास्तविक ध्येय प्रजा का सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना है। राज्य में सर्वसाधारण के सुख को ही अरस्तू ने राजा का ध्येय बतलाया है। उसका कथन है कि राज्य का ध्येय मनुष्यों की उच्चतम मानसिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना हैं (The state exists to satisfy higher and moral and intellectual needs of man)। गृहस्थ, मनुष्यजीवन की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और राज्य सर्वसाधारण को सुख पहुँचाने के लिय है।

२—**राज्य में शान्ति**—यूनानियों का विचार था कि राज्य का उद्देश्य तथा ध्येय राज्य में शान्ति स्थापित रखना था। राज्य म शान्ति स्थापित रखने की व्यवस्था प्लैटो ने भी की है। इसका कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के मुख्य भाग तीन हैं—मस्तिष्क, हाथ, पैर तथा पेट। उसी प्रकार राज्य के भी मुख्य अङ्ग तीन है—दार्शनिक शासक,सैनिक दल तथा भोजन वस्त्रादि उत्पन्न करने वाले व्यक्ति प्लैटो के विचार से राज्य में शान्ति तभी रह सकती है जब शासकों को शासन कार्य करने के अतिरिक्त और कोई कार्य न हो। सैनिक दल केवल देश की रक्षा का ही कार्य करे, इसके अतिरिक्त उसे और कुछ न करना पड़े। तीसरी श्रेणी के लोग उत्पादक हैं जिनका कार्य राज्य की आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु का उत्पादन करना है। उसका विचार है कि इस प्रकार की वर्ण व्यवस्था द्वारा ही राज्य में शान्ति स्थापित रह सकती है। अतः राज्य का ध्येय यह है कि शान्ति स्थापित की जाय और दुष्टों तथा राज्य के विधानों का उल्लंघन करनेवालों को कठोर दण्ड दिया जाय। अरस्तू के मतानुसार राज्य का ध्येय राज्य में शान्ति स्थापित रखना है। राज्य का यह कर्तव्य है कि शासकों द्वारा नैतिक तथा राजनैतिक नियमों के अनुसार प्रजा को अच्छे कार्य करने के लिये बाध्य किया जाय और पूर्णरूप से शान्ति रखी जाय।

३—**प्रगति**—प्राचीन काल के यूनानियों का विचार था कि मनुष्य मात्र की उन्नति राज्य में ही रह कर हो सकती है। राज्य का ध्येय प्रजा की सब प्रकार की उन्नति करना था। प्लैटो का कथन है कि राज्य वृक्ष से उत्पन्न नहीं होता है वह तो राज्यों मे रहने वाले मनुष्यों का ही संगठन है। राज्य प्रजा से पृथक् कोई अन्य वस्तु नहीं समझा जाता था। राज्य एक नागरिक

का ही विराट् रूप था । नागरिकों के समूह को ही राज्य नाम से सम्बोधित किया जाता था । प्लैटो ने कहा है कि यदि किसी राज्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो वहां के व्यक्तियों का निरीक्षण करलो । यदि राज्य के मनुष्य सुखी तथा उन्नत दशा में हैं और उन्नति करते जा रहे हे तो समझना चाहिये राज्य अपने ध्येय को समझता है और अपने कर्तव्य का उचित रूप से पालन कर रहा है राज्य का उद्देश्य अरस्तू ने प्रजा की व्यक्तिगत उन्नति करना बताया है । अरस्तू का विचार है कि वही राज्य अपने वास्तविक ध्येय को समझता है जिसकी प्रजा सब प्रकार से उन्नति करती चली जाती है ।

४—सामाजिक उन्नति—प्राचीन यूयानी दार्शनिक राजशास्त्रज्ञों का विचार है कि एक अच्छे राज्य का ध्येय प्रजा की सामाजिक उन्नति करना है । प्लैटो और अरस्तू ने प्रजा की सामाजिक उन्नति का आधार अच्छी शिक्षा बतलाया है । अतः दोनों ने लोगों की सामाजिक उन्नति के लिये शिक्षा की बड़ी अच्छी योजनाएँ हमारे सामने रखी हैं । उनका विचार है कि किसी राज्य की सामाजिक दशा तभी अच्छी हो सकती है जब मनुष्यों की प्रारम्भिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो । इसलिये प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया गया है । मनुष्य समाज को प्लैटो ने तीन भागों में विभाजित किया है । एक दार्शनिक शासक, दूसरे सैनिक, तीसरे उत्पादन करने वाले । इस प्रकार तीन भागों में प्रजा को विभाजित करके एक प्रकार की वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की थी । इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयोजन समाज की सब प्रकार की उन्नति करना था । अरस्तू ने भी प्रजा जनों को कई भागों में विभाजित किया है । दासों का होना भी आवश्यक बताया गया है । समाज की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ग के लोग अपने अपने निश्चित कार्य करें । राज्य की ओर से स्त्रियों की शिक्षा का भी विशेष प्रबन्ध था । इन दार्शनिकों का मत है कि सामाजिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि स्त्रियों को मनुष्यों के समान अधिकार दिये जायें । राज्य ने इसीलिये मनुष्यों के समान स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था भी कर रखी थी । स्त्रियों को शासन कार्य में भी भाग लेने का अधिकार था ।

५—न्याय—न्याय के विषय मे यूनानियों के विचार आजकल के विचारों से भिन्न थे । प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ था कि प्रत्येक मनुष्य अपने उस कार्य को करे जिसके वह योग्य हो । अतः राज्य का ध्येय यह था कि मनुष्य अपने अपने कार्यों को सफलतापूर्वक करते रहें । जो अपने कार्य

को छोड़कर दूसरे का कार्य करता था वह अपराधी समझा जाता था यूनान में न्याय कठोर था। छोटे छोटे अपराधों के लिये कठोर दण्ड दिये जाते थे। चोरी बहुत बुरा अपराध समझा जाता था। राज्य का ध्येय अरस्तू के मतानुसार राज्य के विधानों का पूर्णरूप से पालन कराना था। राज्य ध्येय का न्याय था। न्याय करने के लिये न्यायाधीशों का निर्वाचन प्रजा द्वारा होता था। यूनानियों का विश्वास था कि जिस राज्य में विधानों का उल्लंघन किया जाता है वहां शान्ति कदापि नहीं रह सकती। अतः न्याय की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था।

जब रोम वालों ने यूनान को विजय कर लिया तो उन्होंने यूनान को अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। नगर राज्यों का अन्त हुआ और साम्राज्य की स्थापना हुई। रोम वालों ने यूनान के राजनैतिक विचारों से लाभ तो उठाया परन्तु रोम वालों के समय में साम्राज्यवाद की उन्नति हुई। रोम वालों ने राज्य के ध्येय पर विशेष ध्यान न देकर केवल साम्राज्य स्थापित करने का ही प्रयत्न किया। हम यह कह सकते हैं कि रोमन लोगों के विचारानुसार राज्य का ध्येय संगठन करना तथा छोटे छोटे नगर राज्यों को संगठित करके साम्राज्य स्थापित करना था। रोम वालों ने आधुनिक संसार को विधान दिया है। रोमन लॉ संसार में प्रसिद्ध है। अपने समय में रोमन लोग शासन कार्य में बड़े निपुण थे, जैसा बतलाया गया है रोमन लोगों का ध्यान साम्राज्य स्थापित करने की ओर था। साम्राज्य स्थापित करने के लिये भी कुछ विशेष बातों की आवश्यकता थी, अतः रोम वालों का ध्येय अच्छी अच्छी सड़कें बनाना था जिससे साम्राज्य के प्रत्येक भाग में शीघ्रता से पहुँचा जा सके। उनके राज्य का ध्येय था शासन को केन्द्रित करना। केन्द्रीय शासन बड़ा शक्तिशाली था। केन्द्र (रोम) ही से सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध का संचालन होता था। प्रान्तों के शासकों का एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों का स्थानान्तर किया जाता था जिससे एक स्थान पर रहकर कोई प्रान्तीय गवर्नर अधिक शक्तिशाली न हो जाय और विद्रोह न कर दे। अतः रोमन लोगों का राज्य का ध्येय केवल शासन कार्यों तक ही सीमित रहा। वह था ऐक्य, अनुशासन (Discipline), सार्वभौमिक नियम तथा वसुधैव कुटुम्बकं की की मनोवृत्ति (Cosmopolitanism)।

मध्यकालीन राजशास्त्रवेत्ताओं में सेन टामस ऐक्वाइनस (St. Thomas Aquinas १२२७—१२७४) और दाँते (Dante १२६५—१३२१) अधिक प्रसिद्ध हैं। सेन टामस ने राज्य का ध्येय ईसाई धर्म की

उन्नति करना बतलाया है। उसका कहना है कि राज्य के कार्य धर्म के अनुसार चलाने चाहिए। उसने ईसाई धर्म की सब प्रकार से उन्नति तथा उसका प्रचार करना ही राज्य का उद्देश्य तथा अन्तिम ध्येय बतलाया है। मध्य काल में यूरोप में ईसाई धर्म का ही बोलबाला था। सेन टामस ने सावयव सिद्धान्त के अनुसार राजा की तुलना हृदय से की है उसने बतलाया है कि जिस प्रकार हृदय (heart) सम्पूर्ण शरीर का स्वामी है उसी प्रकार राजा राज्य का स्वामी होना चाहिये। परन्तु उसका कर्तव्य है कि पोप की आज्ञा के अनुसार कार्य करे, क्योंकि वास्तव में पोप ही पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसने लिखा है कि राज्य का ध्येय प्रजा की भलाई है। प्रजा के लाभ के लिये राज्य का कर्तव्य है कि धार्मिक कार्यों के लिए धन की मात्रा निश्चित कर दी जाय, दान पुण्य किया जाय, अच्छी-अच्छी सड़कें बनवाईं जायें और सड़कों के किनारें वृक्ष लगवाये जायें। प्रजा की उन्नति शिक्षा पर निर्भर है, अतः पाठशालायें खुलवाई जायें। राज्य का उद्देश्य तथा ध्येय प्रजा की भलाई, लोगों में धार्मिक भाव उत्पन्न करना तथा सब प्रकार से धर्मानुसार समाज की उन्नति करना है।

न्याय के विषय में सेन टामस के विचारों पर अरस्तू, सिसरो, सेन्ट आगस्टाइन (St. Augustine) तथा बाइबिल का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उसने युक्ति अथवा प्रेक्षा को ही विधान बताया है। उसने विधान की परिभाषा इस प्रकार की है "एक समुदाय के संरक्षक द्वारा सार्वजनिक हित के लिये युक्तिपूर्ण दिया गया आदेश विधान है" उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य न्याय है। न्याय का आधार विधान है, विधान के चार भाग हैं। उसका मत है कि विधान चार प्रकार का होता है—१. शाश्वत (Eternal), २. ईश्वरीय (Divine), ३. प्राकृतिक (Natural), और ४. मानवी (Human)। इन्हीं विधानों के आधार पर संसार के सम्पूर्ण कार्यों का संचालन होता है। इन विधानों का उल्लंघन करने से आपत्ति आती है। अतः राज्य का कर्तव्य यह है कि इनमें से मनुष्य सम्बन्धी विधानों का पालन लोगों से कराये जिससे राज्य में सुख और शान्ति स्थापित हो।

दांते देश की शान्ति को सबसे महत्वपूर्ण विषय समझता था इस लिये उसने राज्य का उद्देश्य तथा ध्येय देश में पूर्ण शान्ति स्थापित रखना बतलाया है। दांते के समय में इटली की राजनैतिक दशा शोचनीय थी। वहाँ के छोटे-छोटे राजा आपस में निरन्तर लड़ते झगड़ते रहते थे। इसलिये देश में अशान्ति थी और व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती थी। व्यापार

की उन्नति तथा देश में सुख और शान्ति स्थापित करने के लिये एक शक्तिशाली राजा की आवश्यकता थी इसलिए उसने राजतन्त्र का समर्थन किया और राजा का ध्येय बलपूर्वक राज्य में शान्ति स्थापित रखना बतलाया है। उसका विचार था कि राज्य में झगड़ों का कारण पोप तथा ईसाई धर्म का लौकिक तथा राजनैतिक विषयों में भाग लेना है। अत: उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि पोप को राजनैतिक विषयों में कोई भाग नहीं लेना चाहिये। राजा धर्म से परे है। उसका मत है कि विधान ही राज्य में सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है, विधान ही सर्वोच्च सत्ता शासन है, विधान ही न्याय है। राजा का कर्तव्य न्यायपूर्वक शासन करना है। राजा ही विधान अथवा न्याय का स्रोत है। दांते के सिद्धान्तों का प्रचार मार्सिलियो (Marsiglio) और विलियम आफ़ ऑकहम (William of Ockhm) ने किया।

आधुनिक काल के राजशास्त्रवेत्ताओं ने भी राज्य के ध्येयों पर प्रकाश डाला है। प्रसिद्ध जर्मन लेखक हालजेनडार्फ़ (Holtzendorff) ने अपनी 'Principierder-Politik' नामक पुस्तक में राज्य के ध्येयों को दो भागों में विभक्त किया है—(१) राज्य के वास्तविक ध्येय (real ends) और (२) राज्य के आदर्श ध्येय (Ideal ends)। उसके कथनानुसार राज्य के वास्तविक ध्येय ये हैं कि राज्य अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ावे, वैयक्तिक स्वाधीनता की रक्षा करे, सामाजिक सुधार एवं मानवी सभ्यता का विकास करे। राष्ट्रीय शक्ति, वैयक्तिक स्वाधीनता और मनुष्य जाति की सभ्यता की वृद्धि ही उसके मतानुसार राज्य का वास्तविक ध्येय है। वनमोहल (Von Mohal) नामक जर्मन राजशास्त्रवेत्ता का विचार है कि राज्य का ध्येय लोगों की उच्चतम शक्तियों का विकास करना है। बर्गेस नामक एक दूसरे राजशास्त्रवेत्ता ने राज्य के ध्येयों को तीन भागों में विभाजित किया है—(१) प्रारम्भिक ध्येय, (२) माध्यमिक ध्येय और (३) अन्तिम ध्येय। सबसे प्रथम उसने अन्तिम ध्येय पर विचार किया है। वह कहता है कि मनुष्य जाति की पूर्णता (perfection of humanity), संसार की सभ्यता का विकास और इस भू-मण्डल पर धर्म (virtue) और नीति (morality) के साम्राज्य की स्थापना ही राज्य का अन्तिम ध्येय होना चाहिये। राष्ट्रीयता के तत्त्व की पूर्णता और राष्ट्र की प्रतिभा तथा राष्ट्रीय जीवन का विकास राज्य का माध्यमिक ध्येय होना चाहिये। व्यवस्था और स्वाधीनता की स्थापना उसका पहला ध्येय होना चाहिये। बर्गेस का कथन है कि इनकी सिद्धि के लिये सबसे पहले ऐसी सरकार और स्वाधीनता का इस

प्रकार संगठन किया जाना चाहिये जो यथा सम्भव व्यक्ति की सर्वोच्च स्वाधीनता के अनुकूल हो। दूसरी बात यह है कि भिन्न भिन्न राष्ट्रों की प्रतिभा का विकास किया जाय और उसे पूर्णता पर पहुँचाने का प्रयत्न किया जाय। लॉक का कथन है कि राज्य का उद्देश्य अथवा ध्येय मनुष्य मात्र की भलाई करना है। हाब्ज के मतानुसार राज्य का ध्येय व्यवस्था स्थापित करना है। रूसो के मतानुसार राज्य प्रजाजनों की संयुक्त इच्छा है और का राज्य उद्देश्य मनुष्यों की व्यक्तिगत गुण-शक्ति है। प्रोफेसर रिची (Ritchie) मनुष्य जाति के सर्वोत्कृष्ट जीवन के अविष्करण को राज्य का प्रधान ध्येय समझता है। एक आधुनिक फ्रान्सीसी राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि "सबसे पहले राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा करे, आन्तरिक सुख शान्ति और सुव्यवस्था रखे। इसके पश्चात् राष्ट्रीय जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करे।" लेबुले (Laboulaye) नाम के फ्रांसीसी राजशास्त्रवेत्ता का मत है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्यक व्यक्ति के लिये उसके पूर्ण विकास का मार्ग खोल दे, वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे मनुष्य की शारीरिक मानसिक और नैतिक शक्ति का पूर्ण विकास हो, विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को वह हटादे, दरिद्र से दरिद्र और अज्ञानी से अज्ञानी मनुष्य के द्वार पर ज्ञान और शिक्षा का प्रकाश कर सर्वसाधारण को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ावे।" अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक गार्नर इन बातों का विश्लेषण कर यह सार निकालते हैं कि "राज्य का वास्तविक, प्रारम्भिक और तत्कालिक ध्येय यह है कि वह शान्ति, व्यवस्था, रक्षा और न्याय की व्यवस्था करे।" इनमें कानून का राज्य स्थापित करने की बात भी आ गई है, जिससे वैयक्तिक स्वत्वों की रक्षा की जा सके। कोई समाज, या कोई सरकार दूसरे की वैयक्तिक स्वाधीनता में बाधा न डाल सके। यदि राज्य इन उद्देश्यों को, इन ध्येयों को, पूर्ण करने में असफल होता है तो समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व न्याययुक्त नहीं है। वह अन्य बातों की कुछ अंशों में उपेक्षा कर सकता है पर इन अत्यन्त आवश्यक बातों की नहीं कर सकता। राज्य को वैयक्तिक तथा सामाजिक हित और आवश्यकताओं पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उसे ऐसे कार्य करने चाहिये जो लोगों के हित के लिये आवश्यक हों। इन सब प्रारम्भिक और मूल कर्तव्यों के अतिरिक्त राज्य का अन्तिम कर्तव्य और सर्वोत्तम ध्येय मनुष्य जाति की सभ्यता और संस्कृति का विकास करना है।

जर्मन आदर्शवादी राजशास्त्रवेत्ताओं ने राष्ट्रीय संगठन पर अधिक

ज़ोर दिया है। इमैन्युअल कैन्ट (Immanuel-kant १७२४–१८०४) फिरव्टे (Fichet १७६२-१८१४)। और जार्ज विल्हैल्म हेगल (George Wilhelm Hegel—१७७०–१८३१) ने राज्य को स्वयं ध्येय बतलाया है। इन लोगों का मत है कि राज्य के लिये ही राज्य की सब वस्तुएँ हैं। राज्य अथवा राष्ट्र की उन्नति के लिये सब कुछ बलिदान कर देना उचित है। व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा राष्ट्र के हितों पर अधिक ध्यान देना चाहिये! राष्ट्र ही सब कुछ है। यहां तक कि इन आदर्शवादियों ने राज्य की तुलना ईश्वर से की है। ये लोग राज्य को देवता की भांति पूज्य समझते हैं। इसके विपरीत अंग्रेज आदर्शवादियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर अधिक ज़ोर दिया है। ये लोग (जिनमें ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं) कहते हैं कि राज्य का ध्येय प्रजा के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करना है। व्यक्तिगत उन्नति के लिये राज्य की स्थापना की गई है।

अंग्रेज उपयोगितावादियों (Utilitarians) ने राज्य की उपयोगिता को अधिक महत्वपूर्ण समझा है। ये लोग कहते हैं कि राज्य का ध्येय होना चाहिये "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" (Greatest happiness of the greatest number)। इन लोगों का मत है कि राज्य के ध्येय को राज्य के कार्यों से समझ सकते हैं। यदि राज्य में अधिक मनुष्य सुखपूर्वक रहते हैं तो राज्य अच्छा है अन्यथा नहीं। राज्य को ऐसे नियम बनाने चाहिये जिससे मनुष्यों के हितों की रक्षा हो। राज्य का ध्येय मनुष्यों के सामूहिक हितों की रक्षा करना है। इन उपयोगितावादियों में बेन्थम (Bentham १६४८-१८३२) और जेम्समिल (James Mill १७७३-१८३६) अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उपयोगितावाद सिद्धान्त की स्थापना सबसे प्रथम रिचर्ड कम्बरलैण्ड (Richard Cumberland) ने की थी और "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" इस कहावत का सबसे प्रथम प्रयोग फ्रांसिस हसिचन (Francis Hulcheson) ने किया था तथापि बेन्थम ही को उपयोगितावाद सिद्धान्त का प्रवर्त्तक कहा जाता है। उसने अपनी पुस्तक "The Fragment on Government" में राज्य के ध्येय का वर्णन किया है। उसका कथन है कि मनुष्य के सर्वोच्च शासक (sovereign masters) दो हैं—'सुख' और 'दुख' (pleasure & pain)। मनुष्यों का प्रत्येक कार्य इन्हीं दो भावों द्वारा संचालित होता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणायें प्राकृतिक होती हैं और उनकी अच्छाई और बुराई उनके परिणामों पर निर्भर

है। उपयोगिता के अनुसार ही मनुष्य प्रत्येक कार्य करता है। मनुष्य उसी कार्य को करता है जिसके करने में अधिक से अधिक सुख मिले। बेन्थम का विश्वास था कि राज्य का ध्येय राज्य के लिय अच्छे विधान बनाना है। विधान की अच्छाई अथवा बुराई का माप उसका परिणाम है। यदि उन विधानों के परिणामस्वरूप 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' है तो विधान अच्छा है अन्यथा नहीं। राज्य की स्थापना का आधार उसकी उपयोगिता है। बेन्थम न्यायशास्त्र का पण्डित था। उसने इस बात पर अधिक ज़ोर दिया कि न्याय तभी ठीक-ठीक हो सकता है जब कानून (विधि अथवा विधान) अच्छे हों। उसने फ़ौजदारी के कानूनों में सुधार किया और जेलों में सुधार करने की योजना तैयार की। उसके मतानुसार दण्ड का ध्येय 'अपराधों को रोकना' होना चाहिये। दण्ड का ध्येय होना चाहिये अपराधी को सुधारना। अतः उसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य का यह कर्तव्य होना चाहिये कि जेल में बन्दियों को अच्छी शिक्षा दी जाय और उपयोगी कार्य सिखाये जायें ताकि बाहर निकलकर वे अपनी जीविका उपार्जन कर सकें और जीविका उपार्जन के लिये उन्हें अपराध न करने पड़ें।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill १८०६—१८७३) भी उपयोगितावाद सिद्धान्त का अनुयायी था। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद में थोड़ा सा परिवर्तन किया। उसका मत है कि सुख और दुःख के भावों में भी विभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का सुख दुःख भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उसका कथन है कि "दुखी सुकरात सुखी मूर्ख से अच्छा है, एक दुखी मूर्ख एक सुखी सुअर से अच्छा है।" अर्थात् वह सुख में भी कई भेद देखता है। सुख दुःख भी ऊँच और नीच होते हैं। अतः उसने राज्य का ध्येय बताया है लोगों को उच्च सुखों की प्राप्ति कराना। दूसरी विशेष बात इसने यह की है इसने मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति पर अधिक ज़ोर दिया है। उसका कथन है कि राज्य का ध्येय मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति करना होना चाहिये। वही राज्य अच्छा है जिसमें मनुष्य की व्यक्तिगत भलाई हो। अतः राज्य का उद्देश्य होना चाहिये प्रजा की व्यक्तिगत भलाई और उन्नति के लिये सुचारु नियम अथवा विधान बनाना। उसका मत है कि यदि मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति की ओर ध्यान दिया जायगा तो सामूहिक उन्नति अपने आप हो जायगी। जॉन मिल का विचार है कि राज्य का ध्येय होना चाहिये 'प्रजा के आर्थिक विषयों तथा व्यापार में न्यून से न्यून विघ्न डालना तथा श्रमिकों की भलाई के लिये उचित विधानों का बनाना।'

भिन्न भिन्न काल के राजशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार राज्य के भिन्न भिन्न ध्येयों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। सामाजवाद (Socialism) उग्र समाजवाद (Bolshevism) और साम्यवाद (Communism) का वर्णन करते समय हम इन मतों के अनुसार राज्य के ध्येयों को बतलायेंगे। अब यह बताना आवश्यक है कि राज्य की क्या आवश्यकता है ?

राज्य की आवश्यकता—मानुषिक संवासों (associations) में राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली तथा विश्वव्यापी संवास है। सभ्य मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण तथा आवश्यक वस्तु राज्य है। राज्य द्वारा ही मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनैतिक उन्नति होती है। राज्य का कार्य केवल शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करना ही नहीं है, वरन् उन सब आवश्यक वस्तुओं को एकत्रित करना है जिनसे प्रजा की सब प्रकार की भलाई और उन्नति हो। सभ्यता का आरम्भ से ही राज्य का अस्तित्व रहा है। सभ्यता का राज्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। अति प्रचीन काल के आर्य तथा हिन्दू दार्शनिकों ने राज्य के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने अच्छे राज्य तथा अच्छे राजा की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने तो राजकार्य को राजधर्म तक बताया है। राजधर्म के विषय पर भारतवर्ष में प्राचीन काल के अब भी अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं। इन ग्रंथों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। प्राचीन काल के यूरोपीय (यूनानी) दार्शनिकों ने राज्य की आवश्यकता की बड़ी महिमा गाई है। प्लैटो और अरस्तू ने मनुष्य की शारीरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये राज्य को अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। मनुष्य के इहलौकिक तथा पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राज्य एक अनिवार्य साधन है। ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जाती है और मानव जीवन अधिक जटिल होता जाता है त्यों-त्यों राज्य की आवश्यकता अधिकाधिक प्रतीत होती है। सम्भव है कि जब मानव जीवन अत्यन्त साधारण रहा हो और सभ्यता आरम्भ ही हुई हो तब राज्य की इतनी आवश्यकता न प्रतीत होती हो परन्तु अब तो राज्य के बिना मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता। अरस्तू ने सत्य कहा है कि जो मनुष्य राज्य में रहना नहीं चाहता वह या तो पशु है या देवता। मनुष्य का तो बिना राज्य के निर्वाह हो ही नहीं सकता।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। इतिहास के आरम्भ में मनुष्य का सबसे प्रथम संवास एक कुटुम्ब था। कुटुम्ब में न्यून से न्यून एक पुरुष, उसकी स्त्री तथा बच्चे होते हैं। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कुटुम्ब में

एक नौकर को भी सम्मिलित किया है। अरस्तू ने इस कुटुम्ब को राज्य का लघु रूप बतलाया है। वास्तव में राज्य का कार्य कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। कुटुम्ब में पिता राजा के तुल्य होता है, उसका शासन कुटुम्ब के सब सदस्यों पर होता है। परन्तु जैसा कि अरस्तू ने बतलाया है पिता का सम्बन्ध स्त्री, बच्चों और नौकर के साथ एक ही प्रकार का नहीं है। वह सम्बन्ध भिन्न भिन्न प्रकार का है। कुटुम्ब रूपी समाज अथवा संवास में रहकर मनुष्य की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है। भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिये उसे भिन्न भिन्न व्यवसाय के व्यक्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। अन्न के लिये कृषक, तेल के लिये तेली, बरतनों के लिये कुम्हार, कपड़ों के लिये जुलाहे, मकान बनाने के लिये राज और बढ़ई की आवश्यकता होती है। अतः प्राचीन काल में एक ग्राम में ये सब लोग पाये जाते थे और वह ग्राम राज्य की सबसे छोटी इकाई होता था। अति प्राचीन काल के भारतीय ग्राम इसी प्रकार के होते थे। प्रत्येक ग्राम निवासी के जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध ग्रामों में था। उस समय में ग्रामीण जीवन बहुत ही साधारण था। प्राचीन काल में यूनान में भी ग्राम इसी ढंग के थे। ग्रामों के समूहों से मिलकर नगर राज्य बना हुआ था। नगर में उस काल की सब आवश्यक वस्तुएँ मिल सकती थीं।

जिस प्रकार सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये एक कुटुम्ब की आवश्यकता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के व्यवसायों की उन्नति के लिये भिन्न भिन्न संवासों (associations) की आवश्यकता है। प्राचीन काल में भी भिन्न भिन्न प्रकार के संवास (associations) मनुष्य समाज में विद्यमान थे। व्यापार की उन्नति के लिये व्यापारिक संवास, शिक्षा की उन्नति के लिये शिक्षा संवास, विज्ञान की वृद्धि के लिये विज्ञान संवास होते थे। प्रत्येक संवास का प्रबन्ध संवास के सदस्य करते थे। प्रत्येक संवास को सफलतापूर्वक चलाने के लिये नियम बना लिये जाते थे। जो व्यक्ति इन नियमों के विरुद्ध कार्य करता था उसे नियमानुसार दण्ड संवास द्वारा दिया जाता था। यहाँ तक कि संवास से उसे निकाल दिया जाता था। आधुनिक समय में भी बहुत से इस प्रकार के संवास विद्यमान हैं। आजकल सभ्यता की अधिक उन्नति होने के कारण मनुष्यों का जीवन बहुत जटिल हो गया है। भाँति भाँति के आविष्कारों ने भी जीवन को अत्यधिक जटिल बना दिया है। अतः अनेकों संवासों की स्थापना भी हो गई है। राज्य इन सब संवासों तथा समाजों से ऊपर है। राज्य सबसे महत्वपूर्ण संवास

(association) है। अन्य सब संवासों का प्रबन्ध भिन्न भिन्न संवासों के सदस्यों के हाथ में होता है। उन संवासों का एक दूसरे से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु राज्य एक ऐसा संवास अथवा समाज है जिसका अन्य सब संवासों अथवा समाजों पर पूर्ण अधिकार होता है। राज्य के विधानों का पालन सब संवासों तथा समाजों के सदस्यों को करना पड़ता है। जो व्यक्ति राज्य के नियमों का उल्लंघन करता है उसे अपराध के अनुसार दण्ड मिलता है।

संवास अथवा समाज मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। एक बालक बिना संवास के जीवित तो रह सकता है परन्तु जब वह बड़ा होगा तो उसमें मनुष्य के समान कोई गुण नहीं दिखाई देगा। वह एक पशु के समान होगा। बालक जब बड़ा होता है तब जैसे समाज में उसका पालन होता है वैसी ही बातें वह अनुकरण द्वारा सीखता है। आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण को बालक के लिये सबसे महत्वपूर्ण बतलाया है। समाज को इस दशा पर पहुँचाने वाला अनुकरण ही है। मनोविज्ञान के आधार पर आधुनिक काल में पाठशालाओं में बड़े बड़े महत्वपूर्ण प्रयोग किये जा रहे हैं। सम्राट अकबर बड़ा प्रसिद्ध मुग़ल शासक था। यद्यपि वह स्वयं पढ़ा लिखा न था तथापि वह बड़ा विद्वान था। उसकी राजसभा में बड़े बड़े विद्वान् थे जो उसे सब धर्मों के तथा साहित्य और विज्ञान आदि के ग्रन्थ पढ़कर सुनाया करते थे। बालक पर समाज का प्रभाव जानने के लिये उसने एक प्रयोग किया था। उसने एक बालक को बहुत छोटी अवस्था से मनुष्य समाज से पृथक् कर दिया। उसे दूर एक कोठरी में रखा गया। वह कोठरी ऐसे स्थान पर थी जहां किसी मनुष्य की ध्वनि नहीं पहुँचती थी। लगभग ५ वर्ष तक उस बालक को इसी प्रकार पृथक् रखा गया और भोजन वस्त्र का प्रबन्ध इस प्रकार किया गया कि जो व्यक्ति उसे वह वस्तुएँ देने जाता था वह उससे कुछ न बोलता था पांच वर्ष के पश्चात् जब उसे वहां से निकाला गया तो वह बिल्कुल गूंगा बहरा सा दिखाई दिया। चूं चूं के अतिरिक्त और कोई बोली उसके मुख से न निकलती थी। कोठरी के द्वार के खुलने और बन्द होने में यह ध्वनि होती थी। बस इसी को उसने सीख लिया जिनके सहवास में बालक का पालन पोषण होता है उन्हीं के गुण दोषों को वह ग्रहण करता है। व्यक्ति के जीवन के लिये कुटुम्ब तथा समाज की बड़ी आवश्यकता है। मानव सभ्यता की उन्नति समाज में रहकर अनु-

करण द्वारा ही हुई है। समाज में रहकर ही मनुष्य की निहित शक्तियों तथा गुणों का विकास होता है।

(१) **धर्म के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—अति प्राचीनकाल के आर्य लोग राज्य को बड़ा महत्व देते थे। वे राजनीति को राज धर्म कहते थे। श्रेष्ठ राजा को धर्मराज कहकर सम्बोधित करते थे। महाराज युधिष्ठिर को धर्मराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था। राज्य-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये राजा को प्रजा निर्वाचित करती थी। 'राजा' शब्द का प्रयोग वेदों में हुआ है। भिन्न भिन्न राज्य सभाओं के नाम भी वेदों में आये हैं। 'यो रंजयति सः राजः' अर्थात् जो प्रजा का रंजन करे वही राजा है। प्रजा की भलाई तथा प्रजा का रंजन करना राज्य का कार्य था। राज्य की आवश्यकता प्रजा की भलाई के लिये थी। प्रजा में शान्ति स्थापित करने तथा प्रजाजनों की शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये राज्य की आवश्यकता आर्य लोग समझते थे। मनुस्मृति में परमेश्वर ने राजा की सृष्टि की परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि लोग राजा को चुनते थे। महाभारत के शान्तिपर्व के ५९ वें अध्याय में लिखा है कि धर्म से एक दूसरे की रक्षा करते करते जब लोग थक गये और मोह में फंस गये, तो पहले ज्ञान फिर धर्म ने उनका संग छोड़ दिया। मोह के कारण वे लोभी, विषयाभिलाषी और कामी हो गये। विषयानुरक्त होने के कारण उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा। अगम्यागमन और भक्ष्या-भक्ष्य का ज्ञान न रहने से यज्ञ और वेद लुप्त हो गये। देवताओं को यज्ञ का भाग न मिलने से उन्होंने ब्रह्मा से पुकार मचाई। ब्रह्मा ने उन्हें आश्वासन देकर एक लाख अध्याय का नीति शास्त्र बना दिया, जिसमें धर्म, अर्थ काम, मोक्ष का वर्णन किया। फिर देवता प्रजापति विष्णु के पास जाकर बोले कि मनुष्यों में कौन एक श्रेष्ठ होगा बताइये। विष्णु ने विचार कर विरजा नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया······। इससे स्पष्ट है कि राज्य की आवश्यकता राज्य में व्यवस्था स्थापित करने के लिये हुई।

राजा के निर्वाचन के विषय मैं शान्तिपर्व के ६७ वे अध्याय में एक और वर्णन है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा कि "अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट हुई जैसे जल में बड़ी मछली छोटी को खा जाती है। जब इस प्रकार लोगों का नाश होने लगा तब सबने मिलकर निश्चय किया कि हम लोगों में जो कटुभाषी उद्दण्ड- परस्त्रीगामी और परधन-हारी होगा वह त्याज्य या बहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार

सब वर्णों में विश्वास स्थापन करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न रहने से हमारा दुःख बढ़ रहा है; इसलिये आप हमें राजा दीजिये जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करे। इस पर ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी और सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूँ और राज्य कार्य कठिन है। भीष्म ने कहा कि प्रजा मनु से बोली कि आप मत डरिये। पापाचरण करने वाला पाप का फल भोगेगा। हम ग आपकी कोशवृद्धि के लिये आपको अपने पशुओं और सुवर्ण का पचासवां भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे। जिस कन्या का सबसे अधिक यौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरी से आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनों पर चढ़े हुए शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुबेर यक्षों की रक्षा करते हैं, वैसे ही बली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें।" राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप हम लोगों की रक्षा करें, जैसे इन्द्र देवताओं की रक्षा करते हैं। आप सूर्य की भांति शत्रुओं को तपाते हुए विजय के निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओं का अभिमान नष्ट कीजिये। आपकी सदा जय हो। (देखो श्लोक १७ से २६ तक शान्ति पर्व अ० ६७)। कौटिल्य ने इसका समर्थन किया है। उसका कथन है कि मात्स्य न्याय से दुखी होकर लोगों ने राजा की खोज की। कौटिल्य ने मनु के निर्वाचन के विषय में ब्रह्मा को बीच में नहीं डाला। उसनें स्पष्ट लिखा है कि जब प्रजा मात्स्य न्याय से अभिभूत थी, तब उसने वैवस्वत मनु को राजा बनाया *। शुक्रनीतिसार में भी राजा के कई देवताओं के रूप धारण करने का वर्णन आया है। अतः इन सब बातों से प्रतीत होता है कि राजा को धर्म का अंश, देवता का स्वरूप तथा ईश्वर के तुल्य समझा जाता था और राज्य की आवश्यकता मनुष्यों को धर्मानुसार आचरण करानें के लिये समझा गई थी। अधर्म और अव्यवस्था का नाश करके धर्माचरण सिखाने के लिये ही राज्य का जन्म हुआ।

प्राचीन काल के पाश्चात्य यूरोपीय दार्शनिकों के अनुसार भी राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा हुई और राज्य की आज्ञा पालन करना ही ईश्वर

---

* मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजनं चक्रिने ॥ ६ ॥
अर्थशास्त्र अधि० १।

का आदेश बताया गया है। यहूदी लोग अपने को ईश्वर का प्रिय समझते थे और उनका विचार था कि वे ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ चुने हुए लोग हैं। अपने राज्य को वे ईश्वर द्वारा रक्षित समझते थे और राज्य को एक धार्मिक संस्था समझते थे। यूनानी लोगों का भी यही विचार था धर्म के लिये राज्य की आवश्यकता है। प्लैटो और अरस्तू के विचार भिन्न थे उनके विचार से राज्य एक प्राकृतिक तथा आवश्यक संस्था थी। इनका विचार था कि मानव जीवन का आधार ही राज्य है। राज्य में रह कर ही मानव जीवन की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है? अतः मनुष्य समाज के लिये राज्य अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। यूनानियों के समान रोम वालों के भी विचार थे। राज्य की स्थापना का आधार धर्म था। राजा धार्मिक त्यौहारों पर पुजारी का कार्य करता था। वह सबसे बड़ा धार्मिक नेता था। रोमन सम्राट् को देवता के तुल्य समझा जाता था।

आधुनिक काल में सभ्यता की इतनी उन्नति हो गई है और मनुष्यों के विचार इतने उन्नत हो गये हैं कि अब इस प्रकार के सिद्धान्तों में लोगों का विश्वास नहीं है। अब हम लोगों का विश्वास है कि राज्य की स्थापना मनुष्य कृत है ईश्वर कृत नहीं। राज्य के ईश्वर कृत होने का हमारे पास कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है, अतः यह सिद्धान्त निराधार है।

(२) **शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—प्राचीन काल के सोफी लोगों (Sophists) का विचार था कि शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता हुई। या तो ऐसा हुआ कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बलों पर अत्याचार करने के लिये राज्य की स्थापना की या निर्बल व्यक्तियों ने शक्तिशाली लोगों के अत्याचार के भय से एक संगठन बनाया जिससे वे उनके अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सकें। ईसाई धर्म के अनुयायियों ने धर्म की उन्नति करने के लिये राज्य में धर्म का प्रभुत्व स्थापित किया। धर्म को राज्य से अधिक श्रेष्ठ तथा उच्च घोषित किया और धर्मानुसार राज्य को चलाने पर ज़ोर दिया। पोप ग्रेगरी सप्तम (Pope Gregor VII) ने सन् १०८० में घोषित किया कि धर्म से अनभिज्ञ राजाओं ने लोगों पर बड़ा अत्याचार किया है। आधुनिक काल के कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य का आधार शक्ति है। शक्ति के आधार पर ही राज्य की आवश्यकता हुई। स्पिनोज़ा (Spinoza) का विचार ऐसा ही था। एंजिल (Angel) और मार्क्स (Marx) का विश्वास है कि जनता का शोषण करने के लिये जातियों ने राज्य के रूप में

अपना संगठन किया है अर्थात् राज्य की आवश्यकता का आधार जनसाधारण की शोषण करना बतलाया है। नीत्शे (Nietzsehe) का विचार है कि 'सर्वोच्च पुरुष' (Superman) की स्थापना शक्ति सिद्धान्त के आधार पर ही हुई है। स्पेन्सर (Spencer) का कथन है कि पाशविक शक्ति का प्रयोग करने के लिये राज्य की स्थापना की गई है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये इस पाशविक शक्ति का नष्ट करना आवश्यक है।

रूसो ने कहा है कि यदि डाकुओं का गिरोह वन में मिल जाय, उनके हाथ में पिस्तौल हो और मेरे हाथ में रुपयों की थैली हो तो भयवश स्वयं उस थैली को डाकुओं को दे दूंगा। इस प्रकार शक्ति के भय से मनुष्य स्वभावतः कार्य करता है। राज्य की स्थापना शक्ति के कारण हुई है। राज्य की आवश्यकता इसलिये हुई कि शक्तिशाली लोग निर्बलों से लाभ उठायें। लैस्की (Laski) का विचार है कि शक्ति सिद्धांत नैतिक सिद्धांत के विरुद्ध है। राज्य की आवश्यकता का आधार जन साधारण की इच्छा का आज्ञा-पालन करना है। जनसाधारण के हितों की रक्षा के लिये राज्य स्थापित करने की आवश्यकता हुई। यदि इस सिद्धांत के आधार पर राज्य की स्थापना नहीं है तो वह राज्य नहीं है। उस राज्य में नागरिक नहीं बल्कि दासों का समूह है ग्रीन (Green) का कथन है कि राज्य की आवश्यकता जनता के अधिकारों की रक्षा करने के लिये हुई।

(३) **सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्थापित करने की आवश्यकता इसलिये हुई कि मनुष्य समाज में अराजकता फैली हुई थी। लोगों ने देखा कि किसी विधान तथा सर्वोच्च सत्ता की अनुपस्थिति में लोग एक दूसरे पर अत्याचार करते थे। शक्तिशाली निर्बलों पर अत्याचार करते थे। अपनी इच्छानुसार लोग किसी बात को अच्छा या बुरा समझते थे। न कोई नियम था और न कोई विधान। मनुष्यों को यह बताने के लिये कि कौन सी बात उचित है और कौन सी अनुचित, एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता हुई। लोगों ने अपनी इच्छा से शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए राज्य की स्थापना की। अतः राज्य की स्थापना मनुष्यों की स्वेच्छा से हुई है इसलिये राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है।

परन्तु इस प्रकार राज्य की आवश्यकता बतलाना निराधार प्रतीत होता है। हमें इतिहास में इस बात का प्रमाण कहीं नहीं मिलता है कि

अमुक काल में किसी ऐसे अनुबन्ध की स्थापना की गई हो। राज्य की आवश्यकता मनुष्य की सभ्यता के विकास के साथ हुई और जब मनुष्यों में राजनैतिक चेतना हुई तभी मनुष्य समाज राजनैतिक संगठन में परिवर्तित हो गया। वेद में एक स्थान पर आया है "सोदक्रामत सा गार्हपत्येन्थ क्रामत" अर्थात् प्रजा उत्क्रान्त हुई और गृहपतियों की स्थापना हुई। इसी प्रकार राजा, सभा तथा समितियों की उत्पत्ति का वर्णन वेदों में किया गया है। दूसरी बात यह है कि यदि राज्य की स्थापना लोगों की स्वेच्छा के अनुसार हुई है तो राज्य के प्रत्येक नियम और विधान का निर्माण प्रत्येक व्यक्ति की सम्मति के अनुसार होना चाहिये। बहुमत के अनुसार राज्य नहीं होना चाहिये, अल्पमत की सम्मति भी लेनी चाहिये परन्तु देखा यह जाता है कि शासन प्रबन्ध में अल्पमत वालों की नहीं सुनी जाती है। बहुमत वाले अल्पमत वालों पर शासन करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जो कट्टर व्यक्तिवादी था उसका यही मत था कि राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिये जिन्हें जनता न कर सकती हो अथवा जनता की शक्ति से बाहर हो और जिनको उन्होंने राज्य को सौंप दिया हो जैसे बाह्य शत्रुओं से रक्षा, आंतरिक शत्रुओं से रक्षा, भूमि का राष्ट्रीयकरण परन्तु उसने इस बात को भी अपने मत के विरुद्ध स्पष्ट किया है कि इन विषयों पर सब लोग एकमत नहीं हो सकते। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त के अनुयायी देश की रक्षा के लिये भी युद्ध का विरोध करेंगे। अपराधी तथा आततायी लोग देश के भीतर शान्ति रखने के विरुद्ध रहेंगे जमींदार लोग भूमि के राष्ट्रीयकरण का विरोध करेंगे। स्पेन्सर के मतानुसार सर्वसम्मति से राज्य में कार्य होना असम्भव है। परन्तु हमारा विचार तो यह है कि जिस प्रकार एक रोगी मनुष्य की सम्मति उसके पथ्य के विषय में नहीं लेनी चाहिये उसी प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थों का विचार भी राज्य कार्यों मे नहीं करना चाहिये। वही कार्य जो सर्वहितकारी हैं राज्य को करने चाहिये। तीसरी बात यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक कार्य सर्वसम्मति से होना चाहिये और हो सकता है, तो हमारे विचार से आधुनिक काल में यह बात बिल्कुल असम्भव है। प्राचीन काल के यूनानी नगर राज्यों में ऐसा सम्भव हो सकता था। आजकल के राज्य इतने विस्तृत हैं कि प्रत्यक्ष जनतन्त्रता के सिद्धान्त के अनुसार शासन हो ही नहीं सकता। चौथी बात यह है कि सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार राज्य की आवश्यकता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। बिना किसी

होने पर ही लोगों के हृदय में अनुबन्ध का विचार आया होगा। सामाजिक सिद्धान्त के अनुयायियों का यह विचार कि पहले सामाजिक अनुबन्ध का विचार लोगों को हुआ और उसके पश्चात् राजनैतिक चेतना हुई और विधान बना यह बात युक्तिसंगत नहीं है।

(४) **उपयोगितावाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—उपयोगितावादियों का मत है कि समाज के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करने, व्यक्तियों और समुदायों के बीच सुचारु सम्बन्ध स्थापित करने, साहित्य, कला और विज्ञान आदि की उन्नति करने, तथा बाह्य और आंतरिक शत्रुओं से जनसाधारण की रक्षा करने और अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त कराने के लिये राज्य की आवश्यकता है। लॅस्की ने अपनी पुस्तक "Introduction to Politics" में लिखा है कि राज्य स्थापना की आवश्यकता उन कार्यों तथा विधानों से प्रतीत होती है जो राज्य अथवा विधान द्वारा किये जाते हैं। राज्य का अनेक प्रकार के हितों के ऊपर अधिकार है। व्यक्तिगत, सामूहिक, प्रतियोगिता सम्बन्धी तथा सहकारी हितों के ऊपर भी उसका अधिकार है। यदि यह मत राज्य का ध्येय तथा प्रयोजन प्रजा को सन्तुष्ट करने का है तो उसे अधिक से अधिक सार्वजनिक हित के कार्य करने चाहिये। उसके सर्वहितकारी नियम ऐसे श्रेष्ठ होने चाहिये कि किसी वैकल्पिक योजना से उनका स्थान न लिया जा सके।

राज्य की आवश्यकता उपयोगिता के आधार पर समझना राज्य की तुलना अन्य सार्वजनिक-उपयोगिता सम्बन्धी संवासों के साथ करना है। राज्य इस प्रकार की साधारण कम्पनी (जैसी व्यापार आदि की होती हैं) नहीं है। राज्य एक उच्चतम संस्था है। बर्क (Burke) के शब्दों में राज्य "सब सद्‌गुणों में साझेदारी है।" राज्य का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति करना है। राज्य समाज की एक प्राथमिक नैतिक संस्था है। राज्य सांसारिक वस्तु नहीं यह एक महान् संस्था है जिससे मानव समाज का इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होता है। उपयोगितावाद सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यक्तिगत कल्याण का केवल साधनमात्र है। वास्तव में ऐसा नहीं है, राज्य साधन भी है और स्वयं साध्य भी है। राज्य केवल वर्त्तमान काल के जीवित मनुष्यों के हित का ही साधन नहीं है, यह भावी सन्तानों के कल्याण का अनिवार्य ध्येय है। अतः राज्य की समाज के लिये प्राथमिक आवश्यकता है, और वह एक अनिवार्य संस्था है।

(५) **मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार राज्य की आवश्यकता**—अरस्तू ने

मनुष्य को "एक राजनैतिक प्राणी" कहा है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य में एक आन्तरिक प्रेरणा होती है जिसके अनुसार स्वभावतः मनुष्य मनुष्य की आज्ञा का पालन करता है। यही राजनैतिक अन्तर्बोध है। मनुष्य की प्रकृति में यह बात सम्मिलित है कि वह किसी दूसरे मनुष्य की आज्ञा का पालन करे।

यदि यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सत्य है तो राज्य की उत्पत्ति के विषय में जितने भी सिद्धान्त हैं सब नितान्त मिथ्या हो जाते हैं। ऐतिहासिक तथा विकास सिद्धान्त के लिये भी कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि मनोवैज्ञानिकों का मत सत्य है तो संसार के सब भागों में मनुष्य किसी न किसी प्रकार के राजनैतिक संगठन में बंधे हुये पाये जाने चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है। एस्किमो (Eskimoes) लोगों के इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होगा कि उनमें कभी राजनैतिक चेतना नहीं रही है। उनमें कभी राजनैतिक संगठन स्थापित नहीं हुआ और न है। इसके अतिरिक्त यह विश्वास भी निर्मूल है कि राज्य मनुष्यों की आन्तरिक प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है। मनोविज्ञान हमको यह नहीं बतलाता कि शासन का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से क्या सम्बन्ध है। मनोविज्ञान के अनुसार राज्य की आवश्यकता का आधार मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

(६) **आदर्शवाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य हमारी स्वार्थ-रहित पवित्र इच्छाओं की अभिव्यक्ति है। राज्य की आज्ञा पालन करने में हम अपनी ही पवित्र इच्छाओं की आज्ञा पालन करते हैं। राज्य और व्यक्तिगत ध्येय भिन्न नहीं हैं एक ही हैं। हेगिल के शब्दों में राज्य स्वतन्त्रता का वास्तविक स्वरूप है। इन लोगों के विचार से राज्य हमारे आन्तरिक श्रेष्ठतम भाव व्यक्त होकर राज्य का रूप धारण करते हैं हमारी वैयक्तिक उन्नति तथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य परम आवश्यक संस्था है। राज्य में ही मनुष्य उच्च से उच्च आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार मनुष्य के चित्त में उच्च वृत्तियाँ नीच वृत्तियों को दबाकर उसे श्रेय मार्ग पर बढ़ने में सहायता देती हैं वैसे ही राज्य, जो उन उच्च वृत्तियों की समष्टि है, व्यक्तियों को कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करता है। राज्य एक नैतिक संस्था है जिसके द्वारा ही नैतिक जीवन सम्भव है। राज्य में रहकर ही मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है। राज्य ही मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है। ग्रीन इस बात का समर्थन करता है कि राज्य की आज्ञा का पालन करना

मनुष्यमात्र का धर्म है। उसके विचार से नैतिक और राजनैतिक पराधीनता का एक ही स्रोत है। और वह है हमारी सद-सद विवेक बुद्धि राज्य के विधान का उद्देश्य सर्व साधारण की भलाई है। सर्व साधारण की भलाई में व्यक्तिगत भलाई है।

आदर्शवाद सिद्धान्त के विरोधियों का विचार है कि राज्य की स्थापना शक्ति के आधार पर हुई है और कालान्तर में मनुष्यों को राज्य की आज्ञा पालन करते करते ऐसा करने का स्वभाव होगया है। सम्भव है राज्य की स्थापना शक्ति और भय के आधार पर हुई हो परन्तु यह निश्चित है कि इसका परिणाम अच्छा हुआ है और इसमें निःस्वार्थता का तत्व भी दिखाई देता है। राज्य एक सर्वोच्च सत्ता है जो निःस्वार्थता के आधार पर जनसाधारण की भलाई का कार्य करती है। यह सत्ता लिखित अथवा आथत्मक विधानों के रूप में समाज पर शासन करती है। वास्तव में सर्व-साधारण की इच्छा ही शासन-रूप में प्रकट होती है। जनतन्त्र राज्यों में यही इच्छा शासक है। जब तक देश अथवा राज्य में शान्ति और व्यवस्था है तब तक वास्तव में सर्वसाधारण की इच्छा विद्यमान दिखाई पड़ती है। इसके विपरीत दशा में सर्वसाधारण की इच्छा का ह्रास हो जाता है और राज्य में स्वार्थपरायणता आजाती है।

(७) **अराजकतावाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता**—अराजकतावादियों (Anarchists) के मतानुसार राज्य की आवश्यकता ही नहीं है, इससे मनुष्य का कोई युक्तिमूलक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। मनुष्यमात्र की उन्नति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जितनी जल्दी हो सके राज्य का अन्त कर दिया जाय। क्रान्तिकारी अराजकतावादियों का तो यह विचार है कि हिंसात्मक उपायों द्वारा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्त कर देना चाहिये। इनके अतिरिक्त टॉल्स्टॉय (Tolstoy) जैसे दार्शनिक अराजकतावादी भी हैं जिनका विचार है मनुष्यों की नैतिक व आध्यामिक उन्नति में राज्य का अधिकार विघ्नकारी है। राज्य से मनुष्य की नैतिकता का ह्रास होता है। मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। राज्य पशुबल का प्रयोग करके मनुष्यों को भ्रष्ट, अनैतिक तथा दुराचारी बनाता है। शासन व्यर्थ और अनिष्टकारी है। राज्य का अस्तित्व केवल स्वेच्छाकृत संगठन के रूप में ही उचित है अन्यथा नहीं। विधान का प्रयोग सुझाव अथवा परामर्श के रूप में होना चाहिये। शासन का आधार प्रेम ोना चाहिये, शक्ति नहीं। मनुष्यमात्र को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि

सत्य बोलना, और भलाई करना उसका स्वभाव बन जाय। ये गुण उसकी प्रकृति में घुल मिलकर उसका अङ्ग बन जायें। निर्विघ्न व्यक्तिगत स्वराज्य ही सर्वश्रेष्ठ शासन है।

दार्शनिक अराजकतावादियों का राज्य के विषय में यह विचार उतोपीयन (Utopean) अर्थात् स्वप्नदर्शी प्रतीत होता है। राज्य सदैव ही मनुष्य के नैतिक पतन का कारण नहीं होता। प्राचीनकाल के हिन्दू राज्य में मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति पर ध्यान दिया जाता था। प्राचीन काल में बड़े बड़े ऋषि, मुनि, विद्वान्, वैज्ञानिक, दार्शनिक और महात्मा हुए हैं। ये सब मनुष्य समाज की राजनैतिक व्यवस्था में हुये हैं, राज्य में ही हुए हैं, अराजकता की दशा में नहीं हुये हैं। अतः हम दार्शनिक अराजकतावादियों के सिद्धान्त से सहमत नहीं हो सकते। यदि राज्य में मानव समाज की इस प्रकार की उन्नति नहीं होती है तो समझना चाहिये कि वास्तव में राज्य की शासन प्रणाली दूषित है। उसके दोष को दूर करना चाहिये। आधुनिक काल में तो संसार के प्रत्येक भाग में अधिकतर प्रजातन्त्र राज्य हैं। जनसाधारण अपनी इच्छानुसार अपने कल्याण के लिये जैसे विधान चाहें बना सकते हैं। एक आदर्श जनतन्त्र राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को वहां तक पूर्ण स्वतन्त्रता है जहां तक वह दूसरे के हितों का घातक नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति करने और इहलोक व परलोक के कल्याण के लिये स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र होता है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अवसर प्राप्त हो वास्तव में वही एक आदर्श राज्य है। राज्य में रहकर ही मनुष्य सब प्रकार की उन्नति कर सकता है, राज्य से पृथक् होकर नहीं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

गिलक्रिस्ट आर० ऐन०—*प्रिंसिपिल्स आफ़ पौलीटिकल साइन्स*

गैटिल आर० ऐम०—*इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइन्स*

गार्नर जे० डब्ल्यू—*पौलीटिकल साइन्स ऐन्ड गवर्नमेंट*

विल्डे० ऐन०— *ऐथीकल बेसिस आफ़ दी स्टेट*

विल्सन० डब्ल्यू०—*स्टेट*

डीले—*डैवलपमैन्ट आफ़ दी स्टेट*

कौटिल्य—*अर्थशास्त्र*

सरकार० बी० के०—*पौलीटिकल इस्टीट्यूशन्स ऐन्ड थ्यौरी आफ़ दी हिंडूज़*

श्री वेंकटेश प्रेस—*शुक्रनीतिसार*

बंगवासी प्रेस, कलकत्ता—*महाभारत (शान्तिपर्व)*

वणिक् प्रेस, कलकत्ता—*मनुस्मृति*

अध्याय ६

राज्य के रूप

राज्य का वर्गीकरण करना सुगम कार्य नहीं है। जनसंख्या, भूमि, शासन और सर्वोच्च सत्ता का होना सभी राष्ट्रों में आवश्यक है। जनसंख्या तथा भूमि के विचार से राष्ट्रों का वर्गीकरण सम्भव है परन्तु राजशास्त्र में इसका महत्व नहीं है। राजशास्त्र नगर-राज्य जाति-राज्य तथा सार्वभौम-राज्य का वर्णन भी है। राज्य के रूप तथा विस्तार का उनकी शक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध है। सिद्धान्त में चाहे सभी राज्य समान हों परन्तु वास्तव में वे समान नहीं होते। बड़े राज्यों की शक्ति छोटे राज्यों से कहीं अधिक होती है। यही एक बात राज्यों में समता सिद्धान्त का लोप करती है। एकता के आधार पर राज्य का वर्गीकरण नहीं हो सकता। सभी राज्यों में एकता का होना आवश्यक है संगठन एक ऐसी वस्तु है जिसमें राज्यों में परस्पर भेद दिखाई देता है। जितने भी राज्य हैं उतने ही प्रकार के उनके संगठन हैं। राज्य के रूप का प्राचीन काल में भी वर्गीकरण किया गया था, परन्तु वह वर्गीकरण अति सरल था। ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति और साथ साथ राजनैतिक चेतना की अधिकाधिक वृद्धि होती गई त्यों त्यों राज्यों का वर्गीकरण जटिल होता गया। अति प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के राज्य के भिन्न भिन्न रूपों का हम यहाँ विस्तृत वर्णन करेंगे।

अति प्राचीन काल में राज्य के रूप—वैदिक तथा हिन्दू काल के राज्यों के रूप समझने के लिये पहले यह आवश्यक है कि कुछ शब्दों के निश्चित अर्थ ज्ञात कर लिये जायँ। समूह, संघ,गण,ग्राम,पौर, जानपद, श्रेणी, नैगम, श्रेष्ठि और कुछ शब्दों के निश्चित अर्थ जान लेना आवश्यक है। समूह का अर्थ वृन्द अथवा दल है। दल नियन्त्रित होता था। इसे एक संस्था का रूप प्राप्त था। समूह अनेक प्रकार के थे और उनके भिन्न भिन्न नाम थे। जैनों और बौद्धों के समूह संघ कहे जाते थे, वैश्यों के समूह पूग कहे जाते थे। कुलों के

समूह का नाम गण और पुरवासियों के समूह का नाम पौर था। * इसी प्रकार ग्राम और नगर भी समूहों के ही नाम थे। जनपद की संस्था जानपद कहाती थी। नैगम व्यापारियों की सभा थी। श्रेणी उन कारीगरों की संस्था थी जो एक ही प्रकार की वस्तुयें बनाते और बेचते थे। श्रेष्ठि नगरसेठ होता था। कदाचित् पौरका अध्यक्ष होने के कारण उसका नाम श्रेष्ठि था।

अति प्राचीन काल में जिन राज्यों में राजा नहीं होता था उन्हें राज्य कहते थे। संघ दो प्रकार के होते थे—एक कुल-संघ, दूसरे गण-संघ। कुल-संघ में कुल के और गण-संघ में कुलों के लोग होते थे। कुल संघ में उस कुल का वृद्ध पुरुष उनका राजा होता था। भारत, वैदेह, पञ्चाल आदि ऐसे ही कुल राज्य थे। महाभारत के समय तक अर्थात् ईसा से ७०० वर्ष पूर्व तक भारत में कुल-राज्य अधिक थे, कालान्तर में कुल-राज्यों के मिल जाने से साम्राज्यों की स्थापना हुई। पहले कुलों का समूह गण कहाता था। कालान्तर में अराजक राज्य के लिये गण शब्द का प्रयोग होने लगा। 'अवदान शतक' नामक बौद्ध ग्रन्थ से पता चलता है कि जब उत्तर के व्यापारी दक्षिण गये, तब दक्षिण के राजा ने उनसे प्रश्न किया कि उत्तर में राजा कौन है? उन्होंने उत्तर दिया कि कुछ देश गणाधीन और कुछ राजाधीन है। महाभारत में गण राज्य सभातन्त्र राज्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अमरकोश में गण का अर्थ सहवासियों की सभा बताया गया है। पाणिनि ने भी संघ को गण अर्थवाची बताया है। परन्तु गण कुलों से बड़ा होता है तथा दो अथवा दो से अधिक कुलों के मिलने से बनता है,जैसे अन्धकवृष्णी संघ अन्धकों और वृष्णियों का था। वृष्णियों में राजा नहीं था। इसका पता महाभारत के सभापर्व के ५ वें अध्याय से चलता है। उनका संघ राज्य था। यह कौटिल्य की इस बात से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में द्वैपायन को असन्तुष्ट करने के कारण वृष्णि संघ का नाश हुआ था।‡ महाभारत से पता चलता है कि अन्धक-वृष्णि संघ में दो दल थे।

---

* आर्हत सौगतानां तु समूहः सङ्घ उच्यते। कात्यायन विवाद रत्नाकर पृष्ठ ६९६

समूहः वाणिजादीनां पूगः परिकीर्त्तितः। विवाद रत्नाकर ६६९

कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्प्रकीर्त्तितः। वीरमित्रोदय पृ० ४२६

पौरः पुरवासिनां समूहः। वीरमित्रोदय पृ० ११

‡ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमत्यासादयन् वृष्णिसङ्घश्च द्वैपायनमिति॥ १३॥ अधि० १ अ० ६

वृष्णि संघ में दो दल थे। वृष्णियों का नेता आहुक और अन्धकों का अक्रूर था तथा बभ्रु, उग्रसेन और श्रीकृष्ण दोनों निर्वाचित संघ-मुख्य थे। पाणिनि और महाभारतकार दोनों ने गणों की चर्चा की है। महाभारत में लिखा है कि उत्सव-संकेत आदि सात पर्वतवासी दस्यु गणों को पाण्डव अर्जुन ने जीता। * अजातशत्रु की मृत्यु के २०० वर्ष पश्चात् कौटिल्य ने लिच्छवी, वृजी, मद्र, कुकर, कुरु, पाञ्चाल को राजशब्दोपजीवी के नाम से प्रसिद्ध बताया है। † इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के आरंभ में भी उक्त जातियों के संघ थे। यूनानियों के लिखे हुए भारत-सम्बन्धी वर्णनों से पता चलता है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व और आक्रमण पश्चात् भी भारत में अनेक गणराज्य थे। मेगस्थनीज़ (Megasthenese) और एरियन (Arrian) † ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि 'भारत के लोग डायनिसस से सैन्ड्रकोटस (चन्द्रगुप्त) तक १५३ राजाओं और ६०४२ वर्षों का समय मानते हैं, पर इसी बीच में ३ बार प्रजातन्त्र स्थापित हुआ था।……दूसरी बार ३०० वर्षों तक और एक बार १२० वर्षों तक रहा था। भारतवासी कहते हैं कि डायनिसस (दक्ष) हिरेकेल्स से १५ पीढ़ी पहले हुआ था।' (हिरेकेल्स=हरिकुलेश=कृष्ण)। यदि २५ वर्षों की एक पीढ़ी मान ली जाय तो दक्ष से ३५५ वर्ष पश्चात् श्रीकृष्ण हुए थे। दक्ष के ४०० वर्ष पश्चात् श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण द्वापर के अन्त में हुये थे। चन्द्रगुप्त कलि सम्वत् २७८० में हुआ था। अतः दक्ष से चन्द्रगुप्त तक ३२०० वर्ष होते हैं। कलि सम्वत् ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व प्रचलित हुआ था। चन्द्रगुप्त के अभिषेक का समय ईसा से ३२० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त तक २८०० वर्ष ही होते हैं। यूनानी लेखकों की गणना में कुछ भूल अवश्य है। इस गणना में चाहे भूल हो परन्तु इससे विदित होता है कि उस समय यहां प्रजातन्त्र राज्य अवश्य थे।

अध्यापक विनयकुमार सरकार ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि गणतन्त्रों वा प्रजातन्त्रों के तीन युग थे। एक ईसा से ६०० से ४५० वर्ष पूर्व, दूसरा ईसा से ३५० से ३०० वर्ष पूर्व और तीसरा ईसा से १५० वर्ष पूर्व से ईस्वी सन् ३५० तक। पहले युग में ११ गण वा संघ राज्य थे—

---

* गणन् उत्सव संकेतान् दस्यून् पर्वत वासिनः। अजयतसप्त पाण्डवः।
शान्तिपर्व अ० १०७

† प्राचीन भारत जैसा मेगस्थनीज और एरियन ने वर्णन किया। पृष्ठ २०

(१) सुससुमर पहाड़ के भाग, (२) अल्लकप्पा के बुली, (३) केशपुत्त के कालाम, (४) पिप्पलीवन के मोरिया (मौर्य), (५) राम ग्राम के कोलिया, (६) कुशीनगर के मल्ल, (७) पावा के मल्ल, (८) काशी के मल्ल (९) कपिलवस्तु के शाक्य, (१०) मिथिला के विदेह और (११) विशाली के लिच्छवी। लिच्छवी, शाक्य, विदेह मल्ल आदि आठ जातियों का संयुक्त संघ वृजिक वा वज्जी संघ कहाता था। इसकी राजधानी वैशाली थी, जो अब मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में बसाढ़ नामक ग्राम है। दूसरे युग के गणों में उन्होंने पटल, अराट, मालव-क्षुद्रक, सम्वष्टई, आगलस्सोई और निसाई संघों का वर्णन किया है। तीसरे युग के गणों में यौधेय, मालव, कुनिन्द और वृष्णि संघ बताये हैं। यौधेयों का प्रभुत्व पंजाब की सतलज नदी के दोनों किनारों पर था, परन्तु प्रभाव यमुना के पूर्वी किनारे और राजपूताने के कुछ भागों पर भी था। मालव, चम्बल और बेतवा नदियों के बीच में रहते थे। इनके पश्चिम में सिबी लोग थे। यौधेयों के पूर्व कुनिन्द लोग रहते थे। वृष्णी तो यादवों की शाखामात्र थे, जिनके नेता श्रीकृष्ण थे। दूसरे युग में अराट बहुत प्रसिद्ध थे और ये पंजाब में रहते थे। इन्होंने चन्द्रगुप्त की बड़ी सहायता की थी। प्रथम युग के गणों में शाक्य संघ बहुत प्रसिद्ध था क्योंकि गौतम बुद्ध ने शाक्य वंश में ही जन्म लिया था। प्रथम युग के संघ प्रायः सब व्रात्य क्षत्रियों के थे। गौतमबुद्ध कपिलवस्तु के शाक्य संघ के मुखिया शुद्धोदन के पुत्र थे। ये गणपति वा राष्ट्रपति थे और राजा कहाते थे। शाक्यों की संख्या १० लाख थी। उनका राज्य पूर्व से पश्चिम तक ५० मील लम्बा और हिमालय की तराई से ३०—४० मील चौड़ा था। राज-कपिलवस्तु में उनका संस्थागार था, जहां राजकाज होता था।

इन सङ्घों का संगठन बौद्ध सङ्घ के संगठन के आधार पर था। 'महापरिनिब्बाण सुतन्त' से ज्ञात होता है कि लिच्छवी संघ की प्रशंसा करके बुद्ध ने राजगृह के प्रार्थना मन्दिर में उस नगर के पास के सब बौद्धों को एकत्रित करके समझाया था कि जिन गुणों की हमने प्रशंसा की है वे योग क्षेम की अभिलाषा रखनेवाले प्रत्येक संगठित संघ के लिये अनिवार्य हैं। विनयपिटक के 'पातिमोक्ख' के प्रकरण में उपसम्पदा संस्कार का जो वर्णन है, उससे लिच्छवी संघ के संगठन का कुछ पता चलता है। बौद्ध संघ में पहले एक कर्मचारी निर्वाचित किया जाता था, जो 'आसनप्रज्ञापक' कहलाता था। सबको यथास्थान बैठाना इसका काम था। लिच्छवी सङ्घ में भी बड़े बूढ़ों की प्रतिष्ठा की जाती थी, इसीलिये वहां भी आसन प्रज्ञापक की नियुक्ति

होती होगी। सब लोगों के यथास्थान बैठ जाने पर जिसे जो प्रस्ताव करना होता था, वह इसकी सूचना देता था। यह सूचना 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहलाती थी। नत्ति के उपरान्त प्रस्तावक उपस्थित भिक्खुओं से पूछता था. 'क्या आप प्रस्ताव पसन्द करते हैं' ? यह प्रश्न एक वा तीन बार किया जाता था। एक बार का प्रश्न 'नत्ति दुतीय कम्म' (ज्ञप्ति द्वितीय कर्म) और तीन बार का 'नत्ति चतुत्थ कम्म' (ज्ञप्ति चतुर्थ कर्म) कहाता था। बुद्धदेव ने नत्ति का प्रकार भी बताया था। वह एक विद्वान् योग्य भिक्खु संघ के सामने निम्नलिखित घोषणा करे—'आदरणीय सज्जनो, संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्त से (अर्थात् पूजनीय यज्ञदत्त को उपाध्याय बनाकर) उपसम्पदा लेना चाहता है। यदि संघ प्रस्तुत हो तो वह देवदत्त को यज्ञदत्त से उपज्झाय (उपाध्याय) रूप से उप सम्पदा दिलादे, यही नत्ति है'। आदरणीय सज्जनो संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्त से उपसम्पदा लेना चाहता है। संघ देवदत्त को यज्ञदत्त उपज्झाय से उपसम्पदा मिलने के पक्ष में हो, वह मौन रहे और जो पक्ष में न हो, वह बोले'। दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार सूचना देकर अन्त में कहे, 'देवदत्त ने संघ से यज्ञदत्त उपज्झाय द्वारा उपसम्पदा प्राप्त की है। संघ इसके पक्ष में है, इसलिये वह मौन है यह मैं समझता हूँ।'

वादग्रस्त विषयों में सभाभवन में बड़े झगड़े होते थे और इनका निर्णय करने के लिये उभयपक्ष के मत लिये जाते थे। मतदाताओं को वोटिंग पेपर के स्थान पर लकड़ी की रंगी हुई शलाका दी जाती थी और शलाकासंग्रह करने के लिये एक सच्चा निरपेक्ष मनुष्य समस्त संघ द्वारा चुना जाता था। यह 'शलाकागाहक' (शलाकाग्राहक) कहाता था। शलाका गाहक में जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती थी, वे बुद्धदेव के मतानुसार ये थे—वह (१) निरक्षेप हो, (२) द्वेषरहित हो, (३) मूर्ख न हो, (४) भीत न हो और (५) जानता हो कि कौन मत लिये गये हैं और कौन नहीं।' संघ के अनुपस्थित सदस्य का मत भी लिया जाता था। इस प्रकार के मत को ग्रहण 'खण्ड' कहते थे। मतसंग्रह करने की तीन रीतियां बुद्ध ने बतायी थीं। एक गुप्त, दूसरी कानाफूसी की, और तीसरी खुलम-खुल्ला। गुप्त रीति से मत देने में मतदाता जब मत संग्राहक के पास जाता था, तब वह भिन्न-भिन्न रंगों की शलाकायें दिखाकर बताता था कि 'अमुक मत के मनुष्य के लिये यह शलाका है और अमुक के लिये वह, आप जो चाहें ले लें।' जब वह था, तब उससे ले लेता कहा जाता था कि इसे किसी को न दिखाना। कोरम की व्यवस्था भी थी, कोरम को देखने वाला 'गणपूरक' कहाता था।

उस समय कुल-संघ और गण-संघों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के राज्य भी थे। शुक्रनीतिसार के अनुसार भूसम्पत्ति, अधिकार तथा शक्ति के आधार पर राजा, सामन्त, माण्डलिक स्वराट् सम्राट् विराट् अथवा सार्वभौम आदि उपाधियों से विभूषित होता था। सामन्त और माण्डलिक तो राजा के आधीन होते थे। सामन्त छोटा होता था और माण्डलिक बड़ा। सामन्त राजा के अधीन होता था। माण्डलिक के अधीन कोई नहीं होता था। सम्राट् चक्रवर्ती अथवा माण्डलेश्वर कहलाता था। एक लाख से तीन लाख की आय वाला और सौ ग्रामों पर प्रभुत्व रखने वाला सामन्त कहाता था। चार से छः लाख तक वाला माण्डलिक, दस से बीस लाख तक वाला राजा, बीस से पचास लाख तक वाला महाराजा, पचास लाख से एक करोड़ तक वाला सम्राट् और ५० करोड़ वाला विराट् कहाता था। सप्तद्वीपा वसुन्धरा का अधिपति सार्वभौम कहाता था। सौ ग्रामों का अधिकारी अनुसामन्त, दस ग्रामों का नायक और १० हज़ार ग्रामों का आशापाल कहाता था। जिस एक कोस के भूभाग में राजा का भाग एक हज़ार रुपये हो, वह ग्राम कहाता था। ग्राम का आधा पल्ली, पल्ली का आधा कुम्भ कहाता था।* ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक की प्रतिज्ञा से जाना जाता है कि राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य, आधिपत्य और सार्वभौमत्व विविध प्रकार के राज्य थे। शुक्लयजुर्वेद में पांच मंत्र हैं, जिनसे पता चलता है कि इष्टका पूर्व दिशा की राज्ञी है जहां वसु देवता अधिपति हैं। दक्षिण दिशा में विराट् है, जहां रुद्र देवता अधिपति हैं। पश्चिम दिशा में सम्राट् है, जहां आदित्य देवता अधिपति हैं। तथा ऊर्ध्व दिशा में अधिपत्नी है जहां विश्वे-देवा देवता अधिपति हैं। † इससे ज्ञात होता है कि पूर्व के राजा, राजा; पश्चिम के सम्राट्, उत्तर के स्वराट् और उर्द्ध के अधिपति होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण से पता चलता है कि पूर्व के देशों के राजाओं का अभिषेक साम्राज्य के लिये दक्षिण देश के राजाओं का भौज्य के लिये, हिमालय के उत्तर के उत्तरकुरु और उत्तर मद्र के राजाओं का वैराज्य के लिये तथा मध्य देश के कुरु पांचाल और उशीनर के राजाओं का अभिषेक राज्य के लिये होता

* देखो शुक्रनीतिसार श्लोक १८२ से १८६ तक और १९० से १९२ तक—अ० १।

था। * अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि प्रजापति राजसूय यज्ञ करके राजा, वाजपेय करके सम्राट् अश्वमेध करके विराट्, पुरुषमेध करके स्वराट् और सर्वमेध करके सर्वराट् हुआ। सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की इन पदवियों के विषय में कहा है कि कोश का आधिपत्य राज्य, धर्म से पालित साम्राज्य; अपराधीनत्व स्वराज्य, अन्य राजाओं से वैशिष्ठ्य वराज्य है।

महाभारत के समय में विदर्भ (बरार) के राजा कुन्तिभोज कहाते थे। मालवा की धारा नगरी के राजा भी भोज कहलाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि भोज दक्षिण देश के राजाओं की उपाधि थी और राज्य भोज्य कहाता था। कच्छ के पास भुज है वहां का राजा भी भोज कहाता होगा, अब उसका नाव भुज रह गया है। पश्चिम में सौराष्ट्र है। यही पहले सुराष्ट्र या स्वराट् कहलाता होगा जो अब बिगड़कर सुराट् व सूरत बन गया है। स्वराट् का अर्थ स्वयं शासन करनेवाला है यह वहां के राजा की पदवी थी, राज्य स्वराज्य कहाता था। स्वराज्य के विषय में ऋग्वेद में एक मंत्र है जिसका अर्थ है 'हे मित्रों, जिनकी दृष्टि विशाल हुई है तुम और हम सब विद्वान् मिलकर अनेकों की सहायता से पालन होने वाले स्वराज्य में भली भांति यत्न करें। † एक मन्त्र अथर्ववेद में भी आया है जिसका अर्थ है जो अज या वेता पहले उत्पन्न हुआ, उसी ने उस स्वराज्य को प्राप्त किया जिससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है। ‡ इन दोनों मन्त्रों से पता चलता है कि स्वराज्य पद्धति के लिये बहुत कुशल मनुष्यों की अपेक्षा होती है जिनकी दृष्टि विशाल हुई हो। स्वराज्य शासन पद्धति से बढ़कर कोई पद्धति नहीं है। हिमालय पार के उत्तर कुरु और उत्तर मद्र राज्य वैराज्य कहाते थे। कदाचित् नैपाल का विराट नगर इनमें से किसी की राजधानी हो और यहीं से मत्स्य देश के विराट् राजा गये हों। हिमालय की तराई और उत्तर बिराट् के संघ राज्यों के रूप जो वैराज्य थे, वे विराट् (बिना राजा के) थे, अतः

---

* देखो ऐतरेय ब्राह्मण ८। १४। २। ३

† आयद वामीच चक्षसा मित्रं वयं सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यते महि स्वराज्ये ॥८।६६।६॥

‡ यदजः प्रथमं संबभूव।
सहतत् स्वराज्यभियाय।
यस्मान्नान्यत् परमारित्त भूतम् ॥१०।७।३१॥

जिन राज्यों में राजा न हों वे ही वैराज्य थे। वैराज्य में जातियों को राज-शब्दोपजीवी कहा है। उसका अभिप्राय यही है कि उनमें सभी राजा कहाते थे। बौद्ध ग्रंथ महावत्थु (महावस्तु) में कहा गया है कि वैशाली में ८४ हजार से दूने राजा रहते थे अर्थात् वैशाली सभी लिच्छवी थे। एकपण्ण जातक में वैशाली के ७७०७ राजाओं का वर्णन है। जयसवाल जी ने अपने ग्रन्थ * में पाणिनि के आधार पर मद्र, वृजी, राजन्य, अन्धक-वृष्णी और महाराज इन छः जातियों के संघ बताये हैं।

कौटिल्य के मत से सार्वभौम राजा के राज्य की सीमा हिमालय से कन्या-कुमारी तक थी। † उसने वैराज्य के साथ द्वैराज्य का भी वर्णन किया है। उसके मत से वैराज्य वह है जिसका कोई राजा हो और द्वैराज्य वह है जिसमें दो राजा हों। पूर्वाचार्यों के मतानुसार द्वैराज्य से वैराज्य अच्छा होता है। द्वैराज्य दोनों पक्षों के द्वेष से नष्ट हो जाता है। वैज्य प्रजा के विचारों के अनुसार चलने से भोगा जा सकता है। इसके विपरीत कौटिल्य का मत है कि द्वैराज्य पिता और पुत्र अथवा दो भाइयों का ही हो सकता है और उनका योगक्षेम समान ही होता है। इसलिये मन्त्रियों द्वारा दोनों का झगड़ा निबटाया जा सकता है। परन्तु वैराज्य में जीवित शत्रु का उच्छेदन करके भी कोई उसे अपना नहीं मानता, राजनैतिक संस्था का भाव ही नहीं रहता, चाहे जो देश को बेच सकता है। कोई अपने को उत्तरदायी नहींमानता और विरक्त होकर राज्य से चला जाता है। ‡ जैन आचारांग सूत्र में दो रज्जाणि (द्वैराज्य), और वैरज्जणि (वैराज्य) वा विरुद्ध रज्जाणि के अति-रिक्त अरायाणि (अराजक राज्य) गणरायाणि (गणराज्य), जुवरायाणि

---

* 'हिन्दू पालिटी' भाग १ पृ० ३९।

† देशः पृथिवी ॥ १७ ॥ तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदी चनं योजन सहस्त्र-परिमारणंतिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् ॥१८॥ अधि० ९ अ० १ ॥

‡ द्वैराज्यवैराज्ययोर्द्वैराज्यमन्यपक्षे द्वेषानुराभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विन-श्यति ॥६॥वैयाज्यन्तु प्रकृतिचित्त ग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत-इत्याचार्याः ॥७॥ नेति कौटिल्यः ॥८॥ पितापुत्रयोर्भ्रात्रोर्वा द्वैराज्यं तुल्य योगक्षेम मामत्यवग्रह वर्त्तयेतित ॥९॥ वैराज्ये तु जीविः पररचाच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति ॥१०॥ पण्यं वा करोति ॥११॥ विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति ॥१२॥ अधि० ८ अ० २।

(यौवराज्य) का भी वर्णन है। * उग्रकुल, भोजकुल, राजकुल, क्षत्रिकुल और इक्ष्वाकुल के नाम भी पाये जाते हैं। अराजक राज्य का वर्णन महाभारत में भी है। वहां वह मात्स्यन्याय रूप में दिखाया गया है। वास्तव में जब लोग मेल से न रहकर बली दुर्बल को पीड़ित करने लगे तब मात्स्य न्याय उत्पन्न होगया और फिर राज्य की स्थापना की गई। द्वैराज्य शासन पद्धति किसी समय अवन्ती में थी जहां बिन्दु और अनुबिन्दु राज्य करते थे। इन्हें दिग्विजय करते हुए सहदेव ने हराया था। † छठी और सातवीं शताब्दी ईस्वी में नैपाल में भी ऐसी शासन पद्धति थी। काठमांडू में लिच्छवी और ठाकुरी वंशों के लेख भी मिले हैं। ये एक राजधानी के दो स्थानों से प्रचारित आज्ञाएँ हैं, जिनकी तिथियों से ज्ञात होता है कि दोनों घरानों ने एक साथ शासन किया था। दोनों घरानों में कोई रक्त सम्बन्ध न था, फिर भी दोनों एक ही राज्य के राजा थे। यौवराज्य वह शासन पद्धति है जिसमें राजा अभिषिक्त होने से पूर्व युवराज रूप से शासन करता था। खारवेल ने ऐसे ही युवराज रूप से शासन किया था और राज्य 'यौवराजम् प्रसाशितम्' था। विरुद्ध राज्य का अर्थ वह शासन पद्धति है जिसमें बारी बारी से दलों का शासन होता था। ऐसा राज्य अन्धकवृष्णी संघ का था।

जिन जिन पदवियों का ऊपर वर्णन किया गया है वह राजाओं की केवल पदवियां ही न थीं, उन पदवियों में राज्यपद्धति का वैशिष्ट्य भी था। राज्य एकतन्त्री शासन, स्वराज्य प्रतिनिधिक शासन, साम्राज्य अर्थात राजाओं पर शासन, वैराज्य प्रजातन्त्र शासन, पारमेष्ठ्य कुलपति-प्रभुत्वमूलक शासन, सामन्तपर्यायी सार्वभौमशासन अंग्रेजों द्वारा भारत के शासन सदृश था। साम्राज्य चक्रवर्तित्व है। चक्रवर्ती, परमेश्वर, परमभट्टारक, महा-राजाधिराज, अखण्ड भूमिप, राजराज, विश्वराज और चतुरन्तेश आदि पदवियां भी राजाओं की पाई जाती हैं। चक्रवर्ती का प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी हुआ है। उसका अर्थ सार्वभौम राजा से है। संस्कृत में चक्रवर्ती के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि जिस राजा के रथ के चक्र वा पहिये बे रोक टोक सर्वत्र घूमते रहें, वह चक्रवर्त्ती अर्थात् संसार का अधिपति, चक्र का शासक, इस समुद्र से उस समुद्र तक जिसका राज्य विस्तार हो। दूसरा

---

* आचांगसूत्र दूसरा भाग ॥३।१०।१०

† ततस्तेनैवसहितो नर्मदामभितो ययौ ।
विन्दानुविन्दा वा वन्त्योसैन्येन महता वृतौ ॥

अर्थ यह है कि जिस राजा के हाथ में चक्र का चिन्ह हो और जिसका पराक्रम देवता भी न सह सकें, वह चक्रवर्ती है।

प्राचीन काल में राज्य के रूप—अब से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व अरस्तू ने राज्य के रूपों का वर्णन किया था। प्रत्येक राज्य में एक मुख्य अङ्ग होता है जिसमें राज्य की शासन शक्ति संचित रहती है और वहाँ से ही अन्य भागों में प्रवाहित होती है। उस मुख्य अंग में कितने जन सम्मिलित हैं इसी को लक्ष्य बनाकर अरस्तू ने राज्य के रूपों का वर्गीकरण किया था। साथ ही उसने सम्पूर्ण राज्यों को स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक भागों में विभक्त किया था। राज्य का मुख्य अंग यदि अपनी शक्ति को राज्य के हित में प्रयुक्त करे तो स्वाभाविक राज्य और यदि राज्य के अहित और अपने स्वार्थ की सिद्धि में प्रयुक्त करे तो अस्वाभाविक राज्य होता है। राजा, कुल तथा प्रजा में से प्रभुत्व शक्ति (सर्वोच्चसत्ता) का संचय तथा स्रोत किस में है इस विचार से राज्य के तीन स्वाभाविक अथवा श्रेष्ठ और तीन अस्वाभाविक अथवा भ्रष्ट रूप बताये हैं। स्वाभाविक और श्रेष्ठ राज्य हैं—(१) राजतन्त्र (Monarchy), (२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), और सुप्रजातन्त्र (Polity)। अस्वाभाविक अथवा भ्रष्ट रूप हैं—(१) स्वेच्छाचारी (Tyranny), (२) भ्रष्टकुलीनात्मक और (३) कुप्रजा-तन्त्र (Democracy)। वर्तमान काल में भी प्रधानतया ये ही तीन रूप माने जाते हैं परन्तु कुप्रजातन्त्र (Democracy) के अर्थ में विभिन्नता तथा विशेषता आ गई है। अरस्तू के समय में 'डिमाक्रेसी' का अर्थ दूषित समझा जाता था अब 'डिमाक्रेसी' का अर्थ प्राचीन काल के 'पालिटी' के अर्थ में समझा जाता है।

राजतन्त्र (Monarchy)—राजतन्त्र उस शासन प्रणाली का नाम है जिसमें किसी एक उच्चतम सत्ता की प्रेरणा से राज्य का कार्य संचालन होता है। साधारणतया इसका यह अर्थ है कि जहाँ एक राजा का राज्य हो, जहाँ राजा के हाथ में राज्य की बागडोर हो। जहाँ राजा के हाथ में राज्य की सब विधि द्वारा मर्यादित शक्तियाँ और अधिकार हों वहाँ के शासन को राजतन्त्र कहते हैं। अरस्तू का कथन है कि "वह राज्य राजतंत्रीय कहलाता है, जहाँ एक आदमी सर्वसाधारण के हित के लिये राज्य करता है।" अरस्तू का विचार है कि जहाँ राजा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये शासन करता है और प्रजा के हितों की ओर ध्यान नहीं देता है ऐसा शासन 'टिरैनी' (Tyranny) कहलाता है।

राजतन्त्र के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) और (२) संवैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy) । निरंकुश राजतन्त्र उसे कहते हैं जहाँ "राजा करे सो न्याव और पासा पड़े सो दाव" की कहावत चरितार्थ होती है । जहाँ राजा की आज्ञा ईश्वरीय आज्ञा के तुल्य समझी जाती है, जहाँ राजा के अधिकार में किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं होता, जहाँ राजा ही सब कुछ है और जो चाहे सो कर सकता है । प्रजा की बात को मानना अथवा न मानना, प्रजा के भावों का आदर करना अथवा न करना राजा की स्वेच्छा पर निर्भर है । निरंकुश राजतन्त्र के भी दो भाग किये जा सकते हैं—(१) आदर्श निरंकुश राजतन्त्र (Ideal Monarchy) और दूसरा स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी निरंकुश राजतन्त्र (Despotism or tyranny) । आदर्श निरंकुश राजा उसे कहते है जिसके हाथ में पूर्णसत्ता रहती है परन्तु वह प्रजा के भावों का आदर करता है, सदैव प्रजा के हित के कार्य करता है और प्रजा को पुत्रवत् समझते हुए उसी के हित में अपना हित भी समझता है । वह प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति को अपना ध्येय समझता है । इसी प्रकार के उच्चातिउच्च तथा दिव्य राजाओं में हम श्रीरामचन्द्र को सबसे प्रथम स्थान देते हैं, जिन्होंने जनमत का आदर करने का और जनहित कार्य करने का सर्वोत्तम आदर्श हमारे सामने रखा । दूसरी श्रेणी में अत्याचारी और स्वेच्छाचारी निरंकुश राजा आते हैं । ये राजा प्रजा के हितों की ओर ध्यान नहीं देते, राज्य को अपनी बपौती समझते हैं, अपने को देवता का अंश मानते हैं अथवा विष्णु का अवतार समझते हैं । ये राजा प्रजा के मत की अवहेलना करते हैं और प्रजा के ऊपर मनमाना अत्याचार करते हैं । इनका विचार यह होता है कि ईश्वर ने इन्हें प्रजा पर शासन करने के लिये ही उत्पन्न किया है । रूस के मृत ज़ार की गणना ऐसे स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी शासकों में की जा सकती है । अरस्तू ने ऐसे ही शासन को 'टिरैनी' के नाम से सम्बोधित किया है ।

संवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) उसे कहते हैं, जिसमें राजा की शक्तियां देश के किसी लिखित अथवा अलिखित विधान से अथवा जनमत से सीमित हों । इंगलैण्ड के आधुनिक राजा इसी श्रेणी में आते हैं । इंगलैण्ड के राजा का अधिकार देश के विधान से मर्य्यादित है । वह स्वेच्छाचारी नहीं है । यह तो हुए शासन की दृष्टि से राजतन्त्र के

भेद। परन्तु राजाओं के भी दो भेद हैं, एक वंशागत राजा, दूसरे प्रजा द्वारा निर्वाचित राजा। ऊपर बताया जा चुका है कि अति प्राचीनकाल में भारतवर्ष में राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित होता था। इसका वर्णन वेदों में भी आया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। प्राचीन काल में रोम में भी राजा चुना जाता था। पोलैण्ड के इतिहास में भी राजाओं के चुने जाने का वर्णन है। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का प्रधान (head) भी चुना गया था। सन् १७७८ में बर्लिन की सन्धि के अनुसार बलगेरिया के राजा ने भी निर्वाचन द्वारा राजगद्दी प्राप्त की थी। परन्तु इस समय संसार में अनेक राजा निर्वाचित हैं और निर्वाचित राजाओं की प्रथा प्रति दिवस बढ़ती जा रही है।

अब हमें राजतन्त्र के गुण व दोषों पर विचार करना चाहिये। किसी विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि उस विषय के दोनों पार्श्वों पर दृष्टि डाली जाय। यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है कि राजतन्त्र शासन प्रणाली संसार में अति प्राचीन है। संसार में इसका कब से प्रादुर्भाव हुआ, इसका ठीक ठीक प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता है। जो कुछ मिलता है वह विश्वसनीय नहीं है। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक और इतिहासवेत्ता ह्यूम (Hume) का कथन है कि 'यद्यपि आधुनिक काल में सब प्रकार की राज्य-प्रणालियों में सुधार हुआ है, परन्तु (monarchical government) राजतन्त्र ने पूर्णता (Perfection) की ओर सबसे अधिक प्रगति की है। गणतन्त्र, 'रिपब्लिक (Republic) की भाँति विधि परिचालित राज्य होने लगे। उनमें व्यवस्था-पद्धति और स्थिरता दिखाई देने लगी। वहाँ धन सुरक्षित है। उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिल रहा है। कलाकौशल की उन्नति हो रही है। राजा लोग प्रजा के साथ वैसा वर्ताव करने लगे हैं जैसा पिता पुत्र के साथ करता है।" इस प्रकार कुछ अन्य राजशास्त्रवेत्ताओं ने भी राजतन्त्र शासन-प्रणाली की ओर उसके फलस्वरूप लाभों की प्रशंसा की है।

राजतन्त्र के गुण—जो लोग राजतन्त्र के समर्थक हैं वे इसके पक्ष की अनेक प्रकार से पुष्टि करते हैं। उनका मत है कि इसमें सारी शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित रहती है। अतः राज्य शासन में मत भेद हो जाने से शक्तियों के बिखर जाने का भय रहता है। जब तक कैसर के हाथ में जर्मनी की बागडोर थी तब तक वहाँ जिस एकता और पूर्णता से राज्य शासन चलता था वैसा कभी नहीं चला। राष्ट्र की शक्तियों का संगठन जितना श्रेष्ठ उसके समय में

था वैसा अब नहीं है। इन लोगों का मत है कभी कभी योग्य प्रजाप्रेमी और शासन निपुण राजा के राज्य में प्रजा की ऐसी उन्नति होती है जैसी प्रजातन्त्र में कदापि नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जिन देशों में सभ्यता का यथेष्ट विकास नहीं हुआ है, जहां की प्रजा सुसंस्कृत, योग्य तथा शासन कार्य में निपुण नहीं है, वहां सुयोग्य और परोपकारी राजतन्त्र जैसा सफल हो जाता है वैसा प्रजातन्त्र नहीं होता। जहाँ लोगों का यथेष्ट रूप से राजनैतिक विकास नहीं हुआ है, जहाँ की साधारण जनता शासन कार्य में भाग लेने की योग्यता नहीं रखती है, जहाँ राजनैतिक भावनायें अपूर्ण अथवा सुषुप्त अवस्था में हैं, वहाँ राजतन्त्र ही विशेष रूप से सफल हो सकता है। परन्तु यह बात प्रत्येक राजतन्त्र के लिये नहीं कही जा सकती। केवल वही राजतन्त्र ऐसी दशा में अच्छा है जो लोकप्रिय और जनसाधारण के हितों की रक्षा करने वाला और प्रजा की सब प्रकार से उन्नति करने वाला हो। अत्याचारी और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र किसी भी दशा में श्रेष्ठ नहीं समझा जा सकता है। उसका समर्थन कभी नहीं किया जा सकता। अमेरिका के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता गार्नर का कथन है कि मनुष्यों को असभ्य तथा जंगली अवस्था से निकाल कर सभ्य अवस्था में पहुँचाने के लिये और उनमें अनुशासन स्थापित करने के लिये जितना लाभदायक राजतन्त्र हो सकता है उतना कोई दूसरी प्रकार का शासन नहीं हो सकता। इंगलैण्ड के उपयोगितावादी दार्शनिक जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) का कथन है कि "जंगली मनुष्यों के साथ व्यवहार करने के लिये एकतन्त्रीय शासन प्रणाली ही सर्वथा उपयुक्त है। हाँ, उन जंगली मनुष्यों को सुधार कर सभ्य बनाना उसका उद्देश्य होना चाहिये।" मिल ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि "जब तक मनुष्य-जाति इस अवस्था पर न पहुँच जाय कि वह गहनतम विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक वादानुवाद न कर सके तब तक उन पर स्वतन्त्रता का तत्व कुछ नियमित मर्यादा में लगाना चाहिये।" अनेक पश्चात्य विद्वानों का मत है कि मध्ययुग अथवा प्राचीन युग के लिये राजतन्त्र शासन-प्रणाली ही उपयुक्त थी। उसका अस्तित्व उसी समय तक के लिये उचित था। उस समय की स्थिति में किसी अन्य शासन-प्रणाली का सफल होना कठिन था। राजतन्त्र शासन-प्रणाली ने ही अन्य शासन-प्रणालियों का पथप्रदर्शन किया है।

राजतन्त्र के दोष—सर्वोच्चसत्ताधारी राजतन्त्र (absolute monarchy) शासन-प्रणाली में जिन लोगों पर शासन किया जाता है उन लोगों का शासन प्रणाली में कोई हाथ नहीं होता। राजा अपनी स्वेच्छा

से, यदि वह चाहे तो प्रजा को शासन कार्य में हाथ बंटाने के लिये थोड़े बहुत अधिकार दे सकता है। जिन को राजा इस योग्य समझता है कि वे उसी की नीति के अनुसार कार्य करेंगे उन्हीं को नियुक्त करता है। वास्तव में ऐसे लोग राजा की ही इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं और इसी में उनका हित भी है, क्योंकि राजा की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से उन्हें राजा के प्रकोप का परिणाम भुगतना पड़ता है और इस प्रकार उनका जीवन संकट में पड़ सकता है। अधिकतर राजतन्त्र में ऐसा होता है कि राजा अपने हित पर अधिक ध्यान देता है और प्रजा के हित पर कम। प्रजा के हित और स्वार्थ का बलिदान करके वह अपने ही हित को साधता है। प्रजा की कठिन कमाई के धन को अपने निजी सुखोपभोग में प्रयोग कर विलासपूर्ण निरर्थक जीवन व्यतीत करता है और अपनी नीच वासनाओं की पूर्ति करता है। 'Development of European Polity' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "सब राजतन्त्रों की प्रवृत्ति स्वेच्छाचारिता और उसके दोषों की ओर होती है। इनमें राजा के निजी हित और स्वार्थ को अधिक महत्व मिलता है। इस प्रकार के अनेक दोष राजतन्त्र में हैं। यदि हम यह भी मान लें कि किसी राजतन्त्र में नीत्यानुसार शासन हो रहा है, जनता सुखी है, राजकोष प्रजा की उन्नति के लिये व्यय किया जाता है, शासन बड़ी योग्यता से चलाया जाता है, तब भी इन सब गुणों के होते हुए आधुनिक काल में ऐसी शासन प्रणाली श्रेष्ठ नहीं समझी जा सकती। वास्तव में ऐसे धर्मशील और न्यायी राजा को आदर्श राजा अथवा धर्मावतार कहा जा सकता है परन्तु एकतन्त्रीय शासन चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो वह आदर्श नहीं कहा जा सकता। शासन-प्रबन्ध में प्रजा के भाग लेने से प्रजा पर प्रबन्ध के अच्छे या बुरे होने का उत्तरदायित्व रहता है। इससे प्रजा की राजनैतिक चेतना का विकास होता है। उनमें शासन-क्षमता उत्पन्न होती है। उसे स्व के तंत्र में रहने की आदत पड़ती है जो उसके चरित्र को उन्नत बनाती है यह बात केवल प्रजातन्त्र में ही संभव हो सकती है, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ राजतन्त्र में नहीं। शासन का उद्देश्य केवल प्रजा को सुखी और संतुष्ट करना ही नहीं बल्कि उसकी शक्तियों का विकास तथा उसकी प्रगति के लिये अवसर उपस्थित करना है। वर्तमान काल में शासन का वही रूप श्रेष्ठ समझा जाता है, जिसमें लोगों को भाग लेने का अवसर प्राप्त होता हो, और जिसके द्वारा शासन कार्य में निपुण लोग उत्पन्न हो सकें। केवल ऐसा ही शासन वास्तव में श्रेष्ठ है।

वंशागत राजतन्त्र की आलोचना—राजतंत्र के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष यही है कि पिता के अंश पुत्र में अवश्य आते हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है परन्तु इस नियम में अपवाद भी हैं। श्रेष्ठ पिता के दुष्ट पुत्र और दुष्ट पिता के श्रेष्ठ पुत्र भी होते हैं। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि गुणवान पिता के गुणवान पुत्र ही उत्पन्न हों। इसी प्रकार किसी श्रेष्ठ और बुद्धिमान राजा के श्रेष्ठ और बुद्धिमान पुत्र ही उत्पन्न होंगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सम्भव है कि उसके दुष्ट, लम्पट और अयोग्य पुत्र भी उत्पन्न हो जायें। अतः योग्यता तथा अयोग्यता, सदगुण अथवा दुर्गुण की परीक्षा बिना किये केवल इसी आधार पर कि वह राजा का पुत्र है, किसी को राजगद्दी दे देना और लाखों अथवा करोड़ों मनुष्यों के भाग्य की बागडोर उसके साथ में सौंप देना सर्वथा अनुचित है। इतिहास में अनेकों उदाहरण ऐसे दिखाई देते हैं कि वंशागत पद्धति के कारण राजगद्दी पर ऐसे अयोग्य राजा बैठे हैं जिन्होंने प्रजा पर बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। फ्रांस में लगभग ४०० वर्ष तक निरन्तर नवयुवक राजा ही गद्दी पर बैठते रहे। हमारे देश में देशीय राज्यों की भी यही दशा थी। वंशागत के अनुसार केवल १८ वर्ष का बालक राजगद्दी पर बैठा दिया जाता था। अंग्रेजी राज्य में इन राजाओं की शिक्षा ऐसे वातावरण में होती थी कि वे संयमी तथा प्रजा के हितैषी बनने के स्थान पर लम्पट और विलासप्रिय हो जाते थे। राज्य को अपनी बपौती समझ बैठते थे और यह समझते थे कि वे अपने राज्य में जो चाहे कर सकते हैं। सारांश यह है कि वंशागत पद्धति में अनेक दोष हैं। इन दोषों के होते हुए भी अनेक गुण भी हैं। श्रेष्ठ राजाओं के श्रेष्ठ पुत्र भी होते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि पिता ने बहुत अच्छा शासन किया और उसके पुत्र ने उसी का अनुकरण किया। इन सब बातों पर विचार करते हुए हम यही ठीक समझते हैं कि वंशागत प्रथा का त्याग देना ही प्रजा के हित के लिये कल्याणकारी है।

कुलीन तंत्र (Aristocracy) **के गुण**—जिस शासनप्रणाली में कुछ थोड़े से चतुर और बुद्धिमान लोगों के हाथ में सर्वोच्चसत्ता रहती है ऐसी शासन प्रणाली को कुलीन-तंत्र (Aristocracy) कहते हैं। इसे अल्पजन-सत्तात्मक राज्य भी कह सकते हैं। कुलीन तन्त्र भी कई प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें सर्वोच्चसत्ता उच्च वंश के कुछ लोगों के हाथ में हो, दूसरे वह जिसमें सर्वोच्चसत्ता पंडितों और विद्वानों के हाथ में हो, और तीसरे वह जिसमें सर्वोच्चसत्ता कुछ धनवान लोगों के हाथ में हो।

अरस्तू का विचार है कि 'ऐरिस्टोक्रेसी' केवल उसी राज्य को कहते हैं जिसमें सर्वोच्चसत्ता कुछ थोड़े से पंडितों और विद्वानों के हाथ में हो, और वे प्रजा के हित के लिये शासन करते हों, अपने स्वार्थों की पूर्ति में न लगे रहते हों। राजशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि यदि वे ही लोग इस शासन प्रणाली में शासन-कार्य का संचालन करें जो योग्यता और सद्गुणों से सर्वोत्तम श्रेणी के हों तो यह शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है। प्राचीन यूनानी लोगों की यही भावना थी कि राजसूत्र उन्हीं लोगों के हाथ में रहे जो नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से सर्वोच्च श्रेणी के हों। उन्होंने इस प्रकार के कुलीनतंत्र का नाम "सर्वोत्तम मनुष्यों का शासन" रखा है। पहले पहल इस शासन-प्रणाली का बड़ा आदर था। परन्तु पीछे जा कर इसका रूप विकृत होगया। सर्वोत्तम मनुष्यों का शासन "धनकुबेरों के शासन" (Oligarchy) में परिणत हो गया। धनवान अथवा राजवंश के लोग जन हित के कार्य न करके अपनी स्वार्थसिद्ध करने लगे। अतः इस शासन-प्रणाली का महत्व घट गया और इस प्रणाली को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। कुलीनतंत्र गुण को महत्व देता हैं, संख्या को नहीं। थोड़े गुणी मनुष्यों के शासन को यह जितना अभीष्ट समझता है उतना जनता के महाविशाल समूह के शासन को नहीं। कुलीनतंत्र के समर्थक भीड़-शासन (Mob-rule) को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुलीनतंत्र के समर्थकों का मत है कि कुछ मनुष्य अन्य मनुष्यों की अपेक्षा शासन करने में अधिक क्षमता रखते हैं। सब लोग अनुभवी तथा राजनीतिज्ञ नहीं हो सकते। यह प्रणाली प्राचीन है, इसे स्थिर रखना आवश्यक है क्योंकि यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। ये लोग वंशागत शासन प्रणाली का विरोध करते हैं किन्तु पुराने रीति-रिवाजों में परिवर्तन करना अनुचित समझते हैं। जो संस्थायें दीर्घकाल से चली आ रही हैं उनका ये लोग आदर करते हैं और एकाएक उनका नाश करना नहीं चाहते। कुलीनतंत्र, राजतंत्र (Monarchy) और प्रजातंत्र (Democracy) के बीच की प्रणाली है जो दोनों को सीमोल्लंघन करने से रोकता है। यह दोनों को उचित संयम में रखता है। मांटेस्क्यू (Montesquieu) के कथनानुसार यह शासन प्रणाली एक नर्म राज्य-पद्धति है जो सद्गुण पर निर्भर रहती है। कुलीनतंत्र अपने अधिकार और शक्ति का बेसमझी से उपयोग नहीं करता। यदि इसमें प्रतिभाशाली और योग्य मनुष्यों का निर्वाचन होता रहे तो इसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि लोक समूह की दृष्टि से विचार न करके

केवल शासन की उत्तमता की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि अशिक्षित और अज्ञानी लोक-समूह के शासन की अपेक्षा इसमें शक्ति और योग्यता के अधिक तत्व हैं। जान स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill) का भी कथन है कि जो शासन प्रणालियां अपनी संतुलित बुद्धिबल और दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध हुई हैं उनमें अधिकतर कुलीनतंत्र की शासन प्रणाली ही है। यह आवश्यक है कि इस प्रणाली में वे ही लोग होने चाहिये जिन्होंने सार्वजनिक कार्य और सार्वजनिक जीवन ही को अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा हो।

कुलीनतंत्र के दोष—इसमें सन्देह नहीं है कि देखने में यह शासन-प्रणाली बड़ी भली प्रतीत होती है, परन्तु इसमें कुछ व्यावहारिक अड़चनें ऐसी हैं जिनका हल होना बड़ा कठिन है। पहली अंड़चन तो है ऐसी निर्वाचन पद्धति बनाने की जिसमें राजनैतिक दृष्टि से सर्वोत्तम मनुष्यों को ही चुना जाय। दूसरी बात यह है कि यह उत्तरदायित्व कौन ले कि ये लोग शासन में अपने अधिकारों का प्रयोग अपने लाभ और स्वार्थ की पूर्ति के लिये न करेंगे। यह बात तो सर्वसम्मत है किसी विशेष कुटुम्ब पर राजनैतिक योग्यता की मुहर लगा देने से कार्य नहीं चलता। क्योंकि जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है बुद्धिमान पिता का पुत्र मूर्ख हो सकता है। और अयोग्य पिता का पुत्र योग्य हो सकता है। इस प्रकार के अकारण भेद (spontaneous variation) बहुत होते हैं। अतएव किसी राजशास्त्रवेत्ता पिता अथवा कुटुम्ब की भावी संतानें भी उसी योग्यता की होंगी, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, इतना होने पर भी कुछ प्रसिद्ध लेखकों ने वंशागत तत्व के आधार पर कुलीनतंत्र को समर्थन करने का प्रयत्न किया है। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) का कथन है कि "वंशागत राज्य कार्य करने वाले लोगों में राज्य कार्य के योग्य उतने ही मनुष्य संभवतः मिल सकते हैं, जितने सर्वसाधारण के चुनाव (popular election) से मिल सकते हैं। प्रोफेसर सीली (Seeley) का कथन है कि "वह मनुष्य जो राजनीतिज्ञ का पुत्र है, कुछ न कुछ राज्य सम्बन्धी विषयों से परिचय रखता ही है, क्योंकि वह दिन रात राजनैतिक वातावरण में रहता है। इंगलैंड के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता लेकी ने बेन्जमिन फ्रेंकलिन के इस कथन का खंडन किया है कि न्यायज्ञों के न्यायज्ञ अथवा शासकों के शासक ही पुत्र होते हैं। यह बात उतनी ही भद्दी है जितनी यह कि महान गणितज्ञ का पुत्र भी महानगणितज्ञ होता है।" यह बात निर्मूल है कि प्रतिभाशाली

पिता की प्रतिभा सर्वदा और सर्वत्र पुत्र में उतनी ही होती है। लेकी का कथन है कि यदि हम पाँच सौ ऐसे कुटुम्बों को लें जिनका वंशागत धन्धा राज्य कार्य है, और जिनकी स्वाभाविक रुझान भी राजनैतिक हैं, तो क्या हमें इन कुटुम्बों में अधिक राजनीतिज्ञ और शासन में प्रवीण पुरुष नहीं मिलेंगे ? इसी संख्या के अन्य कुटुम्बों की अपेक्षा उपरोक्त में अधिक राजनीतिज्ञ मिलेंगे। सफल राजनैतिक जीवन के लिये तत्वज्ञान और कविता की भांति असाधारण बुद्धि और प्रतिभा की उतनी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये केवल निर्णय शक्ति, उद्योग, चतुराई और मानव स्वभाव के ज्ञान की आवश्यकता है। ये गुण असाधारण बौद्धिक शक्ति के बिना भी पूर्णता पर पहुँच सकते हैं। यद्यपि लेकी के इस कथन में सत्य का अंश है पर साथ ही उनके इस कथन में अनेक त्रुटियां भी हैं। यह प्रश्न नहीं है कि कौन कौन से कुटुम्बों में शासन करने के योग्य अधिक मनुष्य मिल सकते हैं। संभव है कि जिन कुटुम्बों का परंपरा से ही धन्धा राज्यकार्य है उनमें अधिक राजकार्य में योग्य पुरुष निकल जायें। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा निश्चित नियम है कि राज्यकार्य में निपुण कुटुम्ब में राज्यकार्य में निपुण संतान ही उत्पन्न हो। क्या कोई ऐसे उदाहरण नहीं मिलत कि बड़े भारी राजनीतिज्ञों के ऐसे भी पुत्र हैं कि जिनमें राजकार्य संचालन करने की योग्यता साधारण पुरुष की योग्यता के बराबर भी नहीं है। इसी प्रकार धन, सम्पत्ति अथवा व्यक्तित्व भी राजनैतिक योग्यता के विशेष चिह्न नहीं हैं। जो लोग इन बातों से राजनैतिक योग्यता की परीक्षा करते हैं वे भारी भूल करते हैं। इन बातों का राजनैतिक योग्यता से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। जेफरसन (Jefferson) नामक प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि वह 'ऐरिस्टोक्रेसी' जिसका आधार धन और जन्म है, केवल दुष्कृति से भरी हुई ही नहीं है बल्कि साथ ही भयंकर भी है। वह उस कुलीन-तंत्र शासन प्रणाली को, जो सद्गुण और योग्यता पर निर्भर है, सर्व श्रेष्ठ समझता है। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो (Rousseau) के मतानुसार निर्वाचित 'ऐरिस्टोक्रेसी' सर्व-श्रेष्ठ शासन-प्रणाली है, जहां सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नहीं वरन् जनता के हित के लिये शासन करते हैं। इस प्रकार की शासन-प्रणाली को जिसमें जनता द्वारा चुने हुए सबसे अधिक बुद्धिमान और योग्य-मनुष्य शासन करते हैं कुछ आधुनिक राजशास्त्रवेत्ता एक उत्तम शासन-प्रणाली समझते हैं।

जनतन्त्र (Democracy)—अरस्तू के मतानुसार जनतंत्र राज्य

दो प्रकार का है, एक 'पालिटी' (Polity) अथवा 'माडरेट-डिमोक्रेसी' (Moderate Democracy) जिसका अर्थ है सुप्रजातन्त्र और दूसरा 'ऐक्सट्रीम डिमाक्रेसी' (Extreme Democracy) अर्थात् कुप्रजातन्त्र। अरस्तू ने सुप्रजातन्त्र की बड़ी प्रशंसा की है। उसके मतानुसार सुप्रजातन्त्र राज्य में राज्य कार्य का संचालन राज्य के सब नागरिक मिलकर करते हैं। प्राचीन काल में यूनान में छोटे छोटे नगर-राज्य थे जिनमें सब नागरिक मिलकर राज्य के शासकों का निर्वाचन करते थे। पुरशासकों (magistrates), न्यायाधीशों (Judges), सेनापतियों तथा विधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन सब नागरिक मिलकर वोट द्वारा करते थे। ये शासक एक निश्चित काल के लिये निर्वाचित किये जाते थे। जो अधिकारी अथवा शासक भ्रष्टाचार के दोषी होते थे उनके पदच्युत करने के लिये भी नागरिक एकत्रित होकर वोट द्वारा अपना मत प्रकट करते थे। जब जनतन्त्र राज्य दूषित हो जाता था और लोगों में भ्रष्टाचार फैल जाता था तब शासक जनता के हित पर ध्यान न देकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करते थे और प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे तो ऐसे जनतन्त्र को वे कुप्रजातन्त्र (Democracy) के नाम से संबोधित करते थे। कुप्रजातन्त्र में लोग अपने स्वार्थ का ही ध्यान रखते थे। धन उपार्जन करने के लिये भ्रष्टाचरण करते थे। आधुनिक काल में कुप्रजातन्त्र को भीड़ शासन (Mob rule) कहते हैं। सुप्रजातन्त्र को आधुनिक काल में केवल 'जनतन्त्र' अथवा 'लोकतन्त्र' (Democracy) के नाम से संबोधित करते हैं। आधुनिक काल में जनतन्त्र राज्य को ही सर्व श्रेष्ठ राज्य समझते हैं। अर्वाचीन जनतन्त्र का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

अर्वाचीन काल में राज्य के रूप—मान्टेस्क्यू (Montesquieu) अर्वाचीन राजनीति का जन्मदाता समझा जाता है। उसने सन् १७४८ में एकतन्त्र राज्य, स्वेच्छाचारी राज्य, तथा लोकतन्त्र राज्य नाम से राज्य के विभिन्न रूप बतलाये। उसके विचार से लोकतन्त्र राज्य वह राज्य था जिसमें जनता निर्वाचकों द्वारा प्रभुत्वशक्ति का प्रयोग करती है। इसी प्रकार स्वेच्छाचारी राज्य में बिना राज्यनियमों के सहारे और एकतन्त्र राज्य में एक ही व्यक्ति लोक-नियमों के सहारे शासन का कार्य करता है। रूसो को यह वर्गीकरण पसन्द न था। यही कारण है कि उसने एकतन्त्र राज्य, कुलीनतन्त्र राज्य तथा लोकतन्त्र राज्य में राज्य का वर्गीकरण किया। इसके सदृश ही उसने संमिश्रित राज्य की भी आवश्यकता प्रकट की। रूसो के पश्चात्

ब्लन्श्ली (Bluntchli) ने राजशास्त्र को बहुत उन्नत किया। उसने जो ईश्वरांश राज्य की कल्पना की उसको अर्वाचीन राजनीतिज्ञों ने नहीं माना। वान माहल (Von Mohal) का वर्गीकरण तो आरम्भ से ही सर्वप्रिय न हुआ। अर्वाचीन लेखकों का ध्यान राज्यों की वास्तविक दशा पर है। यही कारण है कि संगठन को आधार बनाकर ही वे राज्यों का वर्गीकरण करते हैं। इतिहास को देखने से पता चलता है विभिन्न राज्य समय समय पर भिन्न भिन्न राज्यपद्धति द्वारा शासित होते रहे हैं। उसका संक्षेप में परिगणन किया जाता है।

(१) शासन की स्थिरता तथा संगठन की पूर्णता को सामने रखते हुए संपूर्ण राज्य, स्वेच्छाचारी राज्य तथा लोकतन्त्र राज्य में विभक्त किये जा सकते हैं।

(क) स्वेच्छाचारी राज्य—वे राज्य जो कुछ स्वेच्छाचारी व्यक्तियों के हाथ में हैं, जहां राज्य-नियमों के बनाने में जनता का कुछ हाथ भी नहीं है और न वह अपनी इच्छा के अनुसार शासन चलवा सकती है। इस वर्ग में आते हैं प्रथम महायुद्ध से पहले के टर्की तथा रूस।

(ख) लोकतन्त्र राज्य वे राज्य हैं जहां राजकाज जनता के बहुमत के अनुसार होता है और निर्वाचन का अधिकार अधिक से अधिक जन-संख्या तक विस्तृत हो। अमेरिका, फ्रांस, स्विटजरलैंड और भारतवर्ष इसी ढंग के उदाहरण हैं।

(२) शासकों की नियुक्ति तथा निर्वाचन को सामने रखते हुए राज्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(क) **वंश-प्रधान राज्य**—विशेष वंश के व्यक्ति ही जब किसी राज्य का राज्यकार्य चलाते हैं तो उनका राज्य वंश-प्रधान-राज्य कहलाता है। वंश प्रधान राज्य के दो भेद हैं। एक में तो स्त्रियों को भी राज्य कार्य करने का अवसर मिलता है और दूसरे में नहीं। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न वंशप्रधान राज्यों में व्यक्तियों के शासक पद पर नियुक्त होने का भिन्न भिन्न क्रम है।

(i) पुरुष राज्य—ऐसे राज्यों में पुरुषों को ही राज्यपद मिलता है। मृत पुरुष के वंश में जो सबसे बड़ा हो और यदि वह अपुत्र हो तो जो सब से अधिक समीप का हो वही राजगद्दी पर बैठाया जाता है।

(ii) स्त्री राज्य—ऐसे राज्यों में पुरुषों के सदृश स्त्रियां भी

राजगद्दी पर बैठा दी जाती हैं। इंगलैण्ड में आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियों को भी राज-काज सौंप दिया जाता है।

(iii) नियुक्ति स्वातन्त्र्य—बहुत से राज्यों में शासकों का यह अधिकार है कि वे अपना उत्तराधिकारी राजवंश में से किसी एक व्यक्ति को चुनें।

(ख) निर्वाचित राज्य—निर्वाचित-राज्य वे हैं जिनमें शासकों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। निर्वाचन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रकार के होते हैं।

(i) प्रत्यक्ष निर्वाचन—प्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता स्वयं उपस्थित होकर प्रत्यक्ष रूप से शासकों का निर्वाचन करती है।

(ii) परोक्षनिर्वाचन—परोक्ष निर्वाचन में जनता प्रतिनिधियों के द्वारा ही शासकों का निर्वाचन करती है।

अर्वाचीन लोकतन्त्र राज्यों में निर्वाचन के दोनों प्रकार प्रचलित हैं। राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति में परीक्षा तथा चुनाव द्वारा प्रायः कार्य किया जाता है।

शक्ति विभाग के सिद्धान्त को सामने रखते हुए अर्वाचीन राष्ट्र निम्नलिखित दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

(१) एकात्मक तथा द्वित्वराज्य—इसमें राज्य के भिन्न भिन्न अंगों का पारस्परिक संबन्ध ही सामने रखा जाता है।

(२) सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्य—नियामक विभाग तथा शासक विभाग के संबन्ध पर ही इस विभाग का आधार है।

(१) एकात्मक तथा द्वित्वराज्य

(क) एकात्मक राज्यों में राज्य-शक्ति एक संस्था अथवा एक ही व्यक्ति के पास होती है। अन्य सब गौण राजकीय संस्थायें उसी से शक्ति प्राप्त करके कार्य करती हैं और यदि वे शक्ति न दें तो उनको कार्य छोड़ना पड़ता है। सुगमता के लिये राज्य, स्थानीय तथा मांडलिक शासन संस्थाओं को पृथक् पृथक् कनिष्ठ श्रेणी के प्रान्तिक वा स्थानीय शासन कार्य सौंप सकता है और उनको कुछ कुछ अधिकार भी दे सकता है। परन्तु यदि वह उनको अधिकार देना या उनका पृथक् अस्तित्व उचित न समझे तो वह उनको नष्ट भी कर सकता है। साधारणतया निम्नलिखित दशाओं में ही एकात्मक राज्य उत्तम विधि से कार्य करता है।

(१) यदि राज्य के सभी अंग भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से एक सूत्र में बंधे हों।

(२) यदि राज्य की जन-संख्या में भिन्न भिन्न परस्पर विरोधी मनुष्य हों और आपस में मिलकर कार्य करने के लिये उद्यत न हों।

(३) यदि राज्य की जनता राजनीति में भाग न लेती हो और स्थानीय स्वराज्य के योग्य न हो।

(ख) द्वित्वराज्य—द्वित्वराज्य उन्हीं राज्यों में होता है जहां राज्य के भिन्न भिन्न अंग शक्ति-सम्पन्न हों और उनमें चिरकाल से राजनैतिक जीवन विद्यमान हों। द्वित्वराज्य के दो भेद हैं:—

(i) अपूर्ण-संघ राज्य (Confederate)—इस ढङ्ग के राज्य में बहुत से भिन्न भिन्न राज्य आवश्यकतानुसार एक दूसरे राज्य से अपूर्ण-संघ राज्य के रूप में मिल जाते हैं।

(ii) संघ राज्य (Federal)—इस प्रकार के राज्य में राज्य तो एक ही होता है परन्तु वह राज्य के भिन्न भिन्न कार्यों तथा अधिकारों को सदस्य राज्य तथा संघ राज्य के रूप में विभक्त कर दिया जाता है। जैसे अमरिका का संयुक्त-राज्य और भारतवर्ष।

अपूर्ण संघ राज्य में सर्वोच्च सत्ता प्रत्येक राज्य की पृथक् पृथक् होती है। परन्तु संघ राज्य में यह बात नहीं है। उसकी सर्वोच्चसत्ता संघ राज्य के हाथ में होती है। उसके सदस्य राज्य उसी से शक्ति तथा अधिकार प्राप्त करके कार्य करते हैं। अपूर्ण संघ राज्य चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता। ऐसे राज्यों के ऐतिहासिक विकास का यह एक क्रम है कि या तो उसके राज्य पुनः एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं या फिर वे संघराज्य के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। आधुनिक काल में अपूर्ण संघ राज्य का एक भी अच्छा उदाहरण नहीं मिलता।

(२) सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्य

(क) सचिवतन्त्रराज्य—सचिवतन्त्रराज्य वे राज्य हैं जिनमें कार्यकारी सत्ता निर्बन्धकारी सत्ता के अधीन होती है। सचिव मण्डल के द्वारा ही ऐसे राज्यों का कार्य होता है। यही कारण है कि उनका नाम सचिवतन्त्रराज्य रखा गया है। ऐसे राज्यों में विधान-सभाओं की स्वीकृति तथा अनुमति के अनुसार ही सचिव मंडल कार्य करता है और उसी को उत्तरदायी रहता है। आजकल बहुधा राज्यों में दो सभाओं द्वारा कार्य होता है।

प्रायः राज्यशक्ति दो सभाओं में से द्वितीय सभा के पास रहती है। जनता के प्रतिनिधि भी इसी सभा में बैठते हैं। इंगलैंड सचिवतन्त्र राज्य है।

(ख) असचिवतन्त्र राज्य—असचिवतन्त्र राज्य को अध्यक्षात्मक राज्य के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। इसमें कार्यकारी सत्ता अर्थात् मुख्य शासक तथा शासक विभाग विधान सभा के अधीन नहीं होता। शासक विभाग की शक्ति इतनी अधिक होती है कि वह निर्बन्धकारी सत्ता की ज्यादतियों से अपनी रक्षा कर सकता है। निर्बन्धकारी सत्ता जो कुछ कर सकती है वह यही है कि दोषारोपण द्वारा वह शासक विभाग के किसी व्यक्ति को पद से हटा सकता है अध्यक्ष का अस्तित्व, स्थान और कार्यकाल विधानमण्डल की इच्छा पर अवलम्बित नहीं होता। अमेरिका इसी प्रकार का राज्य है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार यदि अर्वाचीन राज्यों का वर्गीकरण किया जाय तो राज्यों का पारस्परिक वैषम्य प्रत्यक्ष हो जाता है। पहला वर्गीकरण स्वेच्छाचारी शासकतन्त्र तथा लोकतन्त्र राज्य का था। यद्यपि अगस्त सन् १९४७ से पूर्व भारतवर्ष में इंगलैंड जैसे लोकतन्त्र राज्य का प्रभुत्व था तो भी भारतवासियों की दृष्टि में भारत के शासन का रूप स्वेच्छाचारी था। भारतीय अपनी इच्छा के अनुसार राज्य के चलाने के लिये, इंगलैंड को बाधित नहीं कर सकते थे। प्रथम महायुद्ध से पूर्व ऐसे ही शासन से शासित रहा था।

इंगलैंड, अमेरिका, भारतवर्ष आदि लोकतन्त्र राज्य हैं। एकात्मक तथा द्वित्वराज्य के वर्गीकरण को सामने रखते हुए अर्वाचीन राज्यों का विभाग इस प्रकार किया जा सकता है। इंलैंगड तथा फ्रांस एकात्मक राज्य हैं। अमेरिका, स्विटजरलैंड मैक्सिको, ब्राजील, अर्जन्टाइना, रिपब्लिक तथा वेनेजुइला में द्वित्वराज्य अथवा राष्ट्रात्मक राज्य का ही प्राधान्य है। संयुक्त राज्य अमेरिका असचिवतन्त्र राज्य है। संसार के भिन्न भिन्न राज्यों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि अमेरिका और फ्रांस में आधुनिक काल में निर्वाचन द्वारा ही मुख्य शासक का चुनाव होता है। परन्तु इंगलैंड में यह बात नहीं है। इंगलैंड में सम्राट् वंशागत है। इंगलैंड एकात्मक और फ्रांस तथा अमेरिका राष्ट्रात्मक अथवा द्वित्वराज्य हैं। इंगलैंड तथा फ्रांस का राज्य सचिवतन्त्र और अमरीका असचिवतन्त्र है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व जर्मनी में सम्राट् वस्तुतः शासक था। इंगलैंड में सम्राट् नाम-मात्र को है। अमरीका में निर्वाचन द्वारा चुना गया प्रधान महा शक्तिशाली और फ्रांस

में वह सर्वथा शक्तिहीन है। अर्वाचीन राज्यों में जनता तथा राज्य का सम्बन्ध तथा राज्य का कार्यक्रम बहुत अंशों में समान हैं। प्रत्येक राज्य में जनता की इच्छा के अनुसार ही कार्य होता है और व्यक्तियों को उचित सीमा तक स्वतन्त्रता प्राप्त है। राज्यों का विस्तार भिन्न भिन्न होते हुए भी व्यक्तियों से उनका सम्बन्ध तथा उनका कार्यक्रम बहुत अंशों तक एक दूसरे से मिलता है।

(३) **अर्वाचीन जनतन्त्र**—(Modern Democracy) जे० आर० लॉवेल (J. R. Lowell) का कथन है कि जनतन्त्र शासन कार्य में केवल एक प्रयोगमात्र "experiment" है। लिन्कन (Lincoln) ने जनतन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है "जनता के लिये, जनता द्वारा जनता का शासन"। सीली (Seeley) कहता है कि जनतन्त्र एक ऐसा "शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता है।" डाइसी (Dicey) का कथन है कि जनतंत्र वह शासन है जिसमें शासक सम्पूर्ण राष्ट्र की जनसंख्या का एक बड़ा भाग होते हैं। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "माडर्न डिमाक्रेसीज़" (Modern Democracies) में जनतन्त्र को "केवल एक शासन का स्वरूप" बतलाया है।

जनतंत्र, शासन का केवल एक रूप ही नहीं है बल्कि जहाँ जनतन्त्र शासन है वहाँ राज्य जनतन्त्र है। वास्तव में जनतन्त्र राज्य का अर्थ जनतन्त्र शासन नहीं हैं। जनतन्त्र राज्य में जनतन्त्र, स्वेच्छाचारी अथवा राजतन्त्रीय किसी भी प्रकार का शासन हो सकता है। अमेरिका जनतन्त्र राज्य है परन्तु राजनैतिक संकट-काल में वहाँ के प्रधान का अधिकार इतना बढ़ जाता है कि वास्तव में वह अमेरिका का सर्वेसर्वा (Dictator) बन जाता है। हर्नशा (Hearnshaw) का विचार है कि जनतन्त्र एक ऐसा राज्य है जिसमें उस देश के लोगों को शासकों को नियुक्त करने, उन पर नियंत्रण रखने तथा उन्हें पदच्युत करने का अधिकार है।" शासन के इन भिन्न भिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त जनतन्त्र समाज एक ऐसा समाज है जिसमें भ्रातृभाव और समानता के भाव विद्यमान हैं। मुसलमानों का धर्म उन्हें समानता तथा भ्रातृभाव की शिक्षा देता है। मुसलिम समाज का संगठन जनतन्त्र सिद्धान्त के आधार पर है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि राज्य अथवा शासन का ही रूप जनतन्त्रीय हो समाज का संगठन भी समान अधिकारों के आधार पर होना चाहिये। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि जनतन्त्र एक राज्य, शासन अथवा समाज का ऐसा रूप है जिसमें उद्योग, व्यवसाय, रहन-सहन

तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समानता और भ्रातृभाव विद्यमान हो। जनतन्त्रवाद और समाजवाद में कोई वास्तविक विभिन्नता नहीं प्रतीत होती है। पूर्णरूप से जनतन्त्र राज्य केवल समाजवाद के सिद्धान्तों पर ही स्थापित हो सकता है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जनतन्त्र—जनतन्त्र राज्य तथा शासन के विचारों का पता हमको भारतवर्ष के अति प्राचीन काल के ग्रंथों से चलता है। हमारे देश में जनतन्त्र गण तथा संघ राज्य थे। इस बात को हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। प्राचीनकाल में यूनान में भी जनतन्त्र राज्य थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यूनान में प्राचीनकाल में छोटे छोटे नगर राज्य थे। उन नगर राज्यों में सब लोगों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। केवल सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त तथा सैनिक लोगों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। नगर के व्यापारी, कृषक, उद्यमी तथा कलाकौशल के व्यवसाइयों और प्रदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनान में सब नागरिक एक स्थान पर एकत्रित होकर अपनी विधान सभा के सदस्यों, शासकों, सेनापतियों तथा न्यायाधीशों को चुनते थे। ये चुनाव बहुमत द्वारा होते थे। इस प्रकार सब नागरिकों का शासन-कार्य में भाग लेना यूनान के ऐथिन्स (Athens) और स्पार्टा (Sparta) से नगर राज्यों के लिये संभव था परन्तु आधुनिक काल के बड़े बड़े राज्यों के शासन-प्रबन्ध देश के सब नागरिकों का शासन प्रबन्ध में भाग लेना असम्भव है। जिस देश में राज्य के सब लोग शासन कार्य में भाग लेते हैं (जैसा यूनान के नगर राज्यों में होता था) इस प्रकार की शासन प्रणाली को प्रत्यक्ष जनतन्त्र (Direct Democracy) कहते हैं। इस प्रकार की जनतन्त्र-प्रणाली मध्यकाल में इटली में प्रचलित थी। स्विट्जरलैण्ड में भी यह प्रथा अभी तक किसी किसी प्रान्त में प्रचलित है। अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने इस प्रकार की शासन-प्रणाली का समर्थन किया था। रूसो ने इस प्रणाली को 'शुद्ध जनतन्त्र' के नाम से सम्बोधित किया है और उसने यह अनुभव किया कि आधुनिक काल में इस प्रणाली को कार्यरूप में परिणत करने में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य सामने आयेंगी। शुद्धजनतन्त्र के लिये निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(१) राज्य इतना छोटा हो कि मनुष्य बिना किसी कठिनाई के थोड़े से समय में एकत्रित हो सकें और उस राज्य के लगभग सब नागरिक एक दूसरे से परिचित हों।

(२) राज्य की जनता का जीवन आडम्बर रहित तथा अति साधारण हो ।

(३) उस राज्य में मनुष्यों के जीवन में समानता हो अर्थात् कोई अति धनी और कोई अति दरिद्री न हो ।

(४) उस राज्य के लोग संयम से रहते हों ।

आधुनिक काल में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मानव जीवन बड़ा जटिल हो गया है । नगरों की जन-संख्या भी प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, छोटे छोटे नगर बड़े बनते जा रहे हैं । ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जायगा त्यों त्यों ये नगर उत्तरोत्तर उन्नति करते जायेंगे । ऐसी दशा में प्रत्यक्ष-जनतन्त्र की स्थापना करना सर्वथा असम्भव है । अब तो केवल अप्रत्यक्ष जनतन्त्रीय शासन प्रणाली ही सफलतापूर्वक कार्य रूप में परिणत की जा सकती है । निर्वाचनक्षेत्र बनाकर प्रतिनिधियों को निर्वाचत करके जनता अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व द्वारा शासन का संचालन कर सकती है । ऐसी स्थिति में अप्रत्यक्ष शासन प्रणाली ही जनतन्त्र राज्यों में प्रचलित हो रही है और सफलतापूर्वक कार्य कर रही है । ब्राइस (Bryce) का कथन है कि वर्तमान काल में दो प्रकार की जनतन्त्र शासन-प्रणालियाँ दिखाई देती हैं, एक ऐसा जनतन्त्र जिसमें केवल नाममात्र को राजा होता है, शासन की बागडोर पूर्णतया प्रजा के हाथ में होती है । इस प्रकार का राज्य इंगलैंड का है । दूसरा दृढ़बद्ध (rigid) अथवा लचीले (flexible) संविधान द्वारा शासित जनतन्त्र । दृढ़बद्ध जनतन्त्र का उदाहरण संयुक्त राज्य (अमेरिका) और लचीले जनतन्त्र का फ्रांस है ।

साधारणतया जनतन्त्र "एक राजनैतिक परिस्थिति", "एक नैतिक कल्पना" अथवा "एक सामाजिक स्थिति" है । लिन्डसे (Lindsay) का कथन है कि जनतन्त्र का अर्थ है कि सब लोगों में योग्यता है और कोई भी व्यक्ति दूसरे के लिये केवल साधनमात्र ही नहीं है । कैन्ट (Kant) का कथन है कि जनतन्त्र का अभिप्राय यह है कि "मनुष्यमात्र के प्रति ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि जिससे सदैव मानवता को, अपने व्यक्ति में या दूसरे के केवल साधनमात्र न समझकर, साध्य समझा जाय" । एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक का कथन है कि "इंगलैण्ड के दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति का जीवन एक बड़े से बड़े धनी के जीवन के समान है ।" परन्तु कभी इस पर विश्वास नहीं करना चाहिये कि वास्तव में सब व्यक्ति बराबर और समान हैं । पर-

मात्मा ने इस संसार में सब मनुष्यों को समान उत्पन्न नहीं किया है। प्रकृति में ही असमानता है। प्राकृतिक असमानता के होते हुए भी मनुष्यमात्र को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त के अनुसार आत्म्वत् समझना ही वास्तविक जनतन्त्र भाव है। सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि "व्यावहारिक रूप से जनतन्त्र में श्रेष्ठ पुरुषों की खोज करने के लिये इस कल्पना का प्रयोग किया जाता है कि सब मनुष्य समान हैं।" प्रोफेसर स्मिथ (Prof. Smith) का विचार है कि जनतन्त्र एक धार्मिक सिद्धान्त है और जनतन्त्रीय जीवन व्यतीत करने का अभिप्राय है धार्मिक जीवन व्यतीत करना। इस विचार से कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट चरित्र प्राप्त कर सके 'जनतन्त्र', स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्तों की बाहर से दिखाई देने वाली पारस्परिक विपरीतता को मिटाने का एक संकलित प्रयत्न है। परन्तु सर फिट्जेजेम्स (Sir Fitzjames) का मत बिल्कुल विपरीत है। उसका कथन है कि स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव के विचारों की कल्पना केवल भ्रान्ति है। राजशास्त्रवेत्ताओं ने जनतन्त्र की पुष्टि निम्नलिखित युक्तियों द्वारा की है—

(१) **पूर्वावधारणात्मक युक्ति** (Precautionary Reason)-जनतन्त्र राष्ट्र को इस विषय की प्रत्याभूति (Guarantee) प्रदान करता है कि जनसमुदाय की इच्छानुसार कार्य किया जायगा और शासन कार्यों में किसी व्यक्ति की उपेक्षा न की जायगी। इसका यह प्रयोजन नहीं है कि प्रत्येक के इच्छानुसार कार्य किया जायगा। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति को भी अपने विचार प्रकट कर दूसरों को अपने अनुकूल बनाने का उतना ही अधिकार होगा जितना कि एक बड़े से बड़े धनी को है। एक जनतन्त्र शासन से यह अभिप्राय नहीं है कि उसमें सफलतापूर्वक राज-प्रबन्ध होता है। एक निरंकुश शासन अथवा नौकरशाही में भी अत्यन्त सफलतापूर्वक शासन कार्य हो सकता है। परन्तु ऐसे शासन में जनसाधारण के हितों पर ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसे शासन का ध्येय केवल राज्य अथवा शासकों के हितों की रक्षा करना होता है। जनतंत्र शासन का उद्देश्य जन-साधारण के हितों की रक्षा करना तथा प्रजा की व्यक्तिगत उन्नति की ओर ध्यान देना है। जनतन्त्र शासन द्वारा ही वास्तव में मनुष्यों की शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति पूर्णरूप से हो सकती है। प्रोफेसर हाकिंग (Prof. Hocking) का कथन है कि जनतन्त्र, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति में तन्तुबन्धन के समान पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। ए० ऐल० लावेल

(A. L. Lowell) का मत है कि एक पूर्ण जनतन्त्र में कोई यह अनुयोग (शिकायत) नहीं कर सकता कि "मेरी नहीं सुनी गई" ।

(२) **मनोवैज्ञानिक युक्ति** (Psychological Reason)-शासन-प्रबन्ध में केवल कर्म कौशल ही पर्याप्त नहीं है । शासन-प्रबन्ध में विशेष योग्यता प्राप्त पुरुष कुशलतापूर्वक शासन चला सकते हैं परन्तु शासन की कुशलता ही ध्येय नहीं होता । शासन में प्रवीण पुरुष अपने विचारों के अनुसार बहुत अच्छा कार्य करते हैं, वे केवल शासन की उत्तमता को अपना ध्येय समझते हैं । शासितों की चित्तवृत्ति को वे नहीं समझते न वे उसे समझने का प्रयत्न ही करते हैं । वे यह नहीं सोचते कि उनके कार्यों का प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ेगा । उनको हानि होगी अथवा लाभ । अच्छे शासन में शासक का उद्देश्य शासितों के हितों की रक्षा करना होता है अतः अत्यन्त शिक्षित शासक भी प्रजा के हितों के विचार से सम्भवतः प्रजा के लिए उपयोगी सिद्ध न हों । शासक ऐसे होने चाहिये जो प्रजा की चित्तवृत्ति को समझें, प्रजा के बहुमत के भावों तथा उनकी इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए शासन कार्य करें जिससे शासन लोकप्रिय तथा सर्व हितकारी समझा जाय । जनतन्त्र में जनसाधारण को अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अवसर दिया जाता है, शासन कार्यों में जन साधारण की सम्मति ली जाती है और शासन कार्य का संचालन जनता के प्रतिनिधि ही करते हैं । जनतन्त्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने को शासक समुदाय का एक अंश समझता है ।

(३) **शिक्षा संबंधी युक्ति** (Educational Reason)-जनतन्त्र एक सार्वजनिक शिक्षा संस्था है । जनतन्त्र में नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा मिलती है । जनता में राजनैतिक विषयों को समझने तथा उन पर अपने विचार प्रकट करने की रुचि उत्पन्न होती है । वे लोग राजनैतिक प्रश्नों पर वाद विवाद करते हैं, भाषण तथा लेखों द्वारा अपने विचार प्रकट करते हैं । शासन के गुणदोषों की परीक्षा करते हैं । प्रत्येक जनतन्त्र राज्य में जनसाधारण की राजनैतिक चेतना अन्य प्रकार के राज्यों से अधिक होती है । जनता की मानसिक शक्तियों का विकास होता है । सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि "सम्पूर्ण शासन एक शिक्षा पद्धति है, परन्तु स्वार्जित शिक्षा (self education) सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है, अतः सर्वश्रेष्ठ शासन स्वशासन है और स्वशासन का नाम ही जनतन्त्र है ।"

(४) **नैतिक युक्ति** (Moral Reason)—जे० ऐस० मिल (J. S. Mill) का कथन है कि जनतन्त्र में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है वह

अन्य तन्त्रों की अपेक्षा "उत्तम तथा उच्चतम राष्ट्रीय चरित्र का अभिवर्धन करता है।" वास्तव में जनतन्त्र मनुष्यों को श्रेष्ठ बनाता है। जनतन्त्र का आधार है मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति। जनतन्त्र में ही मनुष्य आत्मपरायणता और आत्मनिर्भरता का पाठ सीखता है। जनतन्त्र में ही मनुष्य की प्रेरणाशक्ति की उन्नति होती है और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के भाव उत्पन्न होते हैं। इसी से मनुष्यों में मानवी सहानुभूति की वृद्धि होती है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में जनतन्त्र के विकास के कारण ही वहाँ की जनता में परोपकारणीय भावों की वृद्धि हो रही है। प्रेजीडेंट लावेल (President-Lowell) का कथन है कि शासन की श्रेष्ठता की कसौटी शासन में व्यवस्था, मितव्यय, समृद्धि तथा न्याय ही नहीं बल्कि शासनपद्धति नागरिकों का चरित्र ऐसा बनाती है कि जिससे शासन दृढ़ बने। सर्वश्रेष्ठ शासन का ध्येय मनुष्यों को सच्चरित्र, न्यायनिष्ठ, श्रमी, आत्मपरायण तथा वीर बनाना है। ब्राइस (Bryce) का कथन है कि राजनैतिक मताधिकार प्राप्त होने से वयस्क व्यक्तियों को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। जनतन्त्र में मनुष्य की सर्व प्रकार की उन्नति होती है। आत्मोन्नति केवल जनतन्त्र में ही सम्भव है।

(२) **व्यावहारिक युक्ति** (Practical Reason)—एक जनतन्त्र में मनुष्यों में देशभक्ति की भावना रहती है। वे शासन सम्बन्धी विषयों में ध्यान देते हैं। फ्रेंच राजशास्त्रवेत्ता लेवले (Laveleye) का कथन है कि फ्रेंच लोगों को फ्रांस से प्रेम तभी हुआ जब क्रांति के पश्चात् लोगों ने शासन में भाग लिया। एक जनतन्त्र राज्य में विद्रोह अथवा क्रान्ति की बहुत कम सम्भावना होती है। जनतन्त्र में ही मनुष्यों को भाषण देने, सभा करने तथा सामूहिक कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जे० डब्ल्यू० गार्नर (J. W. Garner) का कथन है कि जनतंत्र में अन्य "शासनों की अपेक्षा लोक-निर्वाचन, लोक-नियंत्रण तथा सार्वजनिक-उत्तरदायित्व द्वारा अधिकतम कर्मकौशल की प्राप्ति हो सकती है। यदि जनमत (General Will) वास्तव में कोई वस्तु है तो उसकी अभिव्यक्ति केवल जनतन्त्र संस्था द्वारा ही हो सकती है। वास्तव में जनतन्त्र राज्य ही एक ऐसा राज्य है जिसमें जनता की सब प्रकार की व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति हो सकती है।

जनतन्त्र शासन के दोष—जनतन्त्र-शासन के विरोधियों का कथन है कि जनतन्त्र का आधार गुण नहीं है, उसका आधार तो संख्या है अर्थात् यह गुणवान् मनुष्यों का शासन नहीं बल्कि जनसमुदाय का शासन है। यह

इस बात की उपेक्षा करता है कि जिस प्रकार अन्य कार्यक्षेत्रों में विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है वैसी ही राज्य कार्य में भी होती है। जनतन्त्र इस दूषित सिद्धान्त पर कार्य करता है कि सब मनुष्यों में शासन करने की क्षमता बराबर है अर्थात् जितनी शासन करने की योग्यता एक मनुष्य में है उतनी ही दूसरे में है। जेम्स (James) का कथन है कि "सुशासन के लिए विशेष ज्ञान की, विविध प्रकार की मानसिक शक्ति के विकास की और शान्ति तथा संयमयुक्त निर्णय-शक्ति की आवश्यकता है।" अज्ञानता और अयोग्यता को जितनी घरेलू कार्यों में टालने की आवश्यकता है उतनी ही राज्य-शासन में भी टालने की आवश्यकता है। अज्ञानता, अयोग्यता तथा संयमहीनता का जैसा कलुषित परिणाम घरेलू कार्यों में होता है, उससे कई गुना अधिक भयंकर परिणाम राज्यकार्यों में होता है। मिल और मांटेस्क्यू ने भी जनतन्त्र की प्रशंसा करते हुए इतना संकेत तो अवश्य किया है कि जनतन्त्र वहीं व्यावहारिक रूप से सफल हो सकता है जहाँ की सर्वसाधारण जनता बुद्धि, योग्यता और चरित्र में उच्च श्रेणी की हो। बर्क (Burke) ने प्रजातन्त्र की कड़ी समालोचना करते हुए लिखा है कि इस शासनप्रणाली में उत्तरदायित्वहीन लोगों के हाथ में सत्ता चली जाती है। इससे बड़ी हानि होती है। कुछ लेखकों ने इस शासन-प्रणाली के दोष दिखलाते हुए लिखा है कि "जनतन्त्र कला-कौशल, विज्ञान और संस्कृति के लिये अनुकूल नहीं है।" जनतन्त्र शासन न तो प्रत्यक्ष रूप से इन्हें प्रोत्साहन देता है और न ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिससे अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें प्रोत्साहन मिले।

प्रसिद्ध अंग्रेज राजशास्त्रवेत्ता सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) और प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० एच० लेकी (W. E. H. Lecky) ने जनतन्त्र की कड़ी आलोचना की है। इन आलोचकों ने प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के विचारों के आधार पर अपने विचार प्रकट किये हैं। अरस्तू ने जनतन्त्र को वैधानिक शासन का पतित तथा विकृत रूप बतलाया है। लेकी (Lecky) का विश्वास था कि जनतन्त्र स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। टैलीरैन्ड (Talleyrand) के विचार से जनतन्त्र "आवारा अथवा नंगों का कुलीनतन्त्र (an aristocracy of blackguards) है। जनतन्त्र के विरोधी कहते हैं कि जनतन्त्र में लोग एक दूसरे से द्वेष मानते हैं और योग्य तथा विद्वान् व्यक्तियों को निर्वाचित करते हैं। जो लोग भाषण देने और जनता पर प्रभाव डालने में निपुण होते हैं उन्हीं को जनता चुनती है

और अपना नेता मान लेती है। साधारणतया जनता पर एक साधारण पुरुष अपनी वाक्पटुता तथा चतुराई से प्रभाव डाल सकता है। योग्य से योग्य पुरुष में यदि यह गुण न हों तो वह कदाचित् ही सफल होगा। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं। वुडरो विलसन् और वेनेजलोस (Woodrow-Wilson and Venezelos) जैसे अति श्रेष्ठ व्यक्तियों को न चुनकर लोग इनसे न्यून योग्यता के व्यक्तियों को चुनने में संतुष्ट रहे। इसका कारण यह था कि चुने हुए व्यक्तियों में लोगों पर प्रभाव डालने की योग्यता थी, शासन कार्य की इतनी योग्यता न थी। जनतन्त्र राज्य में नेता बनने के लिये मनुष्य को थोड़ा मनोविज्ञान जानने की आवश्यकता है। जो मनुष्य जनसाधारण के मनोविज्ञान से जानकारी रखता है और उनकी रुचि को समझता है वही उनका नेता बन सकता है। एक अत्यन्त योग्य राजनीतिज्ञ को छोड़कर लोग ऊपर लिखी योग्यता वाले को चुनना अधिक उचित समझेंगे।

साधारण निर्वाचक शासन कार्यों में अधिक रुचि नहीं रखता है। अमेरिका के संयुक्तराज्य में आधे से कम नागरिक निर्वाचन में भाग लेते हैं। कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र में दलबन्दी का दोष है। जनतन्त्र राज्य में दलबन्दी की बड़ी आवश्यकता है, परन्तु दलबन्दी—

(१) बनावट तथा मक्कारी को प्रोत्साहित करती है।

(२) राष्ट्रीय विभाजन तथा भेद-भाव से स्थानीय निर्वाचकों को प्रभावित करती है,

(३) लूट-खसोट-प्रथा का प्रचार करती है।

(४) लोगों का आचरण भ्रष्ट करती है।

दलबन्दी द्वारा लोग अनुचित लाभ उठाते हैं और लोगों को किसी विषय पर व्यक्तिगत निर्णय देने का अवसर प्राप्त नहीं होता। एक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक फ़ैगट (Faguet) ने जनतन्त्र को "अयोग्यता (अक्षमता) का सिद्धान्त" (Cult of incompetence) बतलाया है। कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र "जनता द्वारा शासन" का नाम है। परन्तु जनता द्वारा शासन का अभिप्राय है जनता के बहुमत द्वारा निर्वाचित शासक। ऐसी दशा में यदि किसी देश में तीन दल हों (जैसे इंगलैंड में) और एक दल के बहुमत द्वारा निर्वाचित सदस्य शासन की बागडोर ग्रहण करें तो क्या वास्तव में वे शासक सब जनता के बहुमत द्वारा निर्वाचित हैं? वे तो केवल एक तिहाई जनता के बहुमत द्वारा ही निर्वाचित हैं। अतः इस प्रकार के शासन को जनतन्त्र शासन कहना भ्रमपूर्ण तथा व्यर्थ है।

फैगट ने जनतन्त्र का बड़ा विरोध किया है। उसके मतानुसार जनतन्त्र प्राणिशास्त्र सिद्धान्त के विरुद्ध है। ज्यों ज्यों प्राणी का विकास होता है त्यों त्यों केन्द्रीकरण होता जाता है परन्तु जनतन्त्र में इसके विपरीत होता है। शक्तियाँ विभाजित होती चली जाती हैं। जीव का विकास बतलाता है कि ज्यों ज्यों प्राणिमात्र के जीवन में उन्नति हुई त्यों त्यों अवयवों की शक्तियों के संचालन का केन्द्र मस्तिष्क में होता गया। मस्तिष्क ही सम्पूर्ण शरीर की शक्तियों का संचालन करता है। इसी प्रकार राज्य शासन प्रणाली की उन्नत अवस्था में केन्द्रीकरण हो जाना चाहिये। सम्पूर्ण राज्य-कार्य का संचालन केन्द्र से होना चाहिये अर्थात् शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होनी चाहिये। इसीलिये फैगट (Faguet) का कथन है कि जनतन्त्र रूपी शरीर के प्रत्येक अवयव में मस्तिष्क (brain) स्थित है। कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र शासन में व्यय बहुत होता है। जनतन्त्र का आधार है जनमत को संगठित करना और उसके लिये प्रचार तथा निर्वाचनों की अधिकता आवश्यक है। इन सब बातों में धन अधिक व्यय होता है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में प्रधान के निर्वाचन में लाखों डालर व्यय हो जाते हैं। निर्वाचन क्षेत्रों में प्रचारार्थ बहुत धन का अपव्यय होता है। इस प्रकार जनतन्त्र शासन प्रणाली में धन तथा समय का नाश होता है। पार्लियामेन्ट के शासन कार्य में शिथिलता आ जाती है। नैतिक अथवा आचारिक दृष्टि से भी कुछ लोगों ने जनतन्त्र-शासन प्रणाली को दोष पूर्ण बतलाया है। इन लोगों का मत है कि जनतन्त्र में छद्म तथा मिथ्या व्यवहार होता है। लोग छल कपट और मिथ्या भाषण करते हैं। जनता पर अपने दल का प्रभाव डालने के लिये झूठी बातें बनाई जाती हैं और 'येनकेन प्रकारेण' निर्वाचन में अपने दल के सदस्यों की सफलता के लिये प्रयत्न किये जाते हैं। कहीं कहीं तो युद्ध होने लगता है और हत्या तक हो जाती है। केवल यही नहीं जनतन्त्र शासन के विरोधियों ने तो कोई भी दोष नहीं छोड़ा है जो इस प्रणाली को न लगाया गया हो। घूंस तथा भ्रष्टाचार तो जनतन्त्र में केवल साधारण दोष ही बतलाये गये हैं। ब्राइस (Bryce) ने अपनी पुस्तक "माडर्न डीमाक्रेसीज़ (Modern Democracies) के ६९ वें अध्याय में राजनीति में "मुद्रा शक्ति" का वर्णन करते हुए बतलाया है कि 'ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि निर्वाचकों, विधान सभा के सदस्यों, प्रबन्धक पदाधिकारियों तथा न्यायाधिकारियों ने लालच का शिकार बनकर अननुमत लाभ (Illicit gain) उठाये हैं।

कुछ जनतन्त्र के विरोधियों का यह मत है कि जनतन्त्र में शिक्षा का

प्रसार नहीं होता अपितु उसका ह्रास होता है। लोगों को चापलूसी की शिक्षा मिलती है। लोग बहानेबाज़ बनते हैं, समानता के मिथ्याभाव उत्पन्न होते हैं, और प्रत्येक मनुष्य अपने को योग्य समझता है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि "मैं सब विद्याओं का ज्ञाता हूँ।" प्रयोजन यह है कि जनतन्त्र में लोगों में मिथ्या विचारों का विकास होता है। बर्न्स (Burns) का कथन है कि जनतन्त्र में दूषित, भ्रष्ट तथा निर्जीव सभ्यता की उत्पत्ति होती है। यह बात सत्य है कि जनतन्त्र राज्य में साक्षरता फैलती है। परन्तु यह साक्षरता बिल्कुल व्यर्थ है। इस साक्षरता से व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता। वास्तविक शिक्षा प्रचार एक बात है और साक्षरता का प्रचार बिलकुल दूसरी बात। साक्षरता का अभिप्राय तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य को लिखना पढ़ना आ जाय। लिखना पढ़ना आजाने से प्रत्येक मनुष्य अखबार पढ़ने योग्य हो जाता है और दलबन्दी द्वारा किये गये निर्वाचन आदि का प्रचार करने के लिये यह साक्षरता बड़ी लाभदायक है। जनतन्त्र में ऐसी ही शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता है, वास्तविक शिक्षा की ओर नहीं जिससे मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो। ब्राइस ने ठीक कहा है जनतन्त्र केवल पढ़ना सिखाता है निर्णय करना तथा विचार-शीलता नहीं। सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि शिक्षा का प्रयोग इस लिये किया जाता है कि लोग द्यूत-सम्बन्धी समाचार पढ़ें अथवा स्वास्थ्य सम्बन्धी समाचार पढ़ें जिससे अधिकाधिक मदिरा पीने और उसे सहन करने की शक्ति आ जाय राजतन्त्र के अनेकों विरोधियों का कथन हैं कि जनतन्त्र में बिना विचारे बहुत से व्यर्थ विधान बना दिये जाते हैं। "जनतन्त्र केवल बिना विचारे बनाये हुए विधानों का ढेर है।* बहुत से विधान बना कर जनता के नेता जन्तन्त्र में अपनी सफलता तथा योग्यता का प्रमाण देते हैं और जनता को संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार जनतन्त्र के संचालक जनता से छल करते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र में संकीर्णता आती है। लोग स्थानीय अथवा थोड़े से व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के हेतु बहुतों के अथवा जनसाधारण के हितों पर कुठाराघात करते हैं और राज्य का अहित करते हैं। † जनतन्त्र में लोग अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिये राज्य के

---

* ए० आर० लार्ड—"प्रिंस्पिल्स आफ़ पौलिटिक्स" पृष्ठ ६१३।

† तदेव पृष्ठ १६४।

हितों को ठुकराते हैं। पद प्राप्त करने तथा आश्रयदाता बनने की कुचेष्टा में ऐसे अंधे हो जाते हैं कि वे केवल अपने ही दल के थोड़े से लोगों को लाभ पहुँचाने के लिये बहुतों का अहित करते हैं। परिणाम यह होता है कि देश का अहित होता है। देश की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है। राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास होने लगता है। प्रेजिडेन्ट लावेल (President Lowell) का कथन है कि "अमेरिका में जनतन्त्र की शोकपूर्ण असफलता का कारण बड़े नगरों का कुशासन है।" लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने आधुनिक जनतन्त्र राज्यों में निम्नलिखित दोष बतलाये हैं—*

(१) विधान निर्माताओं अथवा शासकों को मुद्रा शक्ति भ्रष्ट करती है।
(२) राजनीति को व्यक्तिगत लाभ के लिये व्यवसाय बनाने की चेष्टा की जाती है।
(३) शासन कार्य में धन का अपव्यय होता है।
(४) समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जाता है तथा शासन-कौशल्य की प्रशंसा नहीं की जाती, न उसका कुछ मूल्य ही समझा जाता है।
(५) दलबन्दी संगठनों की शक्तियों का अनुचित प्रयोग किया जाता है।
(६) विधान निर्माता तथा राजनैतिक पदधारी निर्वाचकों के हाथ की कठपुतली बने रहते हैं। विधान-निर्माण कार्य में भी वे 'वोटों' का ध्यान रखते हैं और यदि कहीं शान्ति-भंग होती है तो उसे भी सहन करते हैं।

जनतन्त्र की इन सब अनुकूल तथा प्रतिकूल आलोचनाओं के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली सब शासन प्रणालियों से श्रेष्ठ है, क्यों कि ऊपर वर्णन की गई बहुत सी अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियां एक दूसरी को काटती हैं। यदि यही मान लिया जाय कि जनतन्त्र उत्तम शासन प्रणाली नहीं है तो फिर कौन सी शासन प्रणाली उत्तम हो सकती है? हमारे विचार से कोई भी शासन प्रणाली इससे उत्तम नहीं है। यही शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम है। संसार में सब प्रकार की शासन प्रणालियों का प्रयोग कर लिया गया है और इस शासन प्रणाली के अतिरिक्त अन्य सब प्रणालियां असफल रही हैं। सी० डी० बर्न्स ने ठीक कहा है कि "इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करता कि विद्यमान प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका सभायें त्रुटिपूर्ण हैं, परन्तु यदि स्वयं

* माडर्न डीमौक्रेसीज़, भाग २ पृष्ठ ५०४।

चलने वाला यान भली प्रकार कार्य नहीं करता है तो भी बैलगाड़ी का प्रयोग करने लगना मूर्खता है चाहे यह कितना ही रोमांचकारी क्यों न हो।"* ए० ऐल० लॉवेल (A. L. Lowell) का कथन है, कि मानव समाज के दोषों की औषधि किसी प्रकार की शासन प्रणाली नहीं हो सकती। विद्यमान शासन प्रणाली में सुधार करने के स्थान पर नवीन की खोज करना दुष्टता है। वर्तमान जनतन्त्र का विकल्प (alternative) निर्वाचित अथवा स्वयं नियुक्त शासक द्वारा संचालित कुलीन-तन्त्र है। ऐसा कुलीनतन्त्र-शासन केवल उद्योग-धन्धों की स्वतन्त्रता का ही निग्रह नहीं करेगा बल्कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक विचार प्रकट करने तथा मनुष्यों के सम्मिलन के अधिकार में भी बाधक होगा। यह स्वाभाविक है क्योंकि संगठित विरोधी दल की उपस्थिति में कुलीनतंत्र की दाल नहीं गल सकती।

जनतंत्र पर यह दोषारोपण भी किया जाता है कि महायुद्ध के परिणाम स्वरूप जितने दोष फैले हुए हैं वे सब जनतंत्र के कारण ही हैं। संसार में इतनी मंहगाई दरिद्रता तथा परस्पर राष्ट्रों में अविश्वास जनतंत्र के ही कारण है। यह बात अनुचित है क्योंकि किसी भी शासन प्रणाली में ऐसा होना अनिवार्य था। असाधारण परिस्थिति में किसी प्रकार की शासन-प्रणाली पर अपनी सम्मति प्रकट करना तथा निर्णय देना भूल है। ए० एल० लॉवेल का कथन है कि एक लड़ते झगड़ते हुए, मदिरा पिये हुए अथवा भयभीत मनुष्य के निर्णय पर विश्वास करना अनुचित है। इसी प्रकार अत्यन्त भयंकर परिस्थितियों में उत्पन्न हुई दशाओं को देखकर हम जनतन्त्र शासन-प्रणाली के विषय में ठीक ठीक निर्णय नहीं दे सकते। फैगट (Faguet) ने जनतंत्र को जीव-विज्ञान की व्यवस्था के विरुद्ध बतलाया है। जनतंत्र इस बात का समर्थन करता है कि शासन का विकेन्द्रीकरण हो अर्थात् मानव समाज रूपी शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में मस्तिष्क की स्थापना हो। फैगट की यह आलोचना न्यायपूर्ण तथा युक्ति-संगत नहीं है। एक अच्छे जनतंत्र राज्य में राज्य की सर्वोच्चसत्ता राज्य के सर्व श्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ में होती है। मैजिनी (Mazzini) ने ठीक कहा है कि "जनतन्त्र में सर्वोत्तम तथा सबसे बुद्धिमान पुरुषों के नेतृत्व में सबके द्वारा सब की प्रगति होती है।" इन सब बातों पर विचार करते हुए हम यह

* सी० डी० बर्न्स डीमोक्रेसी पृष्ठ ८०।

कह सकते हैं कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली वास्तव में एक उत्तम शासन प्रणाली है। जनतन्त्र का अनुभव हमें यह शिक्षा देता है कि :—

(१) जनता शासन योजनाओं व कार्यों की अपेक्षा व्यक्ति के गुण-दोष पहिचानने की अधिक क्षमता रखती है।

(२) जनता इस बात को अधिक ठीक तरह से बतला सकती है कि शासन जनता के किन कार्यों को रोके। वह इस बात को ठीक तरह से बतलाने में असमर्थ होती है कि शासन जनता से कौन से कार्य करावे।

(३) जनता को यह बतलाने में सुगमता रहती है कि सामन्य शासन नीति का रूप क्या हो। उस नीति को कार्यान्वित करने में जो छोटे छोटे प्रश्न उठ खड़े हों उन्हें सुलझाने के सुझाव देना उसके लिये कठिन होता है।

(४) उनकी निजी भावनाओं को जगाकर उन्हें उत्तेजना दिलाने वाले विषयों की अपेक्षा जनता नैतिक विषयों पर (जैसे विदेशीय नीति संबंधी प्रश्न) अधिक अच्छा निर्णय दे सकती है।

ऊपर जनतंत्र में यह दोष बतलाया गया था कि जनतंत्र में शासक दल की त्रुटियों को जनता पर प्रकट करने के लिये दलबन्दी आवश्यक है तथा दलबन्दी से जनता की सम्मति विभाजित हो जाती है। यह दोषारोपण उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि बिना दलों के शासन कार्य सफलता पूर्वक नहीं हो सकता शासन में विरोधी दल होने से शासक दूषित कार्य करने से भय खाते हैं। वे भ्रष्टाचार नहीं कर सकते क्योंकि विरोधी दल सदैव इस खोज में रहता है कि शासकों के कुछ दोष उन्हें मिल जायें। अतः दलबन्दी राजतंत्र में अत्यन्त आवश्यक है। दलबन्दी से जनता को शासन की छोटी छोटी त्रुटियों का पता चलता रहता है। ब्राइस का कथन है कि दलबन्दी से राष्ट्र का मस्तिष्क जीवित रहता है तथा धारा के उतार चढ़ाव से समुद्र स्थल के कटानों के समान वह शुद्ध तथा स्वच्छ रहता है। एक स्थान पर ब्राइस ने यह भी कहा है कि दलबन्दी अनुशासन द्वारा स्वार्थ-सिद्धि तथा भ्रष्टाचार का विरोध करती है। इसी प्रकार शिक्षा के ह्रास का जो दोषारोपण जनतन्त्र पर किया गया था वह भी न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता। जनता को राज्य की राजनैतिक बातों से जानकारी रखने के लिये थोड़ी सी शिक्षा की आवश्यकता अवश्य है परन्तु शनैः शनैः जनता को शिक्षा के लाभ बताकर उसमें शिक्षा का अधिक प्रचार किया जा सकता है और जनता को शिक्षा प्राप्त करने की रुचि दिलाई जा सकती है। यह दोष कि जनतन्त्र में धन अधिक व्यय होता है वास्तव में दोष नहीं है और न वह स्थायी है। जनता

को शिक्षित बनाने से यह दोष दूर हो जायगा। रहा भ्रष्टाचार का दोष, इसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि जनता की आचारोन्नति करनी चाहिये। जनता में धार्मिक भाव उत्पन्न करने चाहिये। धार्मिक भावों की जनता में प्रगति होते ही भ्रष्टाचार आदि के दोष स्वतः दूर हो जायेंगे। जनता की सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक उन्नति होने पर तथा धार्मिक भावों की जाग्रति होने पर संपूर्ण भ्रष्टाचार संबंधी दोष स्वयं दूर हो जायेंगे। इस समय अमेरिका के संयुक्त राज्य, इंगलैण्ड तथा भारतवर्ष में जनतन्त्र शासन-प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है और आशा है यह शासन-प्रणाली स्थायी सिद्ध होगी।

कुछ लोगों का मत है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिये जनता की शिक्षा-प्रणाली तथा जनता के आचार में परिवर्तन करना चाहिये। कुछ अन्य लोगों का मत है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिये और उसे वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिये जनतन्त्रीय संगठन में परिवर्तन करना आवश्यक है। ऊपर वर्णन की गई दो श्रेणियों में से प्रो० हर्नशा (Prof. Hearnshaw) प्रथम श्रेणी में आते हैं। इन का विचार है कि—

(१) जनतन्त्र शासन प्रणाली में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि नैतिक स्तर उच्च बनाया जाय जिससे मनुष्य सच्चे सच्चरित्र तथा स्वाभिमानी बनें तथा मन वचन और कर्म से शुद्ध, पवित्र तथा न्यायशील हों।

(२) लोगों में सुशिक्षा का प्रचार करके उनकी बुद्धि का स्तर उच्च किया जाय जिससे युक्ति-पूर्ण विषयों को सरलता से समझ सकें तथा ठीक प्रकार से उन पर अपना निर्णय दे सकें।

(३) अपनी जाति मंडली अथवा समुदाय की उन्हें ठीक चेतना हो। वे जनता के पारस्परिक भावों को भली प्रकार समझते हों। उनमें परस्पर प्रेम, संगठन और ऐक्य हो।

(४) एक दृढ़ जनमत की स्थापना हो। जनमत को राज्य के अनुकूल बनाया जाय।

(५) जनतन्त्र को स्थायी तथा सफल बनाने के लिये उसका संगठन समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार हो। सामाजिक तथा औद्योगिक जनतन्त्र ही सफल जनतन्त्र बन सकता है।

जे० डब्ल्यू० गार्नर (J. W. Garner) जनतन्त्र के लिये निम्न-लिखित आवश्यक अनुयोग बतलाते हैं।

(१) सापेक्षतया उच्चकोटि की राजनैतिक बुद्धि, सार्वजनिक कार्यों में स्थायी अभिरुचि, सामाजिक उत्तरदायित्व-भावना, बहुमत के निर्णयानुसार कार्य करने के लिये सन्नद्ध रहना तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का भाव।

(२) प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधा।

(३) राजनैतिक तथा नागरिक शास्त्र संबंधी शिक्षा तथा स्वशासन की शिक्षा।

(४) उच्च नैतिक स्तर।

जनतन्त्र शासन प्रणाली की सफलता के लिये डब्ल्यू० ई० हाकिंग (W. E. Hocking) के मतानुसार निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(१) जिनकी जैसी शिक्षा, शिक्षण तथा कौशल होगा उससे अधिक अच्छा उनका जनतंत्र कदापि नहीं हो सकता। जनतंत्र को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है बाहरी आवरणों के पीछे छिपे हुये सत्य को पहिचानने की लोगों में योग्यता हो।

(२) सत्य के बिना तथा स्थिति को ठीक ठीक जाने बिना जनतन्त्र सफल नहीं हो सकता उसका यह अर्थ हुआ कि हमें सत्य पर दृष्टि रखते हुये प्राप्त जानकारी को धोना चाहिये।

(३) जनतन्त्र जन साधारण की सदिच्छा पर निर्भर है।

(४) जनतन्त्र में इस बात की आवश्यकता है कि नेताओं की जनता में श्रद्धा हो।

लार्ड लोथियन (Lord Lothian) का विचार है कि जनतन्त्र शासन में विचार प्रकट करने तथा आलोचना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। शासन में परिवर्तन बिना किसी हिंसात्मक कार्य के किया जाय तथा वह सब वयस्कों के निर्णय के अनुसार हो। लार्ड पर्सी (Lord Percy) का कथन है कि—

(१) राज्य के व्यवस्थापक संसद को अपना ध्यान मोटी मोटी राजनैतिक बातों पर केन्द्रित रखना चाहिये उनके विस्तृत ब्योरे में ही अपने आप को न भुला देना चाहिये। कर और व्यय को राजनैतिक विषय समझ कर उन पर विशेष ध्यान देना चाहिये तथा अपव्यय और

अनुचित कर के कारण उत्पन्न हुए जनता के कष्ट पर ध्यान देना तथा उस पर विचार करना चाहिये ।

(२) संसद स्वयं ही विधानों की रूप-रेखा निश्चित करे इसके लिये उसे शासन विभागों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये । उसे इस कार्य के लिये छोटी छोटी समितियाँ बना देनी चाहिये । इन समितियों को चाहिये कि वे केन्द्रीय तथा स्थानीय शासन के सम्बन्धों की जाँच करें और यह भी समय समय पर देखें कि व्यक्ति का इन दोनों से जो सम्बन्ध है वह कहां तक ठीक है ।

(३) संसद की अन्य समितियों को विशिष्ट शासन विभागों का निरीक्षण करना चाहिये तथा विभागीय आज्ञाओं तथा उपनियमों के जारी होने से पूर्व उनकी परीक्षा करनी चाहिये । जनता के व्यक्तिगत कष्टों को सुनना चाहिये, और मंत्रियों को इनकी सूचना देनी चाहिये ।

(४) राजा द्वारा मनोनीत एक आर्थिक समिति बननी चाहिये । इस समिति में ऐसे लोगों का अत्यधिक प्रतिनिधित्व होना चाहिये जिनके हाथ में आर्थिक बल है, कोरी जानकारी ही नहीं है । शासन तथा व्यवस्थापक संसद को विधान बनाते समय इस समिति से परामर्श करना चाहिये ।

(५) राजा को लार्ड सभा के स्थायी पीयर्स बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और लार्ड सभा को विधान में संशोधन तथा पुनः उपक्रम करने का अधिकार होना चाहिये । सर स्टैफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने इस विषय पर लिखते हुए कि 'पार्लियामेंट कैसी होनी चाहिये' जनतन्त्र के तीन लक्षण बतलाये हैं:—

(१) जनता को अपने प्रतिनिधियों को चुनने तथा इच्छानुसार उन्हें पदच्युत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये ।

(२) जनता को यह प्रकट करना चाहिये कि उसकी क्या नीति है ? उसे इस विषय पर भी अपनी इच्छा प्रकट करनी चाहिये कि वह नीति को कार्यरूप में परिणत करना चाहती है ।

(३) जनता के प्रतिनिधियों को अविलम्ब जनता की नीति को कार्यरूप में परिणत करना चाहिये तथा उन्हें विशिष्ट हितों और व्यक्तियों द्वारा प्रभावित नहीं होना चाहिये ।

जनतन्त्र के इन व्यावहारिक लक्षणों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये क्रिप्स तीन निम्नलिखित बातों की अभिस्तुति करता है—

(१) विधान-निर्माण की उन्नीसवीं शताब्दी की विलम्बकारी रीति को त्याग देना चाहिये।

(२) कामन सभा को जब जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो तो वह साहस से काम ले और स्वयं यह निश्चित करे कि राष्ट्र कितनी तेज़ी से आगे बढ़े। ऊपरी सभा के विरोध करने पर अपनी प्रगति को रोकना नहीं चाहिये।

(३) मंत्रियों के वैधानिक तथा शासन सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करने के लिये केवल मनन करने वाली नहीं वरन कार्य करने वाली समितियाँ बनानी चाहिये।

एच साइडबाथम (H. Sidebotham) का मत है कि—

(१) नागरिक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए जनतन्त्र शासन प्रणाली ने सार्वजनिक व्यवस्था स्थापित रखी है।

(२) जनतन्त्र ने अन्य शासन प्रणालियों के समान एक कुशल नागरिक शासन प्रबन्ध स्थापित किया है।

(३) अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा जनतन्त्र में दीन तथा दरिद्र लोगों की सहायता तथा कल्याण के लिये विधान निर्माण पर अधिक ध्यान दिया गया है।

(४) जनतन्त्र शासन प्रणाली कभी अस्थिर अथवा कृतघ्न नहीं रही है।

(५) इस प्रणाली ने लोगों के स्वदेश प्रेम तथा साहस को कम नहीं किया है।

(६) जनतन्त्र में बहुधा अपव्यय तथा अधिक व्यय होता है।

(७) इसने प्रत्येक राष्ट्र में परितृप्ति उत्पन्न नहीं की है।

(८) इसने शान्ति स्थापित करने के लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में सुधार करने के लिये कोई कार्य नहीं किया है। जातीय स्वार्थ करने के लिये भी कुछ कार्य नहीं किया है। उसने विश्वमानव के भाव भी उत्पन्न नहीं किये हैं, न भिन्न भिन्न रंगों के लोगों की पारस्परिक घृणा में ही कुछ कमी की है।

(९) सम्पत्तिशाली अथवा धनी लोगों के शासन पर जो कलुषित तथा भ्रष्टाचारी प्रभाव होते हैं उन्हें नष्ट करने का भी जनतन्त्र ने कोई कार्य नहीं किया है।

(१०) उसने क्रान्तियों के भय को भी नष्ट नहीं किया है।

(११) उसने राज्य के शासन प्रबन्ध में राजसेवा के पदों पर अत्यन्त सच्चे सच्चरित्र तथा योग्य नागरिकों की पर्याप्त संख्या में नियुक्ति नहीं की है।

(१२) परन्तु इतना अवश्य है कि एक सत्तात्मक अथवा कुलीनतन्त्र की अपेक्षा इसका परिणाम अधिक अच्छा रहा है। जनतन्त्र में ऊपर लिखे अन्य तन्त्रों की अपेक्षा बहुत कम दोष हैं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

ए० डी० लिन्डसे—*ऐसेन्शियल आफ डिमौक्रेसी*

ई० डब्ल्यू हावसन—*डिमौक्रेसी एंड चेन्जिग सिविलिजेशन*

ऐफ० जे० सी० हर्नशा—*डिमौक्रेसी ऐन्ड लेबर*, तथा
डिमौक्रेसी ऐट दी क्रासवेज

आर० जी० गैटिल—*इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइंस*

जे० डब्ल्यू गार्नर—*पोलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेंट*

ऐम० पी० फोलैट—*न्यू स्टेट*

ई० फैगट—*होररआफ रैस्पौंसबिलिटी*, तथा
कल्ट आफ इनकोम्पीटेन्स

जे० डी० बी०—*पब्लिक ऐन्ड इट्स प्रॉब्लम*

जे० ब्राइस—*माडर्न डिमौक्रेसीज*

सी० डी० बर्न्स—*डिमोक्रेसी, इट्स डिफैक्ट्स ऐन्ड ऐडवान्टेज*

डब्ल्यू० ऐच० मैलक—*लिमिट्स आफ प्योर डिमौक्रेसी*

अरस्तू— *पौलिटिक्स*

अग्नि— *ऋगवेद*

व्यास— *महाभारत*

जे० डब्ल्यू० मैक क्रिन्डिल—*इन्वेजन आफ इन्डिया बाइ ऐलेकजैंडर दी ग्रेट*, तथा
ऐन्शियैंट इन्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मैगस्थनीज ऐन्ड एरियन

डेविड्स राइस—*बुद्धिष्ट इण्डिया*

ऐच० सी० राय - *हिन्दू सिस्टम आफ एडमिनिस्ट्रेशन*

ऐन० ऐन० लॉ—*ऐस्पैक्टस आफ इण्डियन पौलिटी, तथा*
स्टडीज इन ऐन्शियेन्ट हिन्दू पौलिटी

अध्याय ७

राज्य का कार्य-क्षेत्र

महाभारत में अराजक राज्य की बड़ी निन्दा की गई है। कहा गया है कि अराजक राज्य में धर्म नहीं ठहरता और मनुष्य एक दूसरे का भक्षण करते हैं। वहाँ लोग अपने धन तथा स्त्री का भोग नहीं कर सकते। दुष्ट लोग दूसरों का धन हरण करके प्रसन्न होते हैं। परन्तु जब इन लोगों का धन हरा जाता है, तब सोचते हैं कि राजा होता तो अच्छा होता। इस प्रकार अराजक राज्य में पापियों को भी सुख नहीं होता। एक का धन दो छीनते हैं और दो का बहुत से लोग छीनते हैं। वे स्वतन्त्र मनुष्यों को दास बनाते हैं और बलपूर्वक स्त्रियों का हरण करते हैं। इसीलिये देवताओं ने प्रजापालक की सृष्टि की। यदि संसार में दण्डधारी राजा न हो, तो जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, वैसे ही बली मनुष्य दुर्बलों को खा जायँ *। राजा अथवा राज्य की आवश्यकता इस

---

* अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्टते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥१२॥
प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके।
यदाऽस्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजनमिच्छति ॥१३॥
पापाह्यपि तदाक्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य च द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवो परे ॥१४॥
अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान् चक्रिरे ॥१५॥
राजाचेन्न भवल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥१६॥ शां० अ० ६७

लिये समझी जाती थी कि वह गदर रोके और मार-काट, चोरी, इत्यादि न होने दे। जिस राज्य में यह व्यवस्था ठीक रहती थी वहीं का राजा धार्मिक कहलाता था और अव्यवस्था दूर कर सुव्यवस्था करने के लिये लोग उसे पूजते थे। राजा धर्म के लिये होता है, अपनी कामनाएं सफल करने के लिये नहीं। इसी लिये महाभारत में लिखा है कि इंद्र मान्धाता से कहते हैं कि राजा धर्म-रक्षक होता है। जो राजा धर्मपूर्वक राज्य करता है वह देवता माना जाता है और जो राजा अधर्माचारी होता है, वह नरक को जाता है। जिसमें धर्म रहता है वही राजा कहलाता है।*

जिस धर्माचरण के लिये राजा की नियुक्ति होती है, वह है "प्रजा-हित"। गार्भिणी स्त्री जैसे अपने मनोऽनुकूल कार्य न करके सदा गर्भ के हित का ध्यान रखती है, वैसे ही राजा अपने मन के कार्य न करके वे ही कार्य करे जिन से प्रजा का हित हो †। श्वेतकेतु ने बताया है कि राजा का सनातन धर्म प्रजारंजन, सत्यरक्षण और व्यवहार की सत्यता है। वह दूसरे का धन हरण न करे, वरंच यथासमय आप दे तथा औरों से दिलावे। राजा को चाहिये कि वह विचारपूर्वक चातुर्वर्ण्य और धर्मों की रक्षा करे। धर्म-संकरता से प्रजा की रक्षा करना राजा का सनातनधर्म है ‡। राजा ही

---

* न काम करणायतु।
मान्धातारिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥२॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥३॥
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ॥१४॥ म्हा० शा० अ० ९०

† यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्यहितमार्थे तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥४५॥
वर्त्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्त्तिना।
स्वं प्रियं च परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥४६॥ शां० ७ अ० ५६

‡ लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यं च रक्षणञ्चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥११॥
न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत्।
विक्रान्तः सत्यवाक क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यश्च धर्माश्च रक्षितव्या समीक्षिता।
धर्म संकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥१५॥ शां० अ० ५७

प्राणियों का रक्षक होता है और वही विनाशक होता है। जो धर्मात्मा होता है, वह रक्षक और जो अधर्मी होता है, वह विनाशक है *। वर्ग के मतानुसार राजा का धर्म शिष्टों का परिपालन और दुष्टों को दण्ड देना है। जो इन दोनों श्रेणियों में नहीं आते, उनसे उदासीनता का व्यवहार करना है। उसका कार्य राज्य के षाडगुण्य की चिन्ता करना है, विलासिता में रहना ही नहीं। जो राजा कभी षाडगुण्य की चिन्ता नहीं करता और सदा विलासिता में डूबा रहता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है क्योंकि राज्य ही षाडगुण्य है †।

महाभारत के अनुसार दुर्ग की रक्षा, युद्ध, धर्मानुसार शासन, मन्त्रचिन्ता और प्रजा का सुखवर्द्धन ये पांच कार्य यथासमय करने से राजा के अधिकार का विस्तार होता है। जो बध योग्य नहीं है, उसका बध करने से जो दोष होता है, वहीं बध्य का बध न करने में समझना चाहिए। निश्चय यही मर्यादा है जिसके विपरीत न करे। इससे राजा-प्रजा को अपने अपने धर्मों में ठीक रखे, नहीं तो भेड़िये के समान मनुष्य एक दूसरे का भक्षण

---

* राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।
धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः।।६।। शां० अ० ९१

† विज्ञयेः पार्थिवो धर्मः शिष्टां परिपालनम्।
दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्त्तितः।।
षाडगुण्यचिन्तनं कर्मराज्यं यत्संप्रकथ्यते।
न केवलं विलासाद्यं तेन वाह्यं कथंचन।।
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनः सदा।
षाडगुण्यं तस्य तद्राजं स चिरेण प्रणश्यति।।

नोट–षाडण्य–दो राजाओं का किसी शर्त (पद्य) पर मेल कराना 'संधि' है।

किसी राजा का कोई अपकार करना 'विग्रह' है।
संधि विग्रह न करके उपेक्षा करना '*आसन*' है।
शक्ति आदि की अधिकता यान का कारण होने से यान अर्थात् 'चढ़ाई' है
बलवान् राजा को आत्म समर्पण करना '*संश्रय*' है।
एक से संधि तथा दूसरे से विग्रह करना '*द्वैधीभाव*' है।

कर लेंगे। * जिस राजा का राष्ट्र प्रसन्न, सम्पन्न और राजभक्त होता है और जिसके सन्तुष्ट पुष्ट मन्त्री होते हैं, उसकी जड़ मजबूत रहती है। जिसके सैनिक भली भांति सन्तुष्ट, वशीभूत और आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं, वह राजा छोटी सी सेना से ही पृथ्वी को जीत लेता है। जिसके पौर और जानपद प्राणियों पर दया करते हैं और धन धान्य सम्पन्न होते हैं, उस राजा की जड़ मजबूत रहती है †। कलिंग के जैन सम्राट् खारबेल ने अपने एक लेख में, जो ईस्वी सन् से १६५ वर्ष पूर्व का है, लिखा है कि "मैंने अपनी पच्चीस लाख प्रजा का रंजन किया है।"

प्रजा के साथ राजा का व्यवहार कैसा होना चाहिए इस विषय पर कामन्दक ने बहुत मार्मिक उपदेश किया है। उसका कथन है कि राज्य में प्रजा को पांच प्रकार के भय लगे रहते हैं, राजकर्मचारियों का, चोरों का, शत्रुओं का, राजा के प्रिय लोगों का और राजा के लोभ का। राजा को चाहिए कि त्रिवर्ग की वृद्धि के लिए प्रजा का यह पांच प्रकार का भय दूर करदे। पके हुए फोड़े की भाँति राजा धनी अधिकारियों का धन निचोड़ ले, नहीं तो ये आग की भांति राजा से व्यवहार करते हैं। त्रिवर्ग की वृद्धि के लिये अर्थशास्त्र में कुशल तथा विश्वासी मनुष्यों के अधीन राजा अपना कोश रखे और यथासमय उससे व्यय करे। बृहस्पति के नीतिशास्त्र का यह निश्चय है कि किसी मनुष्य का विश्वास न करना चाहिये, परन्तु उसका उतना ही विश्वास करना चाहिये, जितनी विश्वासपात्रता वह दिखावे। जो

---

* रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मंत्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्द्धते मही ॥ २४ ॥ शां० अ० ६३
यस्त्ववध्यवधे दोषः स बध्यस्यावधेस्मृतः।
सा चैव खलु मर्यादा यामय परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥
तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्ततः।
अन्योन्यं भक्षयन्तोहि प्रचरेयुर्वृकाइव ॥ २८ ॥ शां०अ० १४२

† यस्य स्फीतो जदपदः सम्पन्नप्रियराजकः।
सन्तुष्टपुष्ट सचिवो दृढ़मूलः स पार्थिवः ॥३॥
यस्य योधा सुसन्तुष्टो सान्त्वितः सुपधास्थिताः
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥४॥
पौर जानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः
साधना धान्यवन्तश्च दृढ़मूलः स पार्थिवः ॥५॥ शां०अ० ६४

विश्वासी न हो उसको जतावे कि हम तुम्हारा विश्वास करते हैं, परन्तु अपने ऊपर विश्वास रखने वालों का भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजा जिस पर विश्वास रखता है, वह सेवक लक्ष्मी का पात्र बन जाता है *। राज्य ही से सब राज्यांग होते हैं, इसलिये राजा सब प्रयत्नों से राज्य की उन्नति करे। जैसे यज्ञ में ऋषियों द्वारा की हुई हिंसा हिंसा नहीं समझी जाती, वैसे ही ऋषि समान राजा धर्मरक्षा के लिये असाधुओं की हिंसा करे, तो उसे पाप नहीं होता। धर्म संरक्षण पर राजा धर्म के लिये अर्थ की वृद्धि करे, और इसमें प्रजा के जो लोग बाधा दें, उन उनको दण्ड दे। वेदशास्त्रज्ञ आर्य पुरुष जिस कार्य की निन्दा करें, वह अधर्म और जिसकी प्रशंसा करे वह धर्म कहाता है। धर्माधर्म जानता हुआ राजा सज्जन प्रजावर्ग से प्रीति रखे, प्रजा की रक्षा करे और शत्रुओं को मार डाले †।

---

* आयुक्तेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपति लोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥८१॥
पञ्चप्रकारमप्येतदपोह्यनृपतिर्भयम्।
आददीत फलं काले त्रिवर्ग परिवृद्धये ॥८२॥
आस्रावेदुपचितान् साधु दुष्ट व्रणानिव।
आयुक्तास्ते वर्त्तेरन् आग्नाविव महीपतौ ॥८४॥
संवर्द्धयेत् तथा कोशमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम्।
काले चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्ग प्रतिपत्तये ॥७६॥
वृहस्पतेरविश्वास इति शास्त्रार्थ निश्चयः।
विश्वासी च तथा च स्याद् यथा संव्यवहारवान् ॥८८॥
विश्वासयेदविश्वस्तं नाति विश्वसेत्।
यस्मिन् विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः ॥८९॥ नीतिसार सर्ग ५

† राज्यांगानां तु सर्वेषां राष्ट्राद् भवति सम्भवः।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन राजा राष्ट्रं समुन्नयेत् ॥३॥
धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा मही भुजः।
तस्माद साधून धर्माय निघ्नन् दोषैर्न लिप्यते ॥५॥
धर्म संरक्षण परो धर्मायार्थं विवर्द्धयेत्।
ये ये प्रजाः प्रबाधेरन् शिष्यान्महीपतिः ॥६॥
यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
सधर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते ॥७॥

शुक्रनीतिसार में भी राजा को कुछ व्यावहारिक शिक्षा दी गई है। कहा गया है कि राजा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति और सभासदों के मत में सदा स्थित रहे और अपने मत में कभी न रहे। किसी कार्य के बहाने राजा प्रजा का धन हरण न करे, चाहे क्षुधा से पीड़ित वृक्ष की भांति स्थित रहे। राजा को चाहिये कि प्रजा में प्रचलित उत्सव जारी रखे और प्रजा के सुख में सुखी तथा दुःख में दुःखी हो। भूल जाना मनुष्य का स्वभाव होता है, इसलिये लेख ही परम निर्णायक है। जो राजा बिना लिखे कोई आज्ञा देता है और जो अधिकारी बिना लेख के कोई कार्य करता है, वे दोनों चोर हैं। राजा की मुहर वाला लेख ही राजा है, राजा राजा नहीं है। राजा नगरों, ग्रामों और देशों का प्रति वर्ष स्वयं निरीक्षण करके जाने कि अधिकारियों ने किन्हें दुःख दिया। उक्त प्रजाजनों के साथ जैसा व्यवहार किया गया हो उसी से अधिकारियों के आचरण का विचार करे। अधिकारी का पक्षपात न करके प्रजा का पक्ष करे। जिस अधिकारी से सौ आदमी घृणा करें या जिसे नापसन्द करें, राजा उसे निकाल दे और एक बार यदि अमात्य का अन्याय देखे, तो उसे भी एकान्त में दण्ड दे और यदि उसका अभ्यास हो गया हो, तो उसे निकाल दे। अन्यायियों का राज्य और सर्वस्व राजा हरण कर ले *।

धर्माधर्मों विजाजनन् हि शासनेऽभिरतः सताम्।
प्रजा रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ॥८॥ नीतिसार सर्ग ६

* सभ्याधिकारिप्रकृति-सभासत्सु मते स्थितः।
सर्वदास्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥३॥
न कर्षयेत् प्रजां कार्यमिषतश्च नृपः सदा।
अपि स्थाणुवदासीत् शुष्यन् परिगतः क्षुधा ॥२२६॥ अ० २
भ्रान्ते पुरुष धर्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम्।
अलख्य माज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः ॥२८२॥
राज्यकृत्यमुभौचौरों तौ भृत्यनृपती सदा।
नृपसंचिह्नतं लेख्यं नृपस्तन्न नृपोनृपः ॥२८३॥
ग्रामान्पुणणि देशांश्च स्वयं वीक्ष्य च वत्सरे।
अधिकारिगणैः काश्च रञ्जिताः काश्च कर्षिताः ॥३७३॥
प्रजास्तासां तु भूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत्।
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥३७४॥

महाभारत में राजनीति का मूलमन्त्र शुक्राचार्य के इन शब्दों में आ गया है कि राजधर्म का मूल सूत्र साधु की रक्षा और असाधु का दमन है। और यह काम राजा को करना ही चाहिये, चाहे वह आप भी आपद में हो * । राजा राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक है। यही नहीं, वह चौबीसों घंटे का नौकर है। सब नौकरों को कभी न कभी छुट्टी मिलती है, परन्तु उसको कभी छुट्टी नहीं मिलती। सोते जागते उठते बैठते राज्यहित का चिन्तन करना उसका मुख्य कर्त्तव्य है। जहां कहीं लिखा है कि अमुक राजा वेद विधि से प्रजा पालन करता था, वहाँ यही समझना चाहिये कि वह अपने कार्य में सदैव तत्पर रहता था। परन्तु ईश्वर ने सर्वदा प्रजा पालन करने के कारण उसे स्वामी बनाया है। †

१ व्यक्तिवाद—व्यक्तिवादियों का सिद्धान्त है 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez faire) पाश्चात्य दलों के आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में इस सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व राज्य ने लोगों के व्यक्तिगत कार्यक्षेत्रों में बहुत हस्तक्षेप किया था परन्तु आधुनिक काल में लोगों ने इस बात का बहुत विरोध किया है। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व राजाओं ने मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप करने वाले बहुतसे ऐसे विधान बनाये जिनसे लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। उस समय ऐसे नियम बनाये गये कि लोगों को किस प्रकार का भोजन करना चाहिये, सप्ताह में किस दिन कौन सा भोजन करना चाहिये, किस प्रकार का वस्त्र मृतशरीर के लिये प्रयोग में लाना चाहिये, इत्यादि। केवल यही नहीं लोगों के साधारण उद्योग तथा व्यवसायों में अनुचित हस्तक्षेप करने वाले विधान बनाये गये। परन्तु अठारहवीं शताब्दी की उद्योग क्रान्ति (Indust-

---

प्रजाशतेन संद्वेष्टि सन्त्यजेदधिकारणम्।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥३७५॥
ऐकान्ते दण्डयेत्स्पष्टमभ्यासगस्कृतं त्यजेत्।
अन्याय वर्त्तिनां राज्यं सर्वस्वं च हरेन्नृपः ॥३७६॥ अ० १ शुक्रनीतिसार।

* अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
एवं शुक्रोऽब्रवीद्धीमानःपत्सु भरतर्षभ ॥३४॥ शां० प०

† स्वभाग भृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा।

rial Revolution) ने लोगों की चित्तवृत्ति में बड़ा परिवर्तन किया। इसके साथ नवीन आविष्कारों ने भी लोगों के जीवन में बड़ा परिवर्तन कर दिया। इन आविष्कारों ने लोगों के आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। वस्तुओं का उत्पादन अत्यधिक हुआ। इन वस्तुओं के विक्रय के लिये नवीन आपणों (बाजारों) की आवश्यकता हुई। परिणाम यह हुआ कि साधारण जनता ने इस बात का अनुभव किया कि जितना न्यून से न्यून हस्तक्षेप राज्य का व्यापार में होगा उतनी ही अधिक उन्नति व्यापार की होगी और व्यापारियों तथा वस्तु-उत्पादकों को अपने कार्य में स्वतन्त्रता मिलेगी।

अतः व्यक्तिवादियों का यह विश्वास है कि राज्य एक दोषपूर्ण संस्था है, राज्य का आधार तथा अभिप्राय मनुष्यों का शोषण करना है। जनसाधारण का रक्तशोषण करने के लिये राज्य स्थापित किया गया है। परन्तु व्यक्तिवादियों का यह विश्वास भी है कि देश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखने के लिये राज्य एक अनिवार्य शक्ति है और राज्य एक आवश्यक संस्था है। परन्तु राज्य को मनुष्यों के कार्यों में न्यून से न्यून हस्तक्षेप करना चाहिये। वही राज्य अच्छा है जो मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्यों में न्यून से न्यून हस्तक्षेप करता है। राज्य का कर्तव्य छल, कपट, मिथ्या व्यवहार, भ्रष्टाचार तथा हिंसा को रोकना है। जनता को अधिक से अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देना ही राज्य का मूल सिद्धान्त होना चाहिये। जब राज्य लोगों के व्यक्तिगत कार्यों, व्यापार, उद्योग आदि में हस्तक्षेप करता है तो वह अपने कार्यक्षेत्र की सीमा से बाहर हो जाता है। ऐसी अवस्था में अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये राज्य का विरोध करना मनुष्यमात्र का धर्म है। जे० ऐस० मिल (J. S. Mill) का कथन है कि "एक व्यक्ति अपने स्वत्व, शरीर तथा मन का पूर्ण स्वामी (राजा) है।" राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में सब व्यक्तिवादी एकमत नहीं हैं। स्पेन्सर (Spencer) जैसे उग्र व्यक्तिवादियों के मतानुसार राज्य का कार्यक्षेत्र केवल निम्नलिखित कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिये—

(१) वाह्य शत्रुओं से प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करना ;
(२) आन्तरिक शत्रुओं से प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करना ; तथा
(३) न्याय-संगत अथवा वैधानिक अनुबन्धों को बलपूर्वक प्रचलित करना।

सौम्य व्यक्तिवादियों (Moderate Individualists) के विचार इस विषय पर अधिक उदार हैं। सौम्य व्यक्तिवाद सिद्धान्त के अनुयायियों में

गिलक्रिस्ट (Gilchrist) अधिक प्रसिद्ध है, उसके विचार से राज्य का कर्तव्य है—

(१) राज्य तथा व्यक्तियों की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना।

(२) मनुष्यों की पारस्परिक शारीरिक हिंसा, निंदा तथा व्यक्तिगत विरोध से रक्षा करना।

(३) सम्पति की लूट-खसोट अथवा हानि से रक्षा करना।

(४) मिथ्या अनुबन्ध अथवा अनुबन्ध-भंग की हानियों से मनुष्यों की व्यक्तिगत रक्षा करना।

(५) जो व्यक्ति कार्य करने के अयोग्य हैं उनकी रक्षा करना।

(६) महामारी, शीतज्वर आदि निवारण किये जाने वाले संकटों से मनुष्यों की रक्षा करना।*

व्यक्तिवाद सिद्धान्त के अनुयायी तीन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों द्वारा अपने मत की पुष्टि करते हैं। वे दृष्टि कोण हैं नैतिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक।

(क) **नैतिक दृष्टिकोण**—मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। यदि मनुष्य को अपने व्यक्तिगत कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता न प्राप्त हो तो वह केवल एक स्वयं चलने वाली कल के समान हो जायगा। मनुष्य को तभी प्रसन्नता होती है जब यह अपनी इच्छा-नुसार अपने जीवन को बनाता है। ऐसी दशा में मनुष्य अपनी पूर्ण शक्ति से काम लेता है और आत्मपरायणता का पाठ सीखता है। राज्य का हस्तक्षेप एक निश्चित सीमा तक उचित है परन्तु जब यह सीमा तक पार हो जाती है तो व्यक्तिगत शक्ति की प्रगति का ह्रास होने लगता है और मनुष्य को राज्य पर निर्भर रहने का अभ्यास हो जाता है। राज्य का अनुचित हस्तक्षेप मनुष्यों को आलसी भी बना देता है। प्रजा में अकर्मण्यता आजाती है और क्रियात्मक भावना का ह्रास हो जाता है। लोग एक विशेष प्रकार से कार्य करने में अभ्यस्त हो जाते हैं और कल की भांति कार्य करते हैं। समाज में अकर्मण्यता आने से समाज की प्रगति का अवरोध हो जाता है, प्रगति का अवरोध होने से समाज रूढ़िग्रस्त होकर उसमें संकीर्णता आजाती है, परिणाम यह होता है कि अन्त में राज्य का नाश हो जाता है। अतः राज्य को अनुबन्ध प्रचलित करने, शान्ति स्थापित

* आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ़ पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ ३६७-३६८।

रखने तथा अपराधियों को दण्ड देने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये ।

(ख) **आर्थिक दृष्टिकोण**—प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्ति हित के विषय में अधिक जानकारी रखता है । इसलिये वह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्थिति तथा इच्छानुसार उद्योग अथवा व्यवसाय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय जिससे वह मनुष्य समाज में अपनी शक्ति के अनुसार जीविकोपार्जन कर सके । ऐसा अवसर प्राप्त होने पर प्रत्येक व्यक्ति इस बात का अधिक से अधिक प्रयत्न करेगा कि "मैं अधिक धनोपार्जन करूँ" । प्रत्येक मनुष्य ऐसा विचार कर कार्य करेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज की उन्नति होगी । राष्ट्र धनी होगा और धन ही राज्य की शक्ति है । लोगों को ऐसे अवसर प्राप्त होने से राज्य की शक्ति बढ़ेगी । व्यापार की उन्नति होती है ।

३—वैज्ञानिक दृष्टिकोण—जीवशास्त्रीय वैज्ञानिकों का मत है कि संसार में योग्यतम अतिजीवी होता है अर्थात् इस संसार में प्राणीमात्र में जीवन के लिए युद्ध हो रहा है और योग्यतम बच रहता है, अन्य सब नष्ट हो जाते हैं । जो जीव अपनी परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना लेता है उसी के जीवित रहने की संभावना है अन्य की नहीं । हर्बट स्पेन्सर (Herbert Spencer) इस मत का अनुयायी है । स्पैन्सर का कथन है कि प्राणीमात्र में 'योग्यतम बच रहता है' छोटे से छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़े में यह नियम कार्य कर रहा है । संसार में जीवन के लिये संग्राम हो रहा है, जो निर्बल है वह नष्ट हो जाता है और जो सबल है वह बच रहता है । यही नियम मनुष्यों पर भी लागू होना चाहिये । इस संसार में दुर्बल, दरिद्र तथा अयोग्य मनुष्य के लिये कोई स्थान नहीं है, उसे तो नष्ट ही हो जाना चाहिये । इस संसार में केवल उन्हीं मनुष्यों को रहने का अधिकार है जो सबल, धनी तथा योग्य हैं । राज्य को स्वच्छता, शिक्षा, पुस्तकालय, वाटिकाओं आदि के लिये निध्यात्मक (Positive) विधानों के बनाने की आवश्यकता नहीं है । यह बात प्रकृति के नियम व इच्छा के प्रतिकूल है । अतः राज्य को नकारात्मक विधान बनाने चाहिये । मनुष्यों को स्वयं कार्य करने की स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये । जो मनुष्य योग्य हैं वे उन्नति करेंगे और अयोग्य नष्ट हो जायेंगे ।

व्यक्तिवादियों का मत है कि जब शासन बहुत से कार्य अपने ऊपर ले लेता है तो वे कार्य भली प्रकार नहीं हो सकते । यदि शासन बहुत से कार्य करेगा तो वे कार्य भद्दी रीति से किये जायेंगे । उनके करने नें अधिक धन

व्यय होगा। बहुत से अत्यन्त आवश्यक कार्य बिना किये हुए रह जायेंगे। जब अधिक कार्यों में शासन हस्तक्षेप करता है तो वे कार्य भली प्रकार नहीं हो सकते। अतः यह आवश्यक है कि शासन अपने हाथ में कम से कम कार्य करने का उत्तरदायित्व ले और अधिकतर कार्य जनता को सौंप दे। इसके अतिरिक्त अधिक विधानों से लोग भी व्याकुल होते हैं। यह स्वाभाविक है कि जनता अधिक विधानों को एक प्रकार का बन्धन तथा अपनी स्वतंत्रता पर आघात समझती है और कार्यों को रुचिपूर्वक नहीं करती है। जो कार्य स्वतन्त्रता से रुचिपूर्वक किया जाता है वह अच्छी तरह किया जाता है और जो कार्य बलपूर्वक कराया जाता है वह इतना अच्छा नहीं किया जाता।

व्यक्तिवाद की आलोचना—व्यक्तिवादियों के इस मत में अतिशयोक्ति है कि शासन को कम से कम कार्य करना चाहिये और मनुष्यों को प्रत्येक प्रकार के कार्यक्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। व्यक्तिवादियों का यह मत है कि राज्य का कर्त्तव्य अपराधों को रोकना और मनुष्यों को उद्यम व व्यवसायों की पूर्ण स्वतन्त्रता देना होना चाहिये। आधुनिक काल में उद्यमों की उत्तरोत्तर उन्नति तथा भांति भांति के आविष्कारों के कारण मनुष्यों का जीवन इतना जटिल हो गया है कि यदि व्यक्तिवादियों के मतानुसार राज्य के विधान बनाये जायें तो अराजकता फैल जायगी और राज्य के किसी विभाग का कार्य भी सफलता पूर्वक नहीं हो सकेगा। यदि राज्य विधानों द्वारा व्यक्तियों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश न लगायेगा तो अधिकतर मनुष्य उन्नति न कर सकेंगे। यदि राज्य विधान द्वारा मनुष्यों के व्यवहार को सामाजिक श्रेय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न न करेगा तो अधिकतर मनुष्य अपना व्यक्तित्व ही खो बैठेंगे। बी० बोसांके (B. Bosanquet) का कथन है कि यदि व्यक्तिवाद की आलोचना न की जायगी तो वह भयंकर समूहवाद में परिवर्त्तित हो जायगा।

व्यक्तिवाद सिद्धान्त की नींव दृढ़ नहीं है। व्यक्तिवादियों के मतानुसार मनुष्य स्वभावतया स्वार्थी है। स्वार्थ तो सुखप्रयोजनवाद (Hedonism) का आधार है और सुखप्रयोजनवाद सिद्धान्त में अब किसी का विश्वास ही नहीं है। मनुष्यों में केवल स्वार्थ के ही भाव नहीं होते, उसमें परमार्थ के भाव भी होते हैं। मनुष्यों में स्वार्थ के साथ साथ परोपकार करने की भी भावना प्रबल होती है। मनुष्यों की पारस्परिक उन्नति केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति से ही नहीं हो सकती। सामाजिक उन्नति करने के लिये मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को किसी विशेष सीमा तक ठुकराना

पड़ेगा तभी समाज के साथ राष्ट्र की उन्नति संभव हो सकेगी। सामाजिक उन्नति और व्यक्तिगत उन्नति का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। समाज की उन्नति करते हुए ही व्यक्तिगत उन्नति वास्तव में सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। ऐच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने ठीक कहा है कि "स्वार्थ एक व्यक्ति अथवा देश को केवल नाश की ओर ले जाता है।"

व्यक्तिवादियों का मत है कि प्रत्येक मनुष्य अपने हित के विषय में सब से अच्छा निर्णय कर सकता है। परन्तु अनुभव से यह ज्ञात होता है कि यह विचार केवल कल्पना मात्र है। एक मनुष्य अपने वर्तमान हित के विषय में यदि ठीक निर्णय कर भी ले तो यह कदापि नहीं सोचना चाहिये कि वह अपने भविष्य के हितों के विषय में भी ठीक ठीक निर्णय कर लेगा। प्रत्येक मनुष्य का निर्णय उसकी स्वार्थपूर्ण भावनाओं से प्रभावित होगा। अतः राज्य ही एक ऐसी संस्था है जो निष्पक्ष भाव से एक मनुष्य के व्यक्तिगत विषय पर उचित निर्णय दे सके। गार्नर (Garner) का कथन है कि प्रत्येक देश में ऐसे अज्ञानी मनुष्य हैं जो अज्ञात संकटों से बचने का पूर्व प्रयत्न नहीं कर सकते। कभी कभी किसी मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक अथवा शारीरिक आवश्यकताओं के विषय में उसकी अपेक्षा राज्य अधिक युक्तिसंगत अथवा न्यायसंगत निर्णय दे सकता है जैसे स्वच्छता सम्बन्धी विषय। सामान्य प्रजा का कल्याण तभी हो सकता है जब राज्य द्वारा गंदगी का निवारण किया जाय, भोजन आदि के विक्रय का निरीक्षण हो तथा मिथ्या व्यवहार करने वाले छली व्यवसायियों (जैसे नकली वैद्य, हकीमों) को राज्य द्वारा दण्डित किया जाय। लोगों का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों की अज्ञानता तथा कपटी व्यवहार से समाज की रक्षा करें और जनसाधारण के हितकारी नियम बनाने में राज्य की सहायता करें। जे० ऐस० मिल (J. S. Mill) व्यक्तिवादी है परन्तु उसका भी यह कथन है कि "समाज को ऐसे पुरुष की भी रक्षा करनी चाहिये जो एक ऐसे पुल को पार करने का प्रयत्न करे जिस पर चलना खतरनाक है या अपने आप को दास बनाने को उद्यत हो।"

व्यक्तिवादी कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार अपने हित सम्बन्धी कार्य करने देना चाहिये। जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने हित के लिये कार्य करेगा और अपनी व्यक्तिगत उन्नति करेगा तो समाज की उन्नति अपने आप हो जायगी क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही समाज है। व्यक्तिवादियों की यह युक्ति भी कितनी सुन्दर दिखाई देती है, परन्तु व्यक्तिवादियों ने कभी यह भी सोचा है कि प्रत्येक व्यक्ति के बहुत से हित

ऐसे होते हैं जिनकी पूर्ति बिना दूसरे व्यक्तियों के हितों पर आघात किये नहीं हो सकती। यदि राज्य ऐसा होने दे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति करने के लिये दूसरे व्यक्ति के हितों पर आघात अवश्य पहुँचायेगा। स्वयं अधिक धन प्राप्त करने के लिये दूसरों को लूटेगा, ठगेगा तथा हत्या करेगा। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य उचित विधानों द्वारा मनुष्यों के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करे। प्रत्येक व्यक्ति के हितों अथवा अधिकारों को सीमित कर दे जिससे राज्य में अराजकता न फैलने पाये।

सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) ने लिखा है * कि व्यक्तिवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि "एक व्यक्ति अधिकारों से घिरे हुए एक अणु के समान है।" यह बात केवल कल्पनामात्र प्रतीत होती है। समाज एक अवयवी-संस्थान है। राज्य अथवा समाज एक जीवित संस्था है। प्रत्येक व्यक्ति उस समाज अथवा राज्य का एक अवयव है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों का हित शरीर से पृथक् किसी व्यक्तिगत अवस्था में स्थित नहीं रह सकता उसी प्रकार किसी मनुष्य का व्यक्तिगत हित समाज अथवा राज्य से पृथक् नहीं हो सकता। राज्य कोई दोषपूर्ण संस्था नहीं है। मानव समाज का राजनैतिक ही राज्य है। यह संगठन अन्य सब सामाजिक संगठनों से श्रेष्ठ है। इसका उद्देश्य समाज तथा व्यक्ति की उन्नति करना है। राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के विधान बनाता है, उन विधानों द्वारा कार्य करते हुए ही समाज सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। राज्य के विधानों की सहायता से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को सुरक्षित रख सकता है। यदि राज्य न हो अथवा राज्य में विधान न हों तो अराजकता फैल जाय और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के अधिकार क्षेत्र में घुस कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करने लगे। राज्य व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है, तथा उनका निरोध भी करता है। जहाँ एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकार पर आघात पहुँचाता है वहीं राज्य उसका निरोध करता है।

व्यक्तिवादियों के मतानुसार व्यापार में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। व्यापार में निर्विरोध प्रतियोगिता का ये लोग समर्थन करते हैं। इनका यह भी विचार है कि वस्तुओं के क्रयविक्रय में भी राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। आधुनिक काल के उद्योगों को

* सी डी० बर्न्स—पोलीटिकल आइडियल्स पृष्ठ २४५

देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तिवादियों के मतानुसार यदि इन उद्योगों को वर्तमान रूप में रहने दिया जाय तो समाज की आर्थिक स्थिति संकटपूर्ण होजाय। आजकल बड़े बड़े नगरों में बड़े बड़े कारखाने हैं जिनमें सहस्त्रों मनुष्य कार्य करते हैं। इन कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिक अधिकतर नगरों के आसपास के ग्रामों में रहते हैं। बहुत से ऐसे भी कारखाने हैं जिनमें श्रमिकों के लिये छोटे छोटे घर बने होते हैं। इन घरों की तथा श्रमिकों की दशा को यदि वहां जाकर देखा जाय तो पता चलेगा कि यदि राज्य विधान द्वारा इन घरों अथवा श्रमिकों की व्यवस्था न करे तो प्रतिवर्ष सहस्रों मनुष्यों के प्राण चले जायें, लाखों का स्वास्थ्य बिगड़ जाय और असंख्य क्षुधा-पीड़ित रहें। इनकी सुव्यवस्था के लिये राज्य को समय समय पर अनेकों विधान ऐसे बनाने पड़ते हैं जिनके द्वारा श्रमिक समाज अनेकों दोषों तथा अन्यायों से बच जाता है। नगरों की व्यवस्था को इन परिस्थितियों के अनुसार ठीक रखने के लिये भी राज्य को विधान बनाने पड़ते हैं जिससे नगर में अधिक जनसंख्या बढ़ जाने से भांति भांति की बीमारियाँ न फैल जायँ। गिलक्रिस्ट लिखता है कि "ऐसे गृह सम्बन्धी विधानों की आवश्यकता है जिनसे अधिक भीड़ न हो जाय तथा बीमारियां न फैल जायँ, श्रमिक सम्बन्धी ऐसे विधान बनाने की आवश्यकता है जिससे बच्चों को कारखानों में काम करने से रोका जाय और स्वास्थ्य का क्षय न हो। कारखाने सम्बन्धी ऐसे विधान बनाये जायँ जिनसे कलें अरक्षित तथा खुली न रहें, जिनसे जीवन को भय हो।"*

व्यक्तिवादियों का यह मत है कि शासन भी अपने जनहित सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र में त्रुटियां करता है। व्यक्तिवादियों का यह कथन कि शासन त्रुटियां करता है वास्तव में ठीक है परन्तु अन्य संस्थाएं भी तो त्रुटियाँ करती हैं। मनुष्यों से सामाजिक अथवा व्यक्तिगत रूप में त्रुटियां होती हैं। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि जो संस्था त्रुटियाँ करे उसे नष्ट कर दिया जाय। शासन यदि त्रुटि करता है तो उसकी आलोचना करने और उन त्रुटियों को पकड़ने के लिये जनता सदैव तत्पर रहती है। शासन की त्रुटियां शीघ्र जनता के सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं। व्यक्तियों को अथवा संस्था विशेष की त्रुटियाँ इतनी शीघ्र जनता पर प्रकट नहीं हो पातीं। शासन इस प्रकार की त्रुटियों के होते हुए भी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। अतः शासन पर ऐसे दोषारोपण करना भ्रम है।

---

* आर० ऐन० गिलक्रिस्ट-प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ४०६

दोष-निवारण करने की अपेक्षा यह अधिक उचित है कि ऐसा पूर्वोपाय किया जाय कि दोष आने ही न पाये। राज्य को ऐसे विधान बनाने चाहिये कि समाज दोषों से बचा रहे। राज्य का यह धर्म है कि सर्व प्रकार के शारीरिक, आत्मिक तथा आध्यात्मिक दोषों से समाज की रक्षा करे और ऐसे विधान बनाये कि समाज में किसी प्रकार का दोष न आने पाये। समाज के कार्यों में शासन का हस्तक्षेप न करना असम्भव है। अथवा यों कह सकते हैं इस का परिणाम होगा क्रान्ति। लीकाक (Leacock) के शब्दों में यों कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था में सामाजिक तथा व्यक्तिगत अधिकारों का विच्छेद हो जायगा। इससे सहकारी तथा नियमित प्रयत्नों का ह्रास होता है।

लैस्की (Laski) का कथन है कि व्यक्तिवाद में एक बड़ा भारी दोष यह है कि वह नैतिक दृष्टि से अनुचित है। व्यक्तिवाद का परिणाम बुरा स्वास्थ्य, अवनत बुद्धि, गंदे घर, तथा ऐसे कार्य हैं जिनमें अधिकतर मनुष्यों को कोई रुचि नहीं होती। पूँजीपति और श्रमिकों के हित विपरीत तथा विरुद्ध होते हैं। आर्थिक दौड़ में श्रमिक पिछड़ जाता है। हाट का सौदा करना असमानता का ईश्वरीकरण है (The higgling of the market is the apotheosis of iniqnality) *।

गिलक्रिस्ट ने व्यक्तिवाद में निम्नलिखित गुण बतलाये हैं—

(१) व्यक्तिवाद आत्मनिर्भरता पर जोर देता है।

(२) शासन के अनुचित हस्तक्षेप का विरोध करता है।

(३) समाज में व्यक्ति का महत्व बतलाता है।

(४) थोड़ी थोड़ी बातों में हस्तक्षेप करने वाले व्यर्थ विधानों का नाश करने में सहायक होता है।

गिलक्रिस्ट ने व्यक्तिवाद में यह दोष बतलाया है कि व्यक्तिवाद राज्याधिकार के दोषों को बहुत बढ़ा कर हमारे सामने रखता है। व्यक्तिवादी यह नहीं सोचते कि राज्य के कार्यों में दोषों की अपेक्षा गुण अधिक हैं। व्यक्तिवाद व्यक्तित्व संबन्धी मिथ्या विचारों का प्रचार करता है। आधुनिक काल के जटिल मानवीय जीवन के लिये व्यक्तिवाद सर्वदा अयोग्य है।

(२) **समाजवादः**—समाजवादियों का मत है कि राज्य एक वास्तविक हितकारी संस्था है। समाजवादियों का सिद्धांत व्यक्तिवादियों के सिद्धांत

---

* लैस्की-ग्रामर आफ पोलिटिक्स पृष्ठ १९१

से बिलकुल विपरीत है। ये कहते हैं कि राज्य का कार्यक्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत होना चाहिये। समाजवादियों का विचार है कि अधिक से अधिक मनुष्यों की भलाई तथा उनके प्रति न्यायपूर्ण बर्ताव तभी सम्भव है जब राज्य का कार्यक्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत हो। समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का अधिकार समाज के संपूर्ण उद्योग-व्यवसायों पर होना चाहिये प्रत्येक व्यक्ति राजकीय कर्मचारी होना चाहिये। "राज्य एक सहकारी सर्व-हितकारी संस्था है जो वस्तुओं के उत्पादन व वितरण पर नियंत्रण रखती है। ऐसी सर्वहितकारी संस्था में प्रत्येक व्यक्ति राजकर्मचारी होगा।" योग्यता के आधार पर उसका वेतन निश्चित किया जायगा। "उत्पादन निर्वाचित पद-धारियों के नियंत्रण में होगा। ये ही लोग उद्योगों का प्रबन्ध करेंगे, श्रमिकों को कार्य सौंपेंगे तथा वेतन और पदवृद्धि का प्रबन्ध करेंगे" *।

समाजवादी मतानुयायियों का कथन है कि समाज में बहुत से दोष हैं इन दोषों के निवारण के लिये आमूल परिवर्तनों की आवश्यकता है। धन और शक्ति थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में एकत्रित हो गई है तथा श्रमिक को यथोचित भाग नहीं प्राप्त होता। पूँजीपति और श्रमिक की व्यवहारिक योग्यता में समानता नहीं है अतः श्रमिक समझौता करने के लिय बाध्य होता है। परिणाम यह होता है कि उसे परिश्रम अधिक करना पड़ता है और उसे कम मजदूरी मिलती है। संपूर्ण राष्ट्र संबंधी कोई योजनायुक्त अर्थनीति नहीं है। अनियंत्रित प्रतियोगिता के कारण मजूरी में कमी होती है, उत्पत्ति में वृद्धि होती है, वस्तुएं सस्ती बनती हैं तथा बेकारी बढ़ती है। वर्तमान प्रणाली दोष-पूर्ण है, इससे भौतिक सुखवाद अनुचित व्यवहार असत्यतम की वृद्धि होती है तथा व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास होता है। †

यदि सावधानी से समाजवादी योजना बनाई जायगी तो दुगनीकरण, अत्यधिक उत्पादन व्यर्थ-विज्ञापन तथा हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन आदि दोष दूर हो जायेंगे। समाजवादी परोपकार तथा समाजोपयोगी इच्छा की वृद्धि पर अधिक जोर देते है। उनका विचार है कि कर्मण्यता के महत्व का प्रचार होना चाहिये। समाजवादी नीति को कार्य रूप में परिणत किया गया है और इसका संतोषजनक परिणाम निकला है समाजवादी उद्योगों पर वैयक्ति स्वामित्व को किसी दशा में भी प्रोत्साहित करने की सम्मति नहीं देते हैं।

---

* आर० जी० गैटिल-इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ३८५

† जे० डब्लू० गार्नर-इंट्रोडक्शन टु पोलीटिकल सांइस पृष्ठ ३०२

सामूहिक स्वामित्व तथा प्रबन्ध बिल्कुल जनतन्त्र प्रणाली के अनुसार हैं। समाजवाद सिद्धान्त के अनुसार "जनतन्त्र की अगली सीढ़ी समाजवाद है"।

आलोचना—जो दोष समाजवादियों ने वर्तमान काल की औद्योगिक प्रणाली में बतलाये हैं वे सब ठीक हैं। वर्तमान काल की आर्थिक योजना में परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हम समाजवाद सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं। समाजवादी सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत करने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

पहली कठिनाई तो यह है कि समाजवादी राज्य में शासन कार्य की बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होगी। प्रतियोगिता के अभाव से डाक, तार, टेलीफून आदि के प्रबन्ध में मितव्ययता होना असंभव प्रतीत होता है। कुछ वर्ष व्यतीत हुए इंगलैंड के पोस्टमास्टर जनरल ने कहा था यदि डाक विभाग को शासन सर्वसाधारण प्रबन्ध के हाथ में दे दें तो यह विभाग अधिक कुशलतापूर्वक कार्य करेगा। कुछ सरकारी व्यवसायों का प्रबन्ध उत्तमता तथा मितव्ययता के साथ रहा है तब भी यह नहीं समझना चाहिए कि सम्पूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने से उनका प्रबन्ध वैसी सफलता पूर्वक हो सकेगा। समाजवाद सिद्धान्त के विरोधियों का मत है कि सब प्रकार के उद्योग व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करने से शासन करना असम्भव हो जायगा। दूसरी कठिनाई यह है कि अभी मानव समाज की इतनी नैतिक उन्नति नहीं हुई है कि वह भ्रष्टाचार के प्रलोभन से बच सके। सब प्रकार के उद्योग व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से शासनकर्ता भ्रष्टाचार, लालच, षड्यन्त्र, स्वार्थ आदि दोषों के शिकार बन जायेंगे। अपने स्वार्थ की पूर्ति तथा अनुचित रीति से लूट-खसोट करेंगे और पारस्परिक वैमनस्य के कारण शान्ति स्थापित रखना असम्भव हो जायगा। तीसरी कठिनाई यह है कि समाजवादी संगठन समाज की प्रगति में सहायक नहीं हो सकता। लोग श्रमिक जीवन की ओर आकर्षित नहीं होंगे। सब एक दूसरे से बराबरी करने का झूठा दावा करेंगे समाजवादी संगठन में ऐसी प्रेरक कामना नहीं रह जाती जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति अपना सारा बुद्धि बल व शारीरक बल किसी काम में लगावे समाजवादी राज्य में सब लोगों के रहन-सहन का स्तर समान हो जायगा। कोई मनुष्य विशेष प्रकार की उन्नति, आविष्कार, तथा अन्वेषण करने का प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि वह समझेगा कि ऐसा करने से उसे किसी विशेष प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। मनुष्य लोकोपकार की इच्छा

से इस प्रकार के प्रयत्न नहीं किया करता वह तो तभी ऐसे कार्य करता है जब वह यह समझता है कि ऐसा करने से उसे कोई विशेष व्यक्तिगत लाभ होगा। लोकोपकार के विचार से कार्य करने वाले मनुष्य संसार में बहुत कम हैं। चौथी कठिनाई यह है कि श्रमिक को इतना लाभ समाजवादी राज्य में नहीं हो सकता जितना कि अन्य प्रकार के राज्य में उसे होता है। अन्य राज्यों में श्रमिक बड़े संगठित रूप में है। उसने अपना एक दृढ़ संगठन स्थापित कर रखा है। उसका संबंध संसार के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन से है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सदस्य है। वह इतना निर्बल तथा निस्सहाय नहीं है जैसा साधारणतया लोगों का विचार है। प्रायः हड़ताल, सत्याग्रह इत्यादि करके वह अपने मालिक से अधिक से अधिक लाभ उठा लेता है। पांचवीं कठिनाई यह है कि समाजवादी राज्य में मनुष्यों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। समाजवादी राज्य में व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास होगा। हार्बर्ट स्पेन्सर का विचार है कि "समुदाय (Community) का प्रत्येक सदस्य अपने वैयक्तिक रूप में सम्पूर्ण समुदाय का दास बन जायेगा", समाजवाद में प्रतिभा का ह्रास होता है तथा व्यक्तित्व का हनन किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति समाजवादी राज्य में आलसी बन जायगा। समाजवादी राज्य में शासकों की नौकरशाही के कारण व्यक्तिगत स्वतः-प्रवर्तन (spontaneity) तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व में कमी आ जायगी। छठी कठिनाई यह है कि समाजवादी राज्य में उत्पादन का राष्ट्रीकरण हो जाने के कारण उत्पादित की हुई वस्तुओं के गुण तथा परिमाण में कमी हो सकती है।

समालोचना—व्यक्तिवादियों तथा समाजवादियों के सिद्धांतों में कुछ अच्छाइयाँ हैं परन्तु वे उन अच्छाइयों को अत्यधिक महत्व देते हैं। दोनों के मत सैद्धान्तिक हैं व्यावहारिक नहीं। जिस प्रकार शुद्ध व्यक्तिवाद की स्थापना नहीं हो सकती उसी प्रकार शुद्ध समाजवाद की भी स्थापना नहीं हो सकती। वास्तव में आवश्यकता एक ऐसी शासन-प्रणाली स्थापित करने की है जिसमें मनुष्यों का व्यक्तित्व भी बना रहे और मानव समाज भी पूर्णरूप से सुसंगठित बना रहे। बर्न्स ने अपनी पुस्तक "पौलीटिकल आइडियल्स" में ठीक लिखा है कि "यदि हम एक ऐसे आदर्श की कल्पना कर सकें जिसमें व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का सम्मिश्रण हो तो बहुत से विचारशील मनुष्यों के लिये यह एक बड़ा प्रभावशाली आदर्श होगा" *। क्योंकि "एक ओर तो हम

---

* बर्न्स पौलीटिकल आइडियल्स पृष्ठ २७५।

पृथक् रहते हैं और व्यक्तिगत हितों की रक्षा करते हैं दूसरी ओर हम अपने व्यक्तित्व को त्यागकर एक बृहत् समाज के जटिल संगठन में अपने आपको भूल जाते हैं।" व्यक्तिवादी अपने व्यक्तिवादी सिद्धान्तों द्वारा व्यक्तित्व को समाज में ज्यों का त्यों बनाये रखता है तथा व्यक्तिगत हितों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है; समाजवादी अपने समाजवादी सिद्धान्तों द्वारा समाज को पूर्ण रूप से संगठित कर उसमें ऐक्य व शक्ति लाने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह है कि समाज की प्रगति के लिये दोनों प्रकार के मतानुयायियों की आवश्यकता है।

(३) **आदर्शवाद**—नैतिक आदर्शवादी सम्प्रदाय के दार्शनिकों के विचारों का आधार प्लैटो और अरस्तू हैं। प्लैटो और अरस्तू के मौलिक आदर्शवादी सिद्धान्तों की आधुनिक दार्शनिकों ने पुनः स्थापना की है। आधुनिक आदर्शवादी दो प्रकार के हैं एक जर्मन दूसरे अंग्रेज। साधारणतया आदर्शवादियों का सिद्धान्त यह है राज्य एक प्राकृतिक राजनैतिक संगठन है। राज्य में रहकर ही मनुष्य की नैतिक, शारीरिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। मनुष्य स्वभावतया एक राजनैतिक समाज का सदस्य है। राज्य का ध्येय मनुष्य को धार्मिक बनाना तथा उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति करना है। सब मनुष्य समान हैं। सब के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं। राज्य का कर्तव्य मनुष्य समाज के दोषों का नाश करना है। राज्य को चाहिये कि जो दोष मनुष्यसमाज में है उन्हें दूर करे तथा दोषी, भ्रष्टाचारी, चरित्रहीन तथा समाज को दूषित करने वाले लोगों का नाश करे या उन्हें सुधारे।

जर्मन आदर्शवादियों में इमेन्युऐल कैन्ट (Immanuel Kant), जान फिक्टे (John Fichte), जार्ज विल्हैल्म हेगिल (George Wilhelm Hegel) और विलहैल्म वान हम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt) अधिक प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने राज्य को दैवी-स्वरूप दिया है। इनका मत है कि राज्य स्वयं ध्येय है। राज्य की देवता के समान पूजा करनी चाहिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि राज्य के लिये अपने आपको न्यौछावर करदे। जर्मन आदर्शवादियों के मतानुसार मनुष्य को अपने व्यक्तिगत हितों को राज्य के लिये बलिदान कर देना चाहिये। राज्य ही सब कुछ है। मनुष्यों को राज्य के ही लिये जीवित रहना अथवा मरना चाहिये, जर्मन आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को राज्य के सामने कुछ नहीं समझते। वे राज्य के लिये अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को ठुकरा सकते हैं।

हैगिल का मत है कि प्रत्येक नागरिक का जीवन राज्य की सेवा के लिये है। हम्बोल्ट का मत है कि राज्य का कर्तव्य व्यक्तिगत कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिये परन्तु राज्य के हित के लिये व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों को त्यागने के लिये सन्नद्ध रहे।

अंग्रेज आदर्शवादियों में टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) बी बोसांके (B. Bosanquet) और एफ० एच० ब्रैडले (F. H. Bradley) अधिक प्रसिद्ध हैं। आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य का ध्येय और मनुष्य का व्यक्तिगत ध्येय एक ही हैं अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ जीवन का साक्षात्कार करना और व्यक्तियों की बौद्धिक आध्यात्मिक उन्नति करना। इस प्रकार की उन्नति व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा ही हो सकती है। आचारिक उन्नति के लिये व्यक्तिगत प्रयत्न अनिवार्य है। अतः अंग्रेज आदर्शवादियों का विश्वास है कि मनुष्यों को व्यक्तिगत कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राज्य• मनुष्य की व्यक्तिगत बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति में कोई सहायता नहीं दे सकता। अतः राज्य का कार्य नकारात्मक होना चाहिये। राज्य का कर्तव्य मनुष्य को श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने का अवसर दे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। इस प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति में जो बातें बाधक हों उन्हें हटाना राज्य का कर्तव्य है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य श्रेष्ठ जीवन के लिये "विघ्नों का निरोध" (Hindrance of hindrances) अर्थात् कटण्कश्येधक है अथवा राज्य "सम्पूर्ण समन्वयों का समन्वय" (adjustment of all adjustments)* है। मनुष्यों की व्यक्तिगत आचारिक उन्नति किसी बाह्य सहायता द्वारा नहीं हो सकती, वह केवल व्यक्तिगत प्रयत्न से ही हो सकती है। मनुष्य को पुरस्कार का लालच देकर अथवा दण्ड का भय दिखा कर कदापि उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। राज्य कभी मनुष्य को उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य कोई यंत्र-कल नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में उन्नति करने की भावना नहीं होती है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि उन्नति करने का अवसर प्राप्त होने पर भी वे उन्नति नहीं कर सकते हैं। उदाहरणार्थ कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं कि उन्हें धन की कमी नहीं होती परन्तु तो भी वे उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार कुछ विद्यार्थी

---

* टी० एच० ग्रीन प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल औब्लीगेशन पृष्ठ ९।

ऐसे होते हैं कि वे विद्या प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु धन के अभाव तथा अन्य परिस्थितियों के कारण विद्या प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के विद्यार्थी होते हैं जो धन का अभाव होते हुए तथा प्रतिकूल परिस्थिति हाते होते हुए भी प्रयत्न करते हैं और उन्नति करने में सफल होते हैं। अतः राज्य मनुष्यों को उन्नति करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता वह केवल प्रतिकूल परिस्थितियों के निवारण करने का प्रयत्न कर सकता है। राज्य का कर्तव्य इस प्रकार की परिस्थितियों का निरोध करना होना चाहिये। टी० एच० ग्रीन का कथन है कि 'विधान केवल कुछ कार्यों को करने अथवा न करने के लिये आदेश दे सकता है, वह (मनुष्य के) उद्देश्यों (motives) पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। विधान का कर्तव्य होना चाहिये केवल ऐसे कार्यों को करने अथवा न करने का आदेश जिनका उद्देश्य समाज की नैतिक उन्नति करना हो।" अतः ग्रीन का यह विश्वास है कि अधिक विधान प्रचलित नहीं करने चाहिये, क्यों कि 'अधिक विधान-निर्माण धर्म, आत्म-सम्मान तथा कौटुम्बिक भावना का ह्रास करता है'। ग्रीन का मत है कि राज्य को अनिवार्य शिक्षा की योजना आरम्भ करनी चाहिये, मदिरा के क्रय विक्रय का नियमन करना चाहिए, भूमि पर अधिकार बढ़ाना चाहिए और जहाँ दो असमान दलों में अनुचित अनुबन्ध स्थापित हो वहाँ राज्य को ऐसे अनुबन्धों को स्थापित करने की स्वतन्त्रता में निरोध करना चाहिए। मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन में निरक्षरता तथा मदिरा-विक्रय बाधक होते हैं। अतः राज्य को अनिवार्य शिक्षा की ऐसी योजना बनानी चाहिये कि सब लोग साक्षर हो जायें और मदिरा-विक्रय को कम करन के लिए विधान बनाने चाहिये।

जो लोग आदर्शवाद के विरोधी हैं उनका मत है कि लोगों की भलाई धर्मप्रचार तथा नैतिक उन्नति द्वारा हो सकती है परन्तु राज्य विधान द्वारा ये कार्य नहीं कर सकता। भय और नैतिकिता असंगत भावनायें हैं लोगों को इन गुणों के प्राप्त कराने के लिए विधान द्वारा बाध्य नहीं किया जा सकता। हाँ ये अवश्य हो सकता है कि राज्य आर्थिक व्यवस्था का नियमन करने के लिए तथा सामाजिक अवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए विधान बनाये जिस से जन साधारण की उन्नति हो। इसके उत्तर में आदर्शवादी बोसांके का कथन है कि आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति का मनुष्य की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ एक अच्छे घर में रहने वाले लोगों के अच्छे आचरण होंगे, नीतिपूर्ण जीवन होगा, तथा अच्छे विचार होंगे। अतः सांसारिक उन्नति वाह्य विधानों द्वारा सम्भव हो सकती

हैं परन्तु बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आन्तरिक प्रयत्न की आवश्यकता है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि मनुष्यों को व्यक्तिगत नैतिक उन्नति में जितनी बाधाएँ उपस्थित हों उन सब का वह निवारण करे।

आलोचना—आदर्शवादी विधान तथा नैतिकता की असमानता को बहुत बढ़ाकर वर्णन करते हैं। यद्यपि नैतिकता विधान के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं है तथापि नैतिक कर्तव्य विधान के अन्तर्गत अवश्य हैं इस बात का अनुभव आदर्शवादियों को नहीं होता है। उदाहरणार्थ दण्डविधान का नैतिक प्रभाव एक विस्तृत क्षेत्र पर होता है। सब सभ्यराष्ट्र पशुओं के प्रति की जानेवाली निर्दयता का निषेध करते हैं। पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना अन्याय है, अतः यह राज्य द्वारा दण्डित निश्चय किया गया है। इस प्रकार राज्य प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक विधान द्वारा बलपूर्वक पशुओं के प्रति निर्दयता को रोकता है और मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिये इस प्रकार के विध्यात्मक विधान (Positive Laws) बना सकता है। साथ ही साथ नैतिकता सम्बन्धी ऐसे भी बहुत से नियम हो सकते हैं जिनकी जनता द्वारा उपेक्षा हो सकती है।

श्रेष्ठ जीवन के लिये "विघ्नों का निरोध" (Hindrance of hindrances) करना चाहिये' यह मत आदर्शवादियों का है। यह बात साधारण शब्दों में इस प्रकार भी प्रकट की जा सकती है। राज्य को मनुष्यों की उन्नति में बाधा डालने वाली बातों का निवारण करना चाहिए। आधुनिक काल में शिक्षा एक बड़ी आवश्यक बात है। प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि राज्य में शिक्षा का प्रचार किया जाय। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की सब राष्ट्रों में आवश्यकता है। यदि यह कहा जाय कि निरक्षरता मनुष्यों की उन्नति में एक "विघ्न" है तो निशुल्क अनिवार्य शिक्षा ग्रीन के मतानुसार एक दूसरा "विघ्न" अथवा निरोध है। यह बात हमारी समझ में नहीं आती। आदर्शवादी नकारात्मक विधानों पर जोर देते हैं। हमारा विचार है कि मनुष्य समाज की सब प्रकार की उन्नति के लिये नकारात्मक (negative) और विध्यात्मक (positive) दोनों प्रकार के विधानों को आवश्यकता है, केवल नकारात्मक विधानों द्वारा ही जन-साधारण का कल्याण नहीं हो सकता। ग्रीन और बोसांके का यह मत है कि विध्यात्मक विधानों से स्वायत्तता (automatism) आती है और आचरण का ह्रास होता है, बिलकुल निर्मूल है और युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। राज्य का कार्य-क्षेत्र संबंधी यह सिद्धान्त कि मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन के विघ्नों

का राज्य को निरोध करना चाहिये, एक बड़ा भयानक सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसका प्रयोजन यह हुआ कि राज्य स्वतंत्रतापूर्वक मनुष्यों को व्यक्तिगत उन्नति करने दे और यह देखता रहे कि कहाँ-कहाँ इस उन्नति में बाधा आती हैं। जहाँ-जहाँ इस प्रकार की बाधा दिखाई पड़े वहाँ-वहाँ राज्य उसका निवारण कर दे और फिर पृथक् बैठकर यही देखता रहे। बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जिन्हें किसी प्रकार के कार्य में रुचि नहीं होती, वे केवल पड़े रहना अथवा बेकार बैठ कर खाना ही अधिक रुचिकर समझते हैं। ऐसे राज्य में, जैसा कि ग्रीन तथा बोसां के बतलाते हैं, आलसी पुरुषों को तो बड़ा आनन्द प्राप्त होगा। ऐसे आलसी मनुष्यों का अन्य लोग अनुकरण करेंगे और समाज में अकर्मण्यता का दोष फैलेगा।

आदर्शवादी मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति पर बड़ा जोर देते हैं और स्वतन्त्र इच्छा की स्वायत्तता को ही सर्वस्व समझते हैं। वे मनुष्य जीवन की भौतिक प्रगति की उपेक्षा करते हैं। उनका यह विचार केवल कल्पनामात्र है, क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी भौतिक साधनों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी भौतिक उन्नति के लिये आध्यात्मिक साधनों की। मनुष्य का जीवन भौतिक है, उसका भौतिक साधनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य का शरीर भौतिक तत्वों से बना हुआ है मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये शरीर की उन्नति करनी पड़ेगी। शरीर को स्वच्छ तथा स्वस्थ रखना पड़ेगा तभी मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति कर सकेगा। इसलिये आध्यात्मिक उन्नति के आधार पर ही सर्वाङ्गीण उन्नति संभव नहीं हो सकती। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। अतः राज्य को ऐसे विधान बनाने चाहिये जिससे दोनों प्रकार की उन्नति हो सके।

आदर्शवादियों का यह सूत्र "विघ्नों का विरोध" (Hindrance of hindrances) इतना अनिश्चित तथा अस्पष्ट है कि व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनों अपने अपने राज्य के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की पुष्टि में इसका प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु आदर्शवादी के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस सिद्धान्त के अनुयायियों का यह मत कि राज्य को मनुष्यों के स्वतन्त्रता पूर्वक किये जाने वाले नैतिक कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, ठीक है।

(४) **गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्त**—गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्त में आदर्शवाद, समाजवाद और व्यक्तिवाद के सिद्धान्त सम्मिलित हैं। गान्धीजी

का मत है कि मनुष्य को आर्थिक जीवन में अहिंसा का प्रयोग करना चाहिये। उनका विचार है कि यांत्रिकशक्ति द्वारा वस्तुओं का उत्पादन करने के कारण मनुष्य के जीवन पर बड़ा दूषित प्रभाव पड़ा है। इससे मनुष्य का भौतिक जीवन बड़ा निकृष्ट हो गया है। इसी के कारण पिछड़े हुए देशों पर आक्रमण करके उन्हें दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया गया है। इन विजित देशों से कच्चा माल ले जाकर यंत्र कलों द्वारा भांति भांति की वस्तुएँ बनाकर विजयी देश विजित देशों को भेजकर मनमाना लाभ उठाते हैं और इनका शोषण करते हैं। इसी कारण साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण किया जाता है। इसी नीति का परिणाम है कि सैनिकवाद स्थापित होता जा रहा है और युद्ध होते हैं। पूंजीपति भौतिक उन्नति पर अधिक जोर देते हैं क्योंकि उनके स्वार्थ की सिद्धि इसी से होती है। इसके विपरीत गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्त मानवदयावाद और सांस्कृतिक उन्नति को अधिक महत्वपूर्ण समझता है। गांधीवाद में सब प्रकार शोषण का विरोध किया गया है। राज्यों को एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिये, एक जाति को दूसरी जाति का शोषण नहीं करना चाहिये और मनुष्यों को परस्पर एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिये। सब प्रकार के उत्पादन में मनुष्यों को स्वतन्त्रता होनी चाहिये। उत्पादन में मनुष्यों को व्यक्तिगत भावनाओं, प्रेरणाशक्ति तथा मौलिकता पर ध्यान देना चाहिये। मनुष्य को एक उचित सीमा के अन्तर्गत विचारों को प्रकट करने और कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। गान्धीवाद के मूल तत्व हैं आत्मनिर्भरता, उत्पादन का विकेन्द्रीयकरण, और न्यायसंगत वितरण। गान्धी जी का मत है कि बड़े बड़े विभागों का प्रबन्ध शासन अपने हाथ में रखे। जैसे रेल, डांक, तार, सिंचाई तथा वृहत् रूप के उद्योग धंधे राज्य के अधिकार में होने चाहिये और छोटे छोटे विभागों तथा उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण कर देना चाहिये। मनुष्यों से नकद कर न लेकर वस्तुओं के रूप में लिया जाय। स्थानीय उत्पादित वस्तुओं को उन्हीं स्थानों में खपाया जाय। स्थानीय करों को उन्हीं स्थानों में अधिकतर व्यय किया जाय, केवल वही वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगाई जायें जिनका उत्पादन स्वदेश की आवश्यकता से अधिक हो। जो वस्तुएँ मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये लाभदायक हैं उन्हें कदापि विदेशों को न भेजा जाय। देश के हित की वस्तुओं को भी विदेश न भेजा जाय। विदेशी वस्तुएँ न्यून से न्यून अपने अपने देश में मँगाई जायँ। देश का धन बिदेश को न जाने पाये। तभी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। लोगों के धनी और दरिद्र के भेद को मिटाया

जाय, ऊँच, नीच का भेदभाव मिटाया जाय, दलित जाति और उच्च जाति का वर्गीकरण नष्ट किया जाय, धार्मिक द्वेष का अन्त किया जाय और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये राज्य विधान बनाये। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये राज्य को प्रयत्न करना चाहिये।

राज्य का कार्य क्षेत्र इतना विस्तृत हो जाने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धान्त पूर्णरूप से समाजवादी है। ऊपर लिखी बातों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस गान्धीवाद में व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा आदर्शवाद का सम्मिश्रण है।

(५) **सार्वजनिक हित**—भिन्न भिन्न कालों में लोगों ने राज्य के कार्य क्षेत्र के विषय में भिन्न भिन्न सिद्धान्त उपस्थित किये और उनको कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न भी किया गया परन्तु आधुनिक काल में लोग किसी विशेष सिद्धान्त पर जोर न देकर राज्य के कार्य क्षेत्र का आधार केवल सार्वजनिक हित बतलाते हैं। लोगों का अब यह विचार है कि राज्य का कार्य क्षेत्र होना चाहिये मनुष्य मात्र का हित और कल्याण। राज्य को वही कार्य करने चाहिये और वही विधान बनाने चाहिये जिनसे जनसाधारण की सब प्रकार की उन्नति हो। सार्वजनिक हित के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्यों को प्रत्येक कार्य करने के लिये पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय न यह ही आवश्यक है कि ऐसे विधान बना दिये जायें कि मनुष्यों के प्रत्येक व्यक्तिगत कार्य विधानों के अन्तर्गत हो जायँ। देश और काल का ध्यान रखते हुए तथा परिस्थितियों पर विचार करते हुए राज्य को ऐसे विधान बनाने चाहिये जिन के द्वारा मनुष्यों की शारीरिक बौद्धिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति हो। इस प्रकार के विधान बनाये जायें जिन से मनुष्य के जीवन का ऐसा कोई पार्श्व न छूट जाय जिसकी उन्नति की उपेक्षा हो जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राज्य को चाहे ऊपर लिखे हुए एक अथवा अनेक सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़े परन्तु विधान अवश्य ऐसे बनाये जायें जो वास्तव में इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आदर्श रूप हों।

सार्वजनिक हित को मूल आधार समझते हुए गार्नर लिखता है कि राज्य का कार्य क्षेत्र केवल पुलिस कार्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। नागरिकों को एक दूसरे को लूटने तथा एक दूसरे की हत्या करनें से रोकने के अतिरिक्त राज्य को अपने नागरिकों के लिये कुछ अन्य कार्य भी करना चाहिये। राज्य को राष्ट्रीय जीवन को श्रेष्ठतम बनाने, राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि करने, और

राष्ट्र की बौद्धिक तथा नैतिक उन्नति करने में सहायता करनी चाहिये। राज्य को साहित्य, कला-कौशल तथा विज्ञान को प्रोत्साहन देना चाहिये। राज्य को राष्ट्र की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का साधन बनना चाहिये। राज्य को निजी एकाधिकार के दोषों से समाज की रक्षा करने के लिये हस्तक्षेप करना चाहिये। साधारणतया अनुमान यही है कि राज्य अधिक हस्तक्षेप न करे। स्वतन्त्रता नियम होना चाहिये और हस्तक्षेप अपवाद। साधारणतया राज्य को समाज के लिये वे कार्य नहीं करने चाहिये जिन्हें लोग स्वयं उतनी ही अच्छी तरह अथवा उससे अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। राज्य को तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब यह विश्वास हो कि राज्य के हस्तक्षेप करने से जनता की अधिक भलाई होगी। यद्भाव्यं की नीति (Policy of laisses faire) आधुनिक काल में असंभव प्रतीत होती है। मनुष्य के सब संवासों का उद्देश्य स्वतन्त्रता नहीं है, यह तो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को परिपूर्ण करने का केवल साधनमात्र है।

मैकईवर (Mac Iver) के मतानुसार राज्य का कार्य क्षेत्र कुछ और ही है। मैकईवर के विचारों में बहुवाद की झलक है। उसका मत है कि राज्य का कार्यक्षेत्र इस बात से निर्धारित करना चाहिये कि राष्ट्र के एक अवयव की हैसियत से राज्य का कार्य करता है (बहुलवादियों का यह मत है कि राज्य में जिस प्रकार अन्य संवास हैं उसी प्रकार से यह भी एक संवास है, प्रत्येक संवास अपना अपना कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक करता है)। उसका यह विचार है कि राज्य का कार्य अन्य संवासों अथवा संगठनों में हस्तक्षेप किये बिना जो कार्य राज्य कर सकता है वे ही सब कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। सर्वसाधारण के हित का ध्यान इसमें आवश्यक है। मैकईश्वर का मत है कि राज्य के नकारात्मक और विध्यात्मक कार्य व्यवस्था स्थापित करना तथा व्यक्तित्व का आदर करना है। "पहली बात तो यह है कि राज्य को राय का नियंत्रण नहीं करना चाहिये, चाहे वह कैसी ही राय हो।" इस नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं—

(१) राज्य के विधानों को तोड़ने के लिये उत्तेजना पर अथवा राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने पर राज्य को हस्तक्षेप करना उचित है। नागरिक समुचित रीति से राज्य के वर्तमान विधानों की आलोचना कर सकते हैं, वे लोगों से शान्तिपूर्वक प्रार्थना करके उन्हें शासन के दोषों का विश्वास दिलाकर विधानों में इच्छित परिवर्तनों के लिये वैधानिक रीति से प्रयत्न कर सकते हैं। विधान का

तोड़ना किसी प्रकार सह्य नहीं है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि प्रत्येक अवज्ञा के प्रचार करने वाले को राज्य दंड दे।

(२) यह नियम उस साहित्य के लिये भी लागू है जो इस प्रकार राज्य के विधान की अवज्ञा करने का प्रयत्न करे, अथवा राज्य द्वारा वर्जित अनैतिक कार्यों का प्रचार करे। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि उत्तेजना प्रत्यक्ष हो, रचनात्मक न हो।

(३) विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि निन्दात्मक और मानहानि करने वाले विचार प्रकट किये जायें अथवा ऐसे विषय पर आलोचना प्रकाशित की जाय जो न्यायाधीश के विचाराधीन हो।

आदर्शवादियों के समान, मैकईवर का भी विचार है कि नैतिकता की आन्तरिक अनुज्ञप्ति को राजनैतिक विधान से पृथक् करना आवश्यक है। विधान नैतिकता निर्धारित नहीं कर सकता है। विधान केवल बाह्य कार्यों को निर्धारित कर सकता है। विधान को केवल वही कार्य निर्धारित करने चाहिये जो सर्वसाधारण के हित के लिये आवश्यक हों और जिनसे लोगों की शारीरिक, नैतिक तथा सामाजिक उन्नति हो। नैतिक कर्तव्यों को वैधानिक कर्तव्यों में परिवर्तन करने का परिणाम नैतिकता का ह्रास करना होगा। विधान नैतिकता से भिन्न है। राजनैतिक विधान के प्रति एक नागरिक का नैतिक उत्तरदायित्व है। राजनैतिक विधान की आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। मैकईवर का कथन है कि "वास्तव में हम विधान का पालन इसलिये नहीं करते कि वह उचित है बल्कि इसलिये पालन करते हैं कि हम उसका पालन करना उचित समझते हैं। यदि ऐसा न हो तो एक अल्पमत समुदाय की आज्ञा पालन करना विवशता हो जायगा और इतने झगड़े उठ खड़े होंगे कि राज्य-प्रबन्ध करना कठिन हो जायेगा। राजनैतिक कर्तव्य पालन का आधार यह है कि सर्वसाधारण का यह स्वीकृत विचार है कि विधान और शासन विश्व-व्यापी संस्थायें हैं। इसी कारण हम विशिष्ट विधानों को अमान्य समझते हुए भी स्वीकृत कर लेते हैं। जब नैतिकता बलपूर्वक विधान द्वारा लागू नहीं की जा सकती है तो धर्म भी विधान द्वारा बलपूर्वक नहीं फैलाया जा सकता। जब ईसाई धर्म के पादरी ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिये लोगों को नहीं फुसला सकते तो उन्हें राज्य से भी यह प्रार्थना नहीं करनी चाहिये कि ईसाई धर्म का विधान द्वारा प्रचार किया जाय। ऐसा करने का अर्थ यह है कि ईसाई पादरियों का अपनी नैतिक शक्ति में विश्वास नहीं है। राज्य विधानों द्वारा समाज के प्रचलित रीति-रिवाजों को भी नष्ट नहीं कर सकता

है। मैकईवर का कथन है कि "जब रीतिरिवाज पर विधान का आक्रमण होता है तो रीतिरिवाज भी आक्रमण करता है। रीतिरिवाजों का आक्रमण केवल उसी एक विधान पर नहीं होता जिसने रीतिरिवाज का विरोध किया था बल्कि विधान पालन की अन्तरात्मा अर्थात् जनसम्मति पर होता है। भयानक रीतिरिवाजों को विधानों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। परन्तु समाज की प्रमुख रीतिरिवाजों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता यह ऐसे अपवादों से ही सिद्ध है। इसी प्रकार राज्य विधानों द्वारा लोगों की संस्कृति पर भी आघात नहीं कर सकता।

जिस प्रकार राज्य का पूर्ण अधिकार उन सब संवासों पर होता है जो राज्य के अन्तर्गत होते हैं उसी प्रकार राज्य के लोगों के ऊपर भी राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। राज्य का अधिकार है युद्ध और संधि करना। राजनैतिक झगड़ों का निर्णय राज्य बलपूर्वक कर सकता है। राजनैतिक विषय राज्य के लिये सर्वोपरि है। युद्ध के समय राज्य जिस प्रकार चाहे राज्य के अन्तर्गत धन, जन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है। परन्तु मैकईवर का मत है कि राज्य की यह शक्ति भी सीमित होनी चाहिये।

अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्रवेत्ता प्रोफेसर रौस (Professor Ross) ने सामाजिक आचार के दृष्टिकोण से सामाजिक नियंत्रण के विषय पर इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं "प्रत्येक सामाजिक हस्तक्षेप की वृद्धि से समाज का उससे अधिक हित होना चाहिये जितनी कि हस्तक्षेप से समाज को हानि होनी है। समाजिक हस्तक्षेप ऐसा न हो कि जिससे उस हस्तक्षेप के विरुद्ध उत्तेजना फैले और उससे छुटकारा पाने की इच्छा प्रबल व्यक्तियों के जीवन में हाथ डालते समय समाज को चाहिये कि उनकी भावनाओं का आदर करे क्योंकि इन्हीं भावनाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था स्वाभाविक रूप से स्थापित रहती है। सामाजिक हस्तक्षेप ऐसा पिता पुत्र जैसा हस्तक्षेप न हो कि जिससे दुराचारियों का नाश रुक जाय। सामाजिक हस्तक्षेप इतना भी न हो कि जीवन-संघर्ष को इतना परिमित कर दे कि प्रकृति के अनुसार जिन्हें बिगड़ना या बनना आवश्यक है उसके विपरीत कार्य होने लगे अर्थात् निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों को लाभ पहुँचे और योग्य व्यक्तियों को हानि *।"

---

* जे० फोर्ड–सोशल प्राब्लम्स ऐण्ड सोशल पालिसी पृष्ठ २४६।

६—**शासन के कार्यों का वर्गीकरण**—शासन के कार्य दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं एक वास्तविक दूसरे वैकल्पिक । वैकल्पिक कार्य वे कार्य हैं जो राज्य के स्थायित्व के लिये आवश्यक हैं और जिनमें व्यक्ति की नागरिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा होती है, उसके जीवन संपत्ति तथा स्वतन्त्रता की पारस्परिक अत्याचारों से रक्षा होती है । इन कार्यों का रूप तीन-प्रकार के सम्बन्धों से निर्णीत होता है पारस्परिक राज्य-राज्य-सम्बन्धी, राज्य-नागरिक संबंधी तथा नागरिक-नागरिक सबंधी । वुडरो बिलसन (Woodrow Wilson) ने राज्य के वास्तविक कार्य निम्नलिखित बतलाये हैं—

(१) व्यवस्था बनाये रखना तथा तन और धन की हिंसा और लूट से रक्षा का प्रबन्ध करना ।
(२) पति-पत्नी के बीच तथा माता-पिता और पुत्र-पुत्रियों के बीच वैधानिक सम्बन्ध निश्चित करना ।
(३) सम्पत्ति पर अधिकार, उसके आदान तथा परिवर्तन का नियमन न करना और ऋण अथवा अपराध सम्बन्धी दायित्व का निर्णय करना ।
(४) व्यक्तियों के बीच अनुबंधी अधिकारों को निर्धारित करना ।
(५) अपराधों की परिभाषा और दंड ।
(६) अर्थविधानिकवाद (मुकद्दमे) का न्याय परिपालन ।
(७) नागरिकों के संबंधों, अधिकारों तथा राजनैनिक कर्तव्यों को निर्धारित करना ।
(८) राज्य का विदेशी राज्यों से सम्बन्ध, राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा, तथा आन्तरिक राष्ट्रीय हितों को प्रगति करना ।

गैटिल ऊपर लिखे वर्गीकरण का अनुमोदन करता है परन्तु वह शासन को दो अन्य भागों में विभाजित करता है । उसके मतानुसार शासन के दो भाग, आर्थिक और सैनिक हैं । इन्हीं पर विशेष ध्यान देना उचित है । आर्थिक कार्यों में वह कर लगाना आयात निर्यात-कर, मदिरा, मुद्रा, चलार्थ तथा सार्वजनिक सम्पत्ति का नियमन युद्धसामग्री, सरकारी ऋण का प्रबंध आदि को सम्मिलित करता है । सैनिक कार्यों में वह जल, थल तथा वायुसेना का रखना बतलाता है । गैटिल का कथन है कि "साधारणतया स्थल और जल दोनों प्रकार की सेनाएँ युद्ध की प्रत्यक्ष चुनौती देने की अपेक्षा शान्ति का आधार समझी जाती हैं । स्थल सेना देश के भीतर शान्ति रखने में सहायता

करती है और जल सेना व्यापार और उपनिवेशों की रक्षा करती है *"। सब बड़े बड़े राज्यों में राष्ट्र की आय का बहुत बड़ा भाग स्थल तथा जल सेना पर व्यय किया जाता है।" यहाँ तक कि अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी जहाँ युद्ध की संभावना अन्य देशों की अपेक्षा अति न्यून है, संघ सरकार की आय का तीन चौथाई व्यय स्थल, जलसेना तथा अवसर वृत्ति (Pensions) पर होता है"†।

वैकल्पिक कार्य वे कार्य हैं जो राज्य के अस्तित्व अथवा वैयक्तिक सुरक्षा और स्वन्त्रता के लिये इतने आवश्यक नहीं हैं परन्तु जनसाधारण के हित के लिये उपयोगी हैं। वैकल्पिक कार्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है एक समाजवादात्मक, दूसरे असमाजवादात्मक। समाजवादात्मक कार्य वे कार्य हैं जिन्हें निजी संस्थाओं के हाथ में शासन दे सकता है परन्तु बहुत से निजी अधिकार के दोषों को दूर रखने तथा उन्हें सामूहिक रूप में अधिक उत्तमता से चलाने के योग्य होने के कारण शासन उनके करने का भार अपने ऊपर ले लेता है। असमाजवादात्मक कार्य वे हैं जिन्हें यदि शासन न करे तो कोई व्यक्ति स्वयं उन्हें करने को तैयार न होगा।

वुडरो विलसन ने निम्नलिखित वैकल्पिक कार्य बतलाये हैं:—

(१) व्यापार तथा उद्योग धंधों का नियमन करना।

(२) श्रम का नियमन करना।

(३) सर्वसाधारण मार्गों का प्रबंध।

(४) डाक, तार का प्रबंध।

(५) गैस का उत्पादन तथा वितरण। जल-कल का प्रबंध।

(६) स्वच्छता तथा स्वच्छता संबंधी व्यापार का नियमन।

(७) शिक्षा।

(८) दरिद्र तथा अयोग्य व्यक्तियों की देख रेख।

(९) वनों का संबंधन तथा नदियों में मत्स्यसंचय।

(१०) व्यय संबंधी विधान जैसे मद्य-निषेध-विधान।‡

---

* आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४००।४०१।

† आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४०१।

‡ आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिकल साइंस पृष्ठ ४३३।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये:—

डब्ल्यू विलसन—स्टेट

ऐच० सिजविक—ऐलीमैन्ट्स आफ पौलिटिक्स

आर० ऐम०—माडर्न स्टेट

ऐस० लीकाक—ऐलीमैंट्स आफ पौलीटिकल साइंस

आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिकल साइंस

आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस

जे० डब्ल्यू० गार्नर— पौलीटिकल साइंस ऐण्ड गवर्नमैंट

वी० बोसांके—फिलासाफिकल थ्योरी आफ दी स्टेट

महाभारत—शान्तिपर्व

शुक्राचार्य—शुक्र नीतिसार

अध्याय ८

सामाजिक-अनुबन्ध सिद्धान्त

पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ता सामाजिक-अनुबंध-सिद्धान्त के विचारों का आरम्भ यूनान से चित्रित करते हैं। पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओं का यह विचार मिथ्या है। सामाजिक-अनुबन्ध सिद्धान्त का वर्णन हमारी प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलता है। महाभारत के समय को अब से लगभग पाँच सहस्र वर्ष हो गये हैं। महाभारत में सामाजिक-अनुबन्ध का वर्णन आया है। शांति पर्व के ६७ वें अध्याय में लिखा है कि पहले राजा न था। मनुष्य अराजक अवस्था में थे। अराजक राज्य की प्रजा वैसे ही नष्ट हुई जैसे जल में बड़ी मछली छोटी को खा जाती है। जब इस प्रकार लोगों का नाश होने लगा, तब सबने मिलकर निश्चय किया कि हम लोगों में जो कटुभाषी, उद्दण्ड परस्त्रीगामी और परधनहारी होगा, वह त्याज्य अथवा बहिष्कृत समझा जायगा। इस प्रकार सब वर्णों में विश्वास स्थापन करने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न रहने से हमारा दुःख बढ़ रहा है, इसलिये आप हमें राजा दीजिये, जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करे। इस पर उन्होंने मनु को आज्ञा दी और सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूं और राज कार्य बड़ा कठिन है, विशेष कर ऐसे मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं। प्रजा ने उनसे कहा कि आप न डरिये। पापाचरण करने वाला ही उसका फल भोगेगा। हम लोग आपकी कोशवृद्धि के लिए आपको अपने पशुओं और सुवर्ण का पचासवां भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे। जिस कन्या का सबसे अधिक यौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरी से आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनों पर चढ़े हुए शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेगें। जैसे कुबेर यक्षों की रक्षा करते हैं, वैसे ही बली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें। राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी, उसका चतुर्थांश फल आपको

मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप हम लोगों की रक्षा करें, जैसे इंद्र देवताओं की रक्षा करते हैं। आप सूर्य की भांति शत्रुओं को तपाते हुए विजय के निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओं का अभिमान नष्ट कीजिये। आपकी सदा जय हो *।

---

* अराजकाः प्रजा पूर्वं विनेशुरिति न श्रुतम्।
परस्परे भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥१७॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्ड परुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ॥१८॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ॥१९॥
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्त्ताः पितामहम् ॥२०॥
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ॥२१॥
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः।
मनुरुवाच।
बिभाम कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥२२॥
भीष्म उवाच।
तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति।
पशूनामधि पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥२३॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम्।
कान्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥२४॥
मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥२५॥
सत्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥२६॥
यञ्च धर्म्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्म्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥२७॥
तेन धर्म्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥२८॥

इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि मात्स्यन्याय से दुःखी होकर लोगों ने राज्य की खोज की। आपस के व्यवहार के लिये नियम तो उन्होंने बना लिये थे, परन्तु लोगों को नियम पालन करने के लिए बाध्य करने वाले नियामक के अभाव में इनसे लाभ नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने ब्रह्मा से परामर्श किया कि हमें कोई राजा होने योग्य मनुष्य बताइये। ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी कि तुम राजा बन जाओ। मनु ने जब इनकार किया, तब प्रजा ने कहा कि आप हमारे योगक्षेम वाहक बनिये। इसके बदले में हम आपको अपने पशुओं और धान्य का दशमांश देंगे। इस समय राज और प्रजा के कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख हुआ। राजा प्रजा की रक्षा करे और इसके बदले में प्रजा उसे कर दिया करे। राजा का कार्य हुआ प्रजा की रक्षा करना और प्रजा का कार्य हुआ इसके लिए कर रूप में उसे वेतन देना। परन्तु कौटिल्य ने मनु के निर्वाचन के विषय में ब्रह्मा को बीच में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि जब प्रजा मात्स्यन्याय से अभिभूत थी, तब उसने वैवस्वत मनु को राजा बनाया और उसके लिए अन्न का छठा तथा पण्य और सोने का दसवाँ भाग कर रूप में देने की व्यवस्था की। इसके बदले वे प्रजा के योगक्षेमवाहक और सुप्रयुक्त दण्ड के अभाव में पापों के लिए उत्तरदाता बने*।

इसके पश्चात् हमको यूनान में सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त के विचारों का पता चलता है। यूनान में इस विचार के प्रवर्त्तक सोफी लोग (Sophists) थे। सोफी लोगों का मत है कि 'नागरिक समाज' (Civil Society) की स्थापना एक अनुबन्ध द्वारा हुई है। प्लैटो और अरस्तू ने भी इस अनुबन्ध का वर्णन अपने लेखों में किया है। उन्होंने इस सिद्धान्त का विरोध किया है। रोमन राजनैतिक दार्शनिकों की पुस्तकों में हमें कहीं भी इस सिद्धान्त का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु इतना अवश्य है कि ये लोग अपनी वैधानिक पद्धति का आधार स्वाभाविक विधान (Natural Law) को मानते हैं। मध्यकालीन यूरुप में सामन्त प्रणाली (Feudal System)

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तुतव सर्वदा ॥२६॥ शां० प० अ० ६७

* मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजनं चक्रिरे ॥६॥
धान्य षड्भगं पण्य दशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥७॥
अर्थ शा० अधि० १ अ० १३।

एक अनुबन्ध के आधार पर स्थापित थी। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में स्वेच्छाचारवाद का विरोध करने के लिये सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। हॉब्ज, लॉक और रूसो ने इस सिद्धांत का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण किया अथवा यों कहना चाहिये कि वास्तव में सामाजिक अनुबन्ध के प्रवर्त्तक आजकल ये ही तीन समझे जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पहले राजनैतिक सिद्धान्त की स्थापना हुई, फिर राजनैतिक संस्थाओं की। अन्य कुछ लोगों का विचार इसके विपरीत यह है कि पहले राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना हुई, फिर राजनैतिक सिद्धान्तों की। जिन लोगों का यह विचार है कि पहले राजनैतिक सिद्धान्तों की स्थापना हुई फिर राजनैतिक संस्थाओं की, उनका यह मत है कि मनुष्यों में राजनैतिक चेतना हुई। उनमें राजनैतिक विचार विद्यमान थे। उन्हीं राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने अपनी राजनैतिक संस्थाएं स्थापित करलीं और वैसी ही शासन प्रणाली द्वारा राज्य कार्य का संचालन किया। कुछ लोगों का यह मत है कि पहले राजनैतिक संस्थाएँ स्थापित हुईं, उसके पश्चात् लोगों ने उन्हीं संस्थाओं की शासन प्रणालियों के अनुसार राजनैतिक सिद्धान्त बना लिये। हॉब्ज और लॉक उन राजनैतिक दार्शनिकों में से हैं जिनका यह मत है कि प्रचलित राजनैतिक धारणा एवं कल्पना के अनुसार उस समय की राजनैतिक संस्था का स्वरूप निर्धारित होता है। रूसो उन राजनैतिक दार्शनिकों में से है जिनका यह विचार है कि प्रचलित राजनैतिक संस्थाओं के अनुसार उस समय के राजनैतिक सिद्धान्त अपना स्वरूप धारण कर लेते हैं। हॉब्ज के समय में इंगलैंड में गृह-युद्ध (१६४१-४६) हुआ था। सन् १६५१ में उसने अपना ग्रंथ "लैवियैथन" (Leviathan) प्रकाशित किया था। गृह-युद्ध में जनता ने चार्ल्स प्रथम की हत्या कर डाली और बहुत से अत्याचार हुए। इन बातों का हॉब्ज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका यह विश्वास हो गया कि राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिये स्वेच्छाचारी शासन की आवश्यकता है। राज्य में शान्ति तभी स्थापित रह सकती है जब राज्यसत्ता एक दृढ़ स्वेच्छाचारी शासक के हाथ में हो। उसने राजकीय स्वेच्छाचारिता का समर्थन किया और अपने सिद्धान्त को न्याय द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। ईश्वरांश सिद्धान्त के अनुसार स्वेच्छाचारी राजा को प्रजा किसी दशा में भी स्वीकार करने को उद्यत न थी। अतः हॉब्ज ने सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का प्रयोग किया और इस सिद्धान्त के अनुसार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र न्याय से प्रमाणित और युक्तिसंगत सिद्ध किया। उसने यह कल्पना की कि

जिस समय समाज अराजक दशा में होगा उस समय ऐसी ही संकटमय दशा होगी जैसी गृह-युद्ध के समय में है। इसी कल्पना के आधार पर उसने अपने सामाजिक-अनुबंध सिद्धान्त को रूप दिया। लॉक के समय में स्तुअर्त-क्रान्ति (Glorious Revolution) हुई और सीमित-राजतन्त्र की स्थापना हुई। अतः लॉक ने अपना ग्रंथ "ट्रीटिजैज आन सिविल गवर्नमेंट (Treatises on Civil Government) लिखा जिसमें उसने ऐसी वैधानिक अथवा सीमित राजतन्त्र पद्धति का समर्थन किया जैसी उस समय इंगलैंड में स्थापित थी। जिस समय फ्रांस की राजनैतिक तथा सामाजिक अव्यवस्था पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी और पुनरुज्जीवन की अत्यन्त आवश्यकता थी उस समय रूसो का "सोशल कान्ट्रैक्ट" (Social Contract) प्रकाशित हुआ। उस समय फ्रांस की दशा बड़ी शोचनीय थी। स्वेच्छाचारी शासन था। शासन में भ्रष्टाचार फैला हुआ था। जनता की स्वतन्त्रता संकट में थी। शासन कठोर था न्याय का नाम न था। समाज में बड़ी भारी असमानता थी। धनी लोग सुखी थे। उन्हें राज्य कर भी अधिक नहीं देने पड़ते थे। समाज के छोटे तथा साधारण स्तर के लोगों पर राज्य-करों का संपूर्ण भार था उनकी दशा दासों की सी थी। ऐसी दशा का रूसो पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने यह कल्पना की कि एक ऐसे शासन की स्थापना की जाय जिसमें सर्व साधारण की इच्छा ही सर्वोच्चसत्ता हो। वही राष्ट्र के व्यक्तियों की रक्षा करे तथा जनमत का आदर करे राष्ट्र के सब मनुष्यों की संयुक्त इच्छा राज्य की संचालक हो और सब मनुष्य इस प्रकार शासक होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से पूर्ण स्वतन्त्र बने रहें। इस प्रकार उसने एक ऐसा सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त स्थापित किया जिसके द्वारा सर्वोच्चसत्ता संगठित रूप में सब मनुष्यों के हाथ में हो। इस सर्वोच्चसत्ता का नाम उसने "सर्वेच्छा" (General will) रखा है। सर्वेच्छा के शासन में सब मनुष्यों को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। इस सिद्धान्त का फ्रांस की राजनैतिक दशा पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

हॉब्ज, लॉक और रूसो का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त से घनिष्ट संबंध है। सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त को इन्हीं तीन राजशास्त्रवेत्ताओं ने मण्डित करके वर्तमान स्वरूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों ने यूरुप में बड़ी हलचल मचादी थी। नवीन सिद्धान्तों ने यूरोपीय रंगमंच पर अपना रूप प्रकट किया था। उसी समय इँगलैंड में हॉब्ज और लॉक ने तथा फ्रांस

में रूसो ने सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रचार किया था। इस सिद्धान्त का वर्णन करने से पूर्व हम तीनों राजशास्त्रवेत्ताओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(१) टामस हॉब्ज (१५८८ से १६७९ तक)—हॉब्ज चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक रह चुका था। सदाचार, दर्शन तथा विधान सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उसने लिखे थे। उसने अपने "लैवियाथन" (१६५१) नामक ग्रन्थ में सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त को बड़ा ही विचित्र रूप दिया। उसका विचार था कि स्वार्थ ही मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है। इन्द्रियों को शान्त तथा तृप्त करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। यदि वह दया दिखाता है तो इसीलिये कि लोग उसकी अपरिमित शक्ति तथा उदारता की प्रशंसा करें।। प्रशंसा रूपी स्वार्थ ही उसकी दया का मूल है। कभी कभी उसमें दया इस भय से भी उत्पन्न होती है कि "कदाचित इसी वेग का कष्ट मुझको भी किसी समय आ घेरे।" मनुष्य एक प्रकार का जीव है जो स्वार्थ के आधार पर सब कार्य करता है। इसलिये मात्स्य न्याय ही नैसर्गिक नियम है। मात्स्यन्याय से भयभीत होकर ही लोगों ने राजा की स्थापना की। राजा का लोगों के सामाजिक अनुबंध से कोई सरोकार न था जनता ने राजा की शरण में आकर अपने आपको पारस्परिक स्वार्थ के घातक प्रभावों से बचने के लिये अपने आपको समर्पित किया इसलिये यदि राजा कुछ अधिक अधिकारों को भी प्रयोग में लाता है तो वह ला सकता है। जनता के साथ उसने ऐसा न करने की प्रतिज्ञा नहीं की है। हॉब्ज ने इसी सिद्धान्त द्वारा स्तुअर्त राजाओं के स्वेच्छाचार को समर्थन किया।

(२) जॉन लॉक (१६३२ से १७०४ तक):—जॉन लॉक का मत हॉब्ज से सर्वथा भिन्न है। लॉक मात्स्यन्याय को नैसर्गिक नियम नहीं समझता था। उसका विचार था कि नैसर्गिक नियम इतने विलक्षण हैं कि उनका समझना अत्यन्त कठिन है। इसी कठिनाई से मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता छोड़नी पड़ी। लोगों ने जिसको राजा चुना, उसको नैसर्गिक नियमों को पालन करने के लिये भी बाधित किया। राजा उनके सामाजिक अनुबन्ध का अङ्ग था। यदि राजा उस अनुबन्ध को भङ्ग करे तो वह दंडनीय है। लॉक ने इस सिद्धान्त द्वारा परिमित एकतन्त्र राज्य को पुष्ट किया। सन् १६८८ की राज्य क्रान्ति में लॉक के सिद्धान्त ने बड़ा प्रभाव दिखाया।

(३) जीन जैक रूसो (१७१२ से १७७८ तक)—अठारहवीं शताब्दी में रूसो का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त अधिक प्रचलित था। उसने

सन् १७६२ में "सोशल कॉन्ट्रेक्ट" नामक ग्रंथ लिखा। उसमें उसने लिखा है कि आरंभ में जीवनोपयोगी वस्तुओं की अधिकता से लोग सुखी थे। ज्यों ज्यों जनसंख्या बढ़ी इन वस्तुओं की कमी होने लगी। लोगों में चोरी आदि की टेव पड़ गई। 'मेरे' 'तेरे' का ज्ञान होने लगा। लाचार होकर लोगों ने अपने अधिकारों को एक समिति को सौंप दिया। सरकार सामाजिक अनुबंध का अंग नहीं थी, वह तो केवल राज्य के रूप में संगठित समाज की ओर से काम करने वाली संस्था थी। अन्तिम निर्णय लोगों ने अपने ही हाथ में रखा। समिति के पास ही प्रभुत्व शक्ति थी। प्रतिनिधि को भी लोग अच्छा नहीं समझते थे। इस सिद्धान्त ने अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय जनता को राज्य-क्रान्ति करने के लिये उत्तेजित किया। राज्य तथा राष्ट्र में इसी सिद्धान्त द्वारा भेद स्थापित हुआ।

अब हम इन लेखकों के विचारों को क्रमशः निम्नलिखित शीर्षकों में वर्णन करेंगे—

(१) प्राकृतिक दशा तथा नैसर्गिक विधान।
(२) अनुबंध का लक्षण।
(३) सर्वोच्च सत्ता।
(४) राज्य तथा शासन का रूप।
(५) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकार सिद्धान्त।

(१) **प्राकृतिक दशा तथा नैसर्गिक विधान**—हॉब्ज का मत है कि जिस समय लोगों में राजनैतिक चेतना नहीं थी उस समय वे प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों की दशा बड़ी शोचनीय थी। लोगों में परस्पर युद्ध होता रहता था। मात्स्यन्याय प्रचलित था। बलवान दुर्बल को दुःख देता था। मनुष्य निरा स्वार्थी था। लोग एक दूसरे से भय मानते थे। दुर्बल मनुष्य बलवान से सदैव भयभीत रहता था और बलवान भी दुर्बल से भयभीत रहता था। बलवान का यह विचार था कि कोई भी व्यक्ति इतना निर्बल नहीं है कि उसका भय न माना जाय। उस समय लोगों में यह भावना थी कि "जिसकी चाहो हत्या कर डालो, जो चाहो सो छीन लो।" लोगों को किसी कार्य के करने से रोकने के लिये कोई शक्ति तथा कोई नियम वा विधान न था। उस समय लोगों का जीवन "अकेला दरिद्र, घृणित, पशुतुल्य तथा सूक्ष्म था" "प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु था"। "मनुष्य को आनन्द की कामना रहती है, अतः आनन्द के लिये मनुष्य को अन्य मनुष्यों पर अधिकार स्थापित करने की आवश्यकता होती है। मनुष्य एक दूसरे पर

अधिकार स्थापित नहीं कर सकता क्यों कि प्राकृतिक अवस्था में सब मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियां समान थीं। अतः मनुष्य सदैव एक दूसरे से भय मानते हैं" ऐसा विचार हॉब्ज का है।

लॉक का विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में लोगों में पारस्परिक युद्ध अथवा लड़ाई झगड़े नहीं होते थे। उस दशा को "प्राक्-राजनैतिक दशा (Pre-political State) कह सकते हैं परन्तु उसे प्राक्-सामाजिक दशा (Pre-social State) नहीं कह सकते। उस समय लोग शान्तिपूर्वक रहते थे, वे लोग एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते थे और भलाई करते थे, एक दूसरे की सहायता भी करते थे तथा एक दूसरे की रक्षा भी करते थे। उस समय लोग स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे दुश्चरित्र नहीं थे। लोगों की बहुत बड़ी संख्या नैतिक विधानों के अनुसार अर्थात् आन्तरिक नैतिकता के नियमों के अनुसार कार्य करती थी। कुछ थोड़े से मनुष्य ऐसे दुष्ट भी थे जो अपने व्यवहार से अन्य लोगों को कष्ट देते थे। ऐसी दशा में लोग अपनी इच्छानुसार सब बातों का निर्णय करते थे। न्याय लोगों की क्षणिक प्रेरणा पर निर्भर था। किसी निश्चित न्याय की योजना उस समय प्रयोग में नहीं लाई जाती थी। जन साधारण को इस प्रकार के नियमों से असुविधा होती थी और उन्हें कष्ट पहुँचता था। मनुष्य का व्यक्तिगत निर्णय सदैव उचित नहीं होता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में कोई निश्चित विधान अथवा न्यायाधीश न थे। व्यवस्था तथा न्याय की दशा अच्छी न थी। इस दोष को दूर करने के लिये लोगों ने प्राकृतिक अवस्था छोड़ कर नागरिक समाज स्थापित करने का निश्चय किया। ऐसा उन्होंने एक सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार किया।

रूसो ने अपने ग्रन्थ "डिस्कोर्स आन इनीक्वैलिटी" में मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण और ही प्रकार से किया है। उसका कथन है प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक "श्रेष्ठ जंगलीपुरुष" (noble savage) के समान था। उस अवस्था में मनुष्यों में समानता के भाव थे। वे आत्मावलम्बी थे और सन्तुष्ट थे। प्राचीनकाल में वे साधारण जीवन व्यतीत करते थे। धन-धान्य की कमी नहीं थी, जीवन सुखमय था। परन्तु जब से मनुष्यों में सभ्यता आने लगी तभी से उनका जीवन कलुषित होने लगा। सभ्यता आरम्भ होते ही मनुष्यों में असमानता आने लगी। लोगों में प्रेक्षा (reason) आते ही दोष आने लगे। 'मेरे' 'तेरे' का विचार आया। लोभ ने उनको घेरना आरम्भ किया वे वस्तुओं पर निजी अधिकार स्थापित कर उनका

संचय करने लगे। वस्तुओं में कमी होने लगी। लोगों में चोरी आदि के अवगुणों ने भी प्रवेश किया। कलाकौशल तथा विज्ञान की उन्नति होने लगी। लोगों ने निजी सम्पत्ति भी प्राप्त करली। श्रमविभाजन भी होने लगा। इन कारणों से नागरिक समाज स्थापित करने की आवश्कता हुई। इसलिये राज्य मानव प्रगति का प्रतीक नहीं अधोगति की पहिचान है। मनुष्यों में असमानता होने के कारण इसकी आवश्यकता हुई है। रूसो ने अपने ग्रंथ "सोशल कान्ट्रक्ट" में लिखा है कि प्राकृतिक अवस्था में रहने की अपेक्षा नागरिक अवस्था (civil state) में रहने में अधिक लाभ हैं। "सामाजिक अनुबंध द्वारा मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग करता है तथा जो वस्तुएँ उसे आकर्षित करती हैं और जिन्हें वह प्राप्त कर सकता है, उन सब वस्तुओं पर वह अपना असीमित अधिकार त्यागता है। इस (अनुबंध) से वह नागरिक स्वतन्त्रता तथा अधिकृत संपत्ति की निर्विघ्नता बदले में प्राप्त करता है। भ्रान्ति को दूर रखने के लिये हमको प्राकृतिक स्वतन्त्रता (जिसकी व्यक्तिगत शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई सीमा नहीं है) और नागरिक स्वतन्त्रता (जो जन सम्मति द्वारा सीमित है) का भेद तथा स्वत्वाधिकार (जो प्रथम अधिकारी की शक्ति के प्रयोग का परिणाम है) और सम्पत्ति (जो वास्तविक अधिकृति के आधार पर प्राप्त की जाय) का भेद भली प्रकार समझ लेना चाहिये।"*

प्राकृतिक अवस्था में लोग प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक विधान के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा मत तीनों लेखकों का है। हॉब्ज का विचार है कि "नैसर्गिक नियम हैं चातुर्य तथा स्वार्थसिद्धि" (prudence and expediency)। वह स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि मनुष्य की प्राकृतिक शक्ति ही अर्थात् उसका शारीरिक व बुद्धि-बल ही उसका नैसर्गिक अधिकार है। प्राकृतिक अवस्था में कर्तव्य अथवा नैतिकता के भाव का पूर्णरूप से ह्रास रहता है। जब तक लोग राजनैतिक अवस्था में नहीं आते तब तक जो कुछ वह करें वही नियम है। प्राकृतिक अवस्था में किया हुआ कोई कार्य न्याय रहित अथवा विधान के विरुद्ध नहीं समझा जा सकता। हाब्ज का मत है कि केवल अपने जीवन की रक्षा करना ही मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है। प्रथम नैसर्गिक विधान तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय शान्ति प्राप्त करना होना चाहिये। द्वितीय नैसर्गिक विधान यह है

---

* सोशल कांट्रैक्ट पुस्तक प्रथम, अध्याय ८।

कि जब अन्य लोग भी ऐसा करने को उद्यत हो जायँ तो मनुष्य को अपने नैसर्गिक अधिकारों को त्याग स्वीकार कर लेना चाहिये। तृतीय नैसर्गिक विधान यह है मनुष्यों को अपने अनुबन्धों को निभाना चाहिये। चतुर्थ विधान यह है कि उपकार के बदले में मनुष्य को उपकार करना चाहिये अथवा उपकार के बदले में कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये। हॉब्ज के अनुसार इन नियमों के बिना मनुष्य के किसी कार्य की सिद्धि भली प्रकार नहीं हो सकती। मानव-कर्म के लिये ये नियम नितान्त मौलिक हैं। लॉक का विचार है कि नैसर्गिक विधान तो नैतिक विधान है मानव-स्वार्थ सिद्धि के नियम नहीं और नैतिक विधान मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य की आत्मा जो निर्णय करे वही विधान है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में सब मनुष्य नैतिक बुद्धि के आदेशानुसार कार्य करते हैं किन्तु कुछ दुष्ट पुरुष समाज में ऐसे होते हैं जो दूसरों को दुःख देते हैं। एसी दशा में शान्तिप्रिय लोग विधान को अपने हाथ में ले लेते हैं। जनसाधारण को इससे असुविधा होती है क्योंकि उनकी कार्य स्वतंत्रता जाती रहती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य अपने कार्य के औचित्य-अनौचित्य के सम्बन्ध में ठीक निर्णय भी नहीं कर सकते। प्राकृतिक दशा में एक यही हानि है कि कोई लोक-स्वीकृत न्याय-पद्धति व विधान-पद्धति नहीं है। इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिये लोग अनुबन्ध द्वारा एक नागरिक समाज में प्रवेश करते हैं। रूसो के मतानुसार नैसर्गिक विधान मनुष्य के मनोभाव (emotion) स्वहित, तथा दया पर निर्भर है।

हाब्ज ने मनुष्य की प्राकृतिक दशा का बड़ा भयंकर चित्र हमारे सन्मुख उपस्थित किया है। रूसो ने "इनईक्वैलिटी" के निबन्ध में मनुष्यों की प्राकृतिक दशा का बड़ा सुन्दर तथा सुखमय चित्र खींचा है। लॉक के विचार माध्यमिक हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि हॉब्ज की प्राकृतिक दशा की असुविधायुक्त है तथा रूसो की बड़ी सुख, शान्तिमय है।

(२) **अनुबन्ध का लक्षण**—हाब्ज केवल एक अनुबन्ध स्थापित करता है वही मौलिक अनुबन्ध अथवा सामाजिक अनुबन्ध है। लॉक दो प्रकार के अनुबंधों का प्रतिपादन करता है, एक सामाजिक अनुबंध और दूसरा शासन संबंधी अनुबंध। रूसो भी केवल एक ही अनुबंध अर्थात् सामाजिक अनुबन्ध का प्रतिपादक है। हॉब्ज जिस अनुबन्ध को मानता है उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि वास्तव में शासन भी अनुबन्ध के रूप में उत्पन्न

होता है। उसका यह विचार है कि ऐतहासिक दृष्टि से इस प्रकार अनुबन्ध द्वारा शासन की स्थापना केवल कल्पनामात्र है। शासन-सत्ता से पृथक सामाजिक अनुबन्ध का प्रतिपादन करने में उसका अभिप्राय यह दिखलाने का था कि शासन का अवलम्ब केवल शक्ति ही नहीं है, बल्कि शासन का आधार लोगों की इच्छा है। लोगों की स्वतन्त्र इच्छा पर ही शासन निर्भर है। लॉक सामाजिक अनुबन्ध को ऐतिहासिक सत्य समझता है। उसका विचार है कि सामाजिक अनुबन्ध एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना है। एक समय इतिहास में ऐसा हुआ है जब कि लोगों ने मिलकर एक समझौते द्वारा शासन की स्थापना की थी। हॉब्ज का मत है कि यह अनुबन्ध केवल लोगों के बीच में ही हुआ था। जब प्राकृतिक दशा को त्याग कर लोग राजनैतिक दशा में आये तो उन्होंने आपस में मिलकर एक अनुबन्ध स्थापित किया। उस अनुबन्ध का परिणाम यह हुआ कि एक राजा बना दिया गया। अर्थात् एक राजा बनाने के लिये सामाजिक अनुबन्ध किया गया। "मानो कि प्रत्येक व्यक्ति ने एक दूसरे से ऐसा कहा होगा कि मैं इस व्यक्ति को अधिकारी बनाता हूँ और अपना स्वशासनाधिकार इस व्यक्ति को इस शर्त पर सौंपता हूँ कि तू भी अपना अधिकार उसे सौंप दे और इसी प्रकार उसने सब कार्य अधिकृत कर दिये जायँ *"। हाब्ज के सामाजिक अनुबन्ध में प्रत्येक मनुष्य अपने सब नैसर्गिक अधिकार सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है। सर्वोच्चसत्ता स्वयं उस अनुबन्ध की साझीदार नहीं है। वह अनुबन्ध नहीं स्थापित करती है। वह तो अनुबन्ध का परिणाम स्वरूप है। वह पूर्ण स्वेच्छाचारी है। लोगों ने अनुबन्ध द्वारा एक बार अपने शासन का पूर्ण अधिकार उसको सौंप दिया है। अब उन्हें इस अधिकार को लौटा लेने की शक्ति नहीं है। यह कार्य लोगों की शक्ति के बाहर है। लोगों को राजसत्ता का विरोध करने तथा क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है। अनुबन्ध द्वारा राज्य (नागरिक समाज) तथा शासन की स्थापना हुई है। हाब्ज के मतानुसार राज्य तथा शासन में कोई भेद नहीं है, न समाज तथा शासन में कोई भेद है। शासन का अन्त होने पर समाज का भी अन्त हो जाता है और प्राकृतिक दशा जैसी अराजकता फैल जाती है। यह बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती कि एक शासन का अन्त होते ही अराजकता की दशा हो जाय। हाब्ज के सिद्धान्त में एक दोषपूर्ण कल्पना है। यह दोष लॉक के सामाजिक

---

* लैवियाथन, भाग २ अ० १७

अनुबन्ध में नहीं है। लॉक ने दो अनुबन्ध स्थापित करके अपने में यह दोष नहीं आने दिया है।

लॉक एक अनुबन्ध से नागरिक समाज की स्थापना करता है और दूसरे अनुबन्ध से एक शासन की स्थापना करता है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध में पहला अनुबन्ध एक नागरिक समाज की स्थापना करने के लिए किया जाता है। सब लोग मिलकर एक अनुबन्ध स्थापित करते हैं और अपने आपको एक नागरिक समाज में परिवर्तित कर लेते हैं। इसके पश्चात् यह समाज अनुबन्ध द्वारा एक शासन स्थापित करती है। एक ओर सामूहिक रूप में सब लोग होते हैं और दूसरी ओर राजा अथवा सर्वोच्चसत्ता होती है। यह दोनों शासन स्थापित करने के लिए एक समझौता करते हैं यही दूसरा अनुवन्ध है। इस प्रकार लॉक दो अनुबन्ध स्थापित करता है। हाब्ज के एक ही अनुबंध द्वारा राजा उत्पन्न हो जाता है और राजा के उत्पन्न होते ही सब मनुष्य एक नागरिक समाज के रूप में स्वतः परिवर्तित हो जाते हैं। लॉक के दो अनुबंध स्थापित करने का परिणाम यह होता है कि जब शासन का अन्त होता है तो मनुष्य समाज अराजकता की अवस्था में परिवर्तित नहीं हो जाता। राज्य का अन्त होने पर मनुष्य का संगठन नागरिक समाज के रूप में बना रहता है अराजकता नहीं फैलती है। यह नागरिक समाज दूसरा शासन स्थापित करता है। जिस प्रकार हाब्ज के अनुबंध द्वारा लोग आत्मरक्षा के अतिरिक्त अन्य सब अधिकारों का आत्मसमर्पण कर देते हैं, वैसा लॉक के अनुबंध द्वारा नहीं होता है। लॉक के अनुबंध द्वारा लोग अपने थोड़े से अधिकार एक शासक को इस लिए सौंप देते हैं कि वह लोगों के अन्य अधिकारों को सुरक्षित रखे। यदि ऐसा शासक इन अन्य अधिकारों की रक्षा करने में असफल हो तो लोगों को उसे हटा देने तथा दूसरा शासक नियुक्त करने का पूर्ण अधिकार है। अर्थात् यदि लोग ऐसे शासक को गद्दी पर बैठा दें तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं होगा। अतः लाक का सामाजिक अनुबंध सीमित राजतंत्र की आधार शिला है। इसी सिद्धान्त द्वारा लॉक ने सन् १६८८ की रक्तपातरहित क्रान्ति (Bloodless Revolution) का समर्थन किया था। लॉक के मतानुसार सामाजिक अनुबन्ध एक सीमित समझौता है। लॉक ने 'सम्पत्ति' के विषय पर एक अध्याय लिखा है, उस अध्याय में लॉक ने यह वर्णन किया है कि शासक को प्रजा से केवल उतना ही धन लेना चाहिये जितना शासन-कार्य के सफलतापूर्वक संचालन करने

के लिये पर्याप्त हो। शासक को मनुष्य की सम्मति लिये बिना अधिक धन लेने का अधिकार नहीं है।

रूसो के मतानुसार सामाजिक अनुबंध के दो पक्ष हैं, एक पक्ष में लोग व्यक्तिगत रूप में पृथक पृथक रहते हैं और दूसरे पक्ष में उनका सामूहिक रूप रहता है। सब लोग व्यक्तिगत रूप में सामूहिक रूप के साथ एक अनुबन्ध स्थापित करते हैं। अर्थात् व्यक्तिगत रूप में क, ख, ग, घ, अपने सब नैसर्गिक अधिकार सामूहिक रूप में क+ख+ग+घ को सौंप देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण नैसर्गिक अधिकार समाज को सौंप देता है। इससे यह लाभ होता है कि जब किसी व्यक्ति के हितों पर अथवा स्वयं व्यक्ति पर कोई आक्रमण करता है तो सम्पूर्ण समाज उसकी अथवा उसके हितों की रक्षा करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज की सहायता एक व्यक्ति को प्राप्त होती है। ऐसा अनुबन्ध स्थापित करने से किसी को हानि नहीं होती है। इससे सब को लाभ होता है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय की सर्वोच्चसत्ता में सब के समान ऐसा अधिकार रहता है जिसे वह दूसरे व्यक्ति को नहीं सौंप सकता है। रूसो का कथन है कि "हममें से प्रत्येक यक्ति स्वयं को तथा अपने सम्पूर्ण व्यक्तिगत अधिकारों को मिलाकर सामान्य इच्छा या लोकेच्छा (General Will)) रूपी एक सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है। और (वही) हमको व्यक्तिगत रूप (जो संपूर्ण समूह का एक अविभाज्य स्वरूप है) में प्राप्त होते हैं"। "प्रत्येक मनुष्य समूह के लिए आत्म समर्पण करके पहले की भांति पूर्ण स्वतंत्र रहता है।"

(३) **सर्वोच्चसत्ता**—हाब्ज का विचार है कि प्राकृतिक दशा में लोग पृथक पृथक रहते थे उनमें आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। वह सामाजिक दशा में नहीं थे। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु था। अराजक अवस्था थी। उनमें किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार की एक अराजक अवस्था में रहने वाली भीड़ का एक राजनैतिक संस्था के रूप में परिवर्तित हो जाना बड़ी कठिन समस्या है। हाब्ज ने सामाजिक अनुबन्ध द्वारा इस अव्यवस्थित भीड़ को एक नागरिक समाज के रूप में परिवर्तित कर दिया। नागरिक समाज ही राजनैतिक संस्था है। सामाजिक अनुबन्ध द्वारा लोग एक अनन्य इच्छा (Single Will) वाली सर्वोच्चसत्ता की स्थापना करते हैं। यह अनन्य इच्छा बहुसंख्यक व्यक्तिगत इच्छाओं का स्थान ले लेती है, और सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार यह अनन्य इच्छा उन सब

व्यक्तिगत इच्छाओं की प्रतिनिधि बन जाती है। सर्वोच्चसत्ता इस प्रकार सब लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। हाब्ज प्राकृतिक पुरुष और कृत्रिम पुरुष में जो वैधानिक दृष्टि से भेद है उसे अपना अभिप्राय स्पष्ट करने में प्रयोग करता है। कृत्रिम पुरुष की परिभाषा वह इस प्रकार रहता है। "अधिकार तथा कर्तव्यों से सम्पन्न एक सुसंगठित समवाय एक कृत्रिम पुरुष कहलाता है। 'ऐसा समवाय केवल प्रतिनिधि द्वारा ही कार्य कर सकता है। यह प्रतिनिधि सम्पूर्ण समवाय का होगा'। यह प्रतिनिधि हाब्ज के मतानुसार एक कृत्रिम पुरुष होता है। सामाजिक अनुबंध द्वारा हाब्ज यह नियम स्थापित करता है कि भिन्न भिन्न इच्छायें जब एक ही व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर लेती हैं तो एक अन्तर इच्छा की स्थापना हो जाती है। यही अनन्य इच्छा सब की प्रतिनिधि होती है। यह प्रतिनिधि सम्पूर्ण समवाय की ओर से सब कार्य करता है। यह प्रतिनिधि कृत्रिम पुरुष कहलाता है। हाब्ज कहता है कि जो कार्य भी यह प्रतिनिधि करता है वह मैं ही करता हूँ। जो कुछ कार्य यह प्रतिनिधि करता है उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है। प्रतिनिधि द्वारा किये जाने वाले सब कार्यों का उत्तरदायित्व मुझे स्वीकार है। इसी प्रकार हाब्ज के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ कार्य सर्वोच्चसत्ता द्वारा किया जाता है वह सब लोगों द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिये। सर्वोच्चसत्ता स्वयं कुछ नहीं कर सकती है। ऐसे ही सिद्धान्त की नींव पर मानव समाज का संगठन हो सकता है अन्यथा नहीं। ऐक्य व्यक्तियों में नहीं है, उनके प्रतिनिधियों में है। प्रतिनिधि उन सब व्यक्तियों का सर्वसामान्य अभिकर्त्ता है। हाब्ज के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण इच्छाओं का स्थान एक इच्छा ले लेती है। रूसो के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण इच्छायें सामान्य इच्छा में परिणत हो जाती हैं। हाब्ज के सामाजिक अनुबंध के अनुसार सर्वोच्चसत्ता निरंकुश (स्वेच्छाचारी), अविभाज्य तथा अहस्तान्तरकरणीय है। सर्वोच्च-सत्ता की स्थापना होते ही समाज की स्थापना हो जाती है। सर्वोच्चसत्ता पृथ्वी पर सर्वोच्चशक्ति है। हाब्ज का कथन है कि सर्वोच्चसत्ता एक व्यक्ति की, थोड़े से व्यक्तियों की अथवा बहुत से व्यक्तियों की हो सकती है। हाब्ज एक व्यक्ति रूपी सर्वोच्चसत्ता को पुराभरण देता है (पसन्द करता है)। वह राजतंत्र के पक्ष में है और इसी शासन प्रणाली का वह समर्थन करता है। उसका विचार है कि राजतन्त्र शासन प्रणाली में निम्नलिखित लाभ हैं:—

(१) इस प्रणाली में राजा के स्वहित संबंधी कार्यों और सर्वसाधारण के हितसंबंधी कार्यों में कोई भेद नहीं है।

(२) यह शासन प्रणाली अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा अधिक सफलता पूर्वक कार्य कर सकती है। तथा

(३) राजा अधिक निश्चित रूप से कार्य कर सकता है। उसके कार्य सदैव एक से रहेंगे।

हाब्ज का कथन है कि सम्राट ही सर्वोच्च विधाननिर्माता है। सम्राट अपनी प्रजा पर कदापि अन्याय नहीं कर सकता क्योंकि वह तो उनका प्रतिनिधि है। कदाचित् वह नैतिक अन्याय कर सकता है। परन्तु वह वैधानिक अन्याय कदापि नहीं कर सकता। सम्राट अपने कार्यों के लिये प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं है। वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। हाब्ज का वह विचार इंगलैंड के शासक के इस विशेष लक्षण से बहुत कुछ समानता रखता है कि "सम्राट कोई अन्याय नहीं कर सकता"। हाब्ज के समाजिक अनुबन्ध के अनुसार सम्राट अन्तिम विधान-निर्माता है। अतः वह विधान से परे है। अर्थात् विधान उसके आधीन है। वह स्वयं विधान के आधीन नहीं है। वह किसी प्रकार की प्रतिज्ञा करके अपने आपको बंधन में नहीं डाल सकता वह सेना का सबसे बड़ा सेनापति है तथा राज्य में प्रचलित सब प्रकार के सिद्धान्तों तथा विश्वासों का निर्णय करने वाला सर्वोच्च न्यायाधीश है। अथवा यों कह सकते हैं कि सम्राट सर्वेसर्वा है।

लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार सर्वोच्चसत्ता न तो स्वेच्छाचारी ही है और न अविभाज्य ही। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सर्वोच्चसत्ता जनता और सम्राट् के बीच में विभाजित है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है लॉक के सामाजिक अनुवन्ध के दो भाग हैं। एक अनुबन्ध द्वारा लोग परस्पर समझौता करके प्राकृतिक अवस्था का अन्त करते हैं और उस अराजकता के स्थान पर एक नागरिक समाज की स्थापना करते हैं। यह प्रथम अनुबन्ध है। इस प्रथम अनुबन्ध के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सहमति अनिवार्य है। सर्वसम्मति से यह नागरिक समाज स्थापित होता है। सहमति दोनों प्रकार की हो सकती है, अनुक्त और स्पष्ट। देश में निवास करना ही अनुक्त सहमति है। यदि एक व्यक्ति किसी राज्य में निवास करता है तो इसका यह प्रयोजन है कि वह व्यक्ति इस व्यवस्था को मानता है। एक दूसरे अनुबन्ध द्वारा शासकों को कुछ अधिकार दिये जाते हैं और उनसे यह आशा की जाती है कि वे इन अधिकारों का प्रयोग उचित रीति से करेंगे।

यदि यह शासक जनता की इच्छानुसार कार्य करने में असफल होते हैं और जनता उनके कार्य से सन्तुष्ट न हो तो वह इन शासकों को पदच्युत कर सकती है और दूसरे शासकों को नियुक्त कर सकती है। ऐसा करने से हाब्ज के अनुबन्ध के समान समाज प्राकृतिक अवस्था की अराजकता की दशा में परिवर्तित नहीं हो जाता। समाज की नागरिक अवस्था ज्यों की त्यों रहती है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार सर्वोच्चसत्ता लोगों में विद्यमान रहती है और वह सर्वोच्च सत्ता शासन द्वारा प्रयोजित की जाती है। यहाँ शासन से अभिप्राय इंगलैण्ड के सम्राट् तथा पालियामेंट से है। जब शासन न्याय का उल्लंघन करता है लोग शासन का अधिकार उससे छीन लेते हैं। इस प्रकार लोग इस अनुबन्ध में निष्क्रिय साझेदार हैं। जब तक शासक ठीक ठीक कार्य करते रहते हैं तब तक लोग उन्हें कार्य करने देते हैं। ज्यों ही वे ठीक प्रकार से कार्य करना बन्द करके अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना आरम्भ कर देते हैं तभी लोग उस शासन का अन्त करके दूसरा शासन स्थापित कर देते हैं। अतः अवशिष्टाधिकार जनता के हाथ में रहता है। शासन में परिवर्तन करने की कोई वैधानिक पद्धति नहीं है। इसलिये किसी प्रकार की शासन-प्रणाली क्यों न हो, यदि वह जनता की इच्छा के अनुकूल नहीं तो ऐसी दशा में विद्रोह अथवा क्रान्ति कोई अनुचित कार्य नहीं है। लॉक के मतानुसार वही विद्रोह न्याययुक्त है जो सम्पूर्ण जनता द्वारा किया जाय। यदि सम्पूर्ण समुदाय विद्रोह करने के लिए उद्यत नहीं है तो वह विद्रोह अनुचित है। यह निर्णय करना भी अत्यन्त कठिन कार्य है कि कोई विद्रोह सम्पूर्ण समुदाय द्वारा किया गया है या नहीं। लॉक के सर्वोच्चसत्ता-सिद्धान्त में एक बड़ा भारी दोष यह है कि वह सर्वोच्च-सत्ता के अधिकार को वैधानिक मर्यादा द्वारा सीमित करता है। एक स्थान पर वह लिखता है कि "विधान-मण्डल मनमाने आदेशों द्वारा शासन नहीं कर सकता" परन्तु वैधानिक सर्वोच्चसत्ता को व्यक्ति के जीवन अथवा सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है। वह प्राण ले सकता है और सम्पत्ति भी ले सकता है। तिस पर भी लॉक इन शब्दों का प्रयोग करता है। यह बात न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। हां यदि वह "नहीं कर सकता है" के स्थान पर "नहीं करना चाहिये" लिखता तो यह बात ठीक प्रतीत होती। वास्तव में लॉक के सम्राट् को एक मनुष्य के प्राण अथवा उसकी सम्पत्ति लेने का विधान द्वारा पूर्ण अधिकार है। तिस पर भी वह लिखता है कि "वह ऐसा नहीं कर सकता"। इसका अभिप्राय यह है कि लॉक प्राकृतिक अधिकारों की समाज से पृथक कल्पना करता है।

रूसो के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा क, ख, ग, घ, अपने व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकार सामूहिक रूप में क+ख+ग+घ को सौंप देते हैं। यह अनुबन्ध जनतंत्र शासन-प्रणाली का आधार है। इस अनुबन्ध द्वारा लोकप्रिय शासन की स्थापना होती है। रूसो के अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति शासन में साझीदार है। प्रत्येक व्यक्ति विधान निर्माण करता है और प्रत्येक व्यक्ति उन विधानों का पालन भी करता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति शासक भी है और शासित भी। रूसो हाब्ज के अनुबन्ध सिद्धान्त के अनुसार सर्वोच्च-सत्ता को स्वेच्छाचारी, अविभाज्य और अहस्तान्तरकरणीय मानता है। परन्तु भेद इतना है कि हाब्ज का शासक एक है और रूसो का शासक सामूहिक रूप में सम्पूर्ण जनसमुदाय है। रूसो ने सर्वोच्च-सत्ता को सम्पूर्ण जनसमुदाय की सामान्य इच्छा का स्वरूप दिया है। इसी का नाम लोकेच्छा या 'जन-सम्मति' (General Will) है। सर्वोच्चसत्ता लोकेच्छा का व्यक्त रूप है।

(४) **राज्य तथा शासन का रूप**—हाब्ज के मतानुसार एक सत्तात्मक स्वेच्छाचारी सम्राट् द्वारा शासित राज्य सर्वश्रेष्ठ राज्य है। लॉक वैधानिक शासन अथवा सीमित राजतन्त्र का समर्थन करता है। रूसो प्रत्यक्ष-जनतन्त्र राज्य का पक्षपाती है।

इन तीनों लेखकों के शासन सम्बन्धी विचार भी बिल्कुल भिन्न हैं। हॉब्ज के मतानुसार राज्य और शासन में कोई भेद नहीं है। वह दोनों को एक ही बात समझता है। अर्थात् वस्तुतः अथवा कार्य रूपेण शासन को वह विधानतः शासन समझता है। दोनों प्रकार के शासनों में वह कोई भेद नहीं मानता। इसके विपरीत लॉक और रूसो राज्य तथा शासन को एक ही वस्तु नहीं मानते। वे इन दोनों में भेद मानते हैं। वे वस्तुतः शासन और विधानतः शासन में भी भेद मानते हैं और हॉब्ज के समान दोनों को एक ही नहीं समझते। हॉब्ज के मतानुसार शासन का अन्त होते ही राज्य का अन्त हो जाता है और समाज प्राकृतिक अवस्था की अराजकता की दशा को पहुँच जाता है। हॉब्ज का यह विचार मिथ्या है। बहुधा ऐसा होता है कि एक प्रकार की शासन प्रणाली का अन्त होता है और दूसरी प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित की जाती है। इस प्रकार शासन प्रणाली के परिवर्तन में हमने कभी अराजकता की अवस्था का अनुभव नहीं किया है। शासन प्रणाली के परिवर्त्तन में हमने कभी राज्य का अंत होते न सुना है न देखा है। लॉक कहता है कि लोकसत्ता को अपना शासन निर्धारित

करने का अधिकार है और जब शासन संतोषप्रद न रहे तो उसको परिवर्तित करने का अधिकार है। उसका विचार है कि शासन एक प्रकार का न्यास अथवा नैतिक उत्तरदायित्व है। रूसो के मतानुसार शासन जनता का केवल एक धटक अथवा "जीवित उपकरण" (Living tool) है। यह अनुबन्ध का परिणाम स्वरूप नहीं है। यह एक परिमित अधिकार है। यह अधिकतर लोकसत्ता द्वारा प्राप्त होता है। जिसमें कोई मौलिक अधिकार नहीं हैं। सर्वोच्च इच्छा (Sovereign will) उस अधिकार को इच्छानुसार छीन सकती है। (यहां सर्वोच्च इच्छा से अभिप्राय लोकमत से है)। शासन परवश है। वह जनसम्मति के अधीन है। रूसो शासन की आधीनता अथवा परवशता निम्नलिखित बातों से स्थापित करता है—

(१) सामयिक सभाओं में एकत्रित होकर लोग इस प्रश्न का निर्णय करें कि क्या वर्तमान शासन प्रणाली प्रचलित रखी जाय ?

(२) सामयिक सभाओं में एकत्रित होकर लोग इस प्रश्न का निर्णय करें कि यदि वर्तमान शासन प्रणाली प्रचलित रखनी है तो क्या वर्तमान व्यक्ति शासन कार्य करते रहें ?

शासन के कृत्य तथा अधिकारों के विषय में भी तीनों लेखकों के विचार भिन्न हैं। हॉब्ज के अनुबन्ध ने संपूर्ण अधिकार शासन को सौंप दिये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन ही सर्वोच्चसत्ता है। एक स्वेच्छाचारी सम्राट् में शासन की सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान है। लॉक शासन को परिमित अधिकार देता है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार लोग केवल उतने ही प्राकृतिक अधिकारों का समर्पण करते हैं जितने नागरिक समाज के हितों को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक हैं। लॉक शासन के विधान निर्माण सम्बन्धी तथा कार्यकारिणी संबंधी कार्यों में भी भेद प्रकट करता है। वह इन दोनों के पृथक्त्व का समर्थन करता है। हॉब्ज का यह विचार नहीं है। वह व्यवस्थापिका को शासन का सर्व श्रेष्ठ भाग समझता है। वह सुरक्षा तथा व्यवस्था को बड़ा महत्व देता है। लॉक का कथन है कि शासन का कार्य केवल शांति तथा व्यवस्था स्थापित रखना ही नहीं है, शासन का कार्य राज्य करना भी है राजा को प्रजा के हित के लिये शासन करना चाहिये।

रूसो का विचार है कि शासन का कार्य केवल प्रबन्ध करना ही है। विधान-निर्माण का कार्य केवल सर्वोच्चसत्ताधारी लोगों को ही करना चाहिये। यदि शासन यह काम करने लगे तो जनता के हाथ से अपने

विधानों को स्वयं बनाने का अधिकार छिन जायगा। ऐसा करने में लोगों की सर्वोच्चसत्ता का ह्रास होगा। अतः सर्वोच्चसत्ताधारी लोगों को विधान-निर्माण के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करना चाहिये। विधान निर्माण का तत्व 'इच्छा' है और इच्छा कभी परिवर्तित नहीं हो सकती और न उसका प्रतिनिधित्व ही हो सकता है। इसी आधार पर रूसो प्रतिनिधिक शासन का विरोध करता है और प्रत्यक्ष जनतन्त्र शासन-प्रणाली का समर्थन करता है। वह ऐसी शासन प्रणाली के पक्ष में है जैसी प्राचीनकाल में यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों में प्रचलित थी। उसका कथन है कि "क्योंकि सर्वोच्चसत्ता अहस्तान्तरकरणीय है इसलिये वह प्रतिनिध्यात्मक नहीं हो सकती। वास्तव में वह लोकेच्छा में स्थित है और इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता, चाहे वह एक की इच्छा हो सकती है या दूसरे की दोनों के बीच में होने की उसकी संभावना नहीं है। अतः लोगों के प्रतिनिधि न तो वास्तव में प्रतिनिधि हैं, और न वे प्रतिनिधि हो सकते हैं" *।

रूसो के मतानुसार राजनैतिक संस्था की एक इच्छा होती है उस इच्छा को कार्य कारिणी सत्ता कार्य रूप में परिणत करती है। इस का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि कार्य कारिणी की निजी कोई इच्छा ही नहीं होती। प्रत्येक देश में कार्यकारिणी को विशेष विवेकाधीन अधिकार प्राप्त होते हैं। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा कार्यकारिणी को लोकेच्छा में भी साझेदारी प्राप्त है। अथवा यों कह सकते हैं कि रूसो के अनुबन्ध के अनुसार लोग केवल विधान निर्माण का ही कार्य नहीं करते बल्कि उन्हें यह कहने का भी अधिकार प्राप्त है कि ये विधान किस प्रकार कार्यान्वित किये जाने चाहिये, और किन व्यक्तियों द्वारा ये कार्यान्वित किये जाने चाहिये। इस प्रकार वे अपनी इच्छाओं के कार्यान्वित करने के कार्य में भी साझीदार हैं। इच्छा करना और इच्छा को कार्यान्वित करना इन दोनों में सैद्धान्तिक भेद अवश्य है परन्तु यह भेद स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका में भेद है परन्तु जिस प्रकार रूसो कार्य-कारिणी को एक अधीनस्थ स्थान में प्रेषित करता है, ऐसा हम नहीं कर सकते। रूसो विधान निर्माण करने वाली लोकसत्ता और कार्यकारिणी लोकसत्ता में भी विभेद करता है। रूसो के मतानुसार विधान निर्माण करने वाली लोकसत्ता और कार्य कारिणी अर्थात् शासन में यह भेद

---

* पुस्तक ३ अध्याय १४

है कि विधान निर्माण करने वाली लोकसत्ता का सम्बन्ध कार्यों से हैं और कार्यकारिणी का संबंध विशिष्ट कार्यों से होना चाहिये। साधारण और विशिष्ट कार्यों में भेद प्रकट करना बड़ा कठिन है। यदि यह कहा जाय कि साधारण कार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण समुदाय से है और विशिष्ट कार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जिनका सम्बन्ध किसी विशेष वर्ग अथवा व्यक्ति से है तो भी इस का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। वर्तमान समय में राज्य का प्रत्येक विधान किसी विशेष उद्देश्य के लिये बनाया जाता है। कदाचित् ही कोई ऐसा विधान होता होगा जिस का सम्बन्ध सामान्य तथा सम्पूर्ण जनसमुदाय से हो। यदि रूसो का यह विभेद मान लिया जाय तो व्यवहार में शासन ही सब विधानों को बनाने लगेगा। तब वह अधीनस्थ संस्था होने के बजाय स्वयं सर्वोच्चसत्ता बन जायेगा।

५—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकार सिद्धान्त—हाब्ज वैधानिक अधिकार सिद्धान्त को मानता है। लॉक नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त का समर्थन करता है। रूसो के मतानुसार समाज की सदस्यता की दशा में ही मनुष्य को अधिकार प्राप्त होते हैं अतः रूसो आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त को मानता है। हॉब्ज के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार प्रजा को केवल वे अधिकार प्राप्त हैं जो उसे विधान द्वारा प्रदान किये गये हैं। प्रजा को केवल वही नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हैं जो विधान द्वारा वर्जित नहीं हैं। परन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि हाब्ज के अनुबन्ध के अनुसार मनुष्य को अपने जीवन को सुरक्षित रखने का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। मनुष्य के इस अधिकार पर शासन का वैधानिक अधिकार नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राजा मनुष्य के जीवन पर कोई अधिकार नहीं रखता है। राजा का वास्तव में लोगों के जीवन और मृत्यु दोनों पर अधिकार हैं। राजा जब चाहे अपनी स्वेच्छा से लोगों की स्वतन्त्रता को परिमित कर सकता है और उसमें हस्तक्षेप कर सकता है। जहां पर मनुष्यों के कार्यों के लिये कोई विधान नहीं है वहां मनुष्यों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसका यह प्रयोजन है कि शासनाधिकार और स्वतन्त्रता ये दोनों विपरीत बातें हैं। जहाँ स्वतन्त्रता है वहाँ शासन का अधिकार नहीं है और जहां शासन का अधिकार है वहां स्वतन्त्रता नहीं है। हॉब्ज का विचार है कि राजा की आज्ञा की कोई सीमा नहीं है। राजा का अधिकार क्षेत्र परिमित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि एक सीमा ऐसी है जहां राजा की आज्ञा का व्यक्तिगत उल्लंघन हो सकता है। सर्वोच्चसत्ता

की स्थापना मनुष्य की प्रसन्नता तथा उसके जीवन की सुरक्षा के लिये हुई है। हाब्ज के अनुबन्ध का अभिप्राय ही यह है अतः यदि राजा मनुष्य के जीवन पर आघात अथवा आक्रमण करता है तो मनुष्य के 'आज्ञा पालन' के कर्तव्य का अन्त हो जाता है। फिर वह आज्ञा पालन करने के लिये बाध्य नहीं रहता। इस बात में 'विरोधाभास' का दोष है। हाब्ज का यह मत मान लिया जाय तो किसी मनुष्य को यदि न्यायपूर्वक प्राणदण्ड दिया जाय तब भी वह मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करने के लिये सब प्रकार के प्रयत्न करने का अधिकारी है। अर्थात् जब मनुष्य के जीवन पर राजा आक्रमण करता है (चाहे वह न्याययुक्त ही क्यों न हो) तो मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करने के लिये प्रत्येक कार्य करने का अधिकारी है। उसका यह अधिकार नैसर्गिक है। उसने अनुबन्ध द्वारा इस अधिकार का आत्म समर्पण नहीं किया है। दूसरे के जीवन में मनुष्य केवल हस्तक्षेप कर सकता है, बाधा डाल सकता है और कुछ नहीं कर सकता। इसीलिये यह बात विरोधाभास-युक्त है। कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं जिनमें मनुष्य सैनिक बनने के लिये मना कर सकता है क्योंकि अनुबन्ध तो मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिये बनाया गया है न कि उसे संकट में डालने के लिये। यदि राजा युद्ध के लिये सैनिकों की भर्ती करता है तो लोगों का भर्ती होना उनकी इच्छा पर निर्भर है। राजा इस कार्य के लिये उन्हें बाध्य नहीं कर सकता। यदि राजा किसी सैनिक को लड़ने के लिये युद्ध में भेजे तो सैनिक उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है क्योंकि राजा तो मनुष्य के जीवन की रक्षा करने के लिये है न कि उन्हें युद्ध में भेजकर उनके जीवन को संकट में डालने के लिये। यदि राजा व्यक्तिगत जीवन की रक्षा नहीं कर सकता; यदि वह मनुष्यों की रक्षा करने के लिये उचित व्यवस्था स्थापित करने की योग्यता नहीं रखता है तो अनुबन्ध का अन्त हो जाता है, अनुबन्ध टूट जाता है और लोगों को राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इन बातों के अतिरिक्त अन्य सब बातों में राजा का लोगों पर पूर्ण अधिकार है। राजा की सत्ता अन्य सब बातों में पूर्ण है और वह पूर्ण स्वेच्छाचारी है। यह हाब्ज का मत है या उसके मत से यह परिणाम निकलता है।

लॉक का मत है कि शासन शासितों की सहमति पर निर्भर है। एक व्यक्ति को वह सब अधिकार प्राप्त हैं जिनका उसने राज्य को समर्पण नहीं किया है। राज्य की स्थापना मनुष्यों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करने

के लिये हुई है। परन्तु लॉक ने जनसाधारण के अधिकारों की परिभाषा इस प्रकार की है कि यदि उनकी गणना की जाय तो वे नहीं के बराबर प्रतीत होंगे।

रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राजनैतिक अवस्था में उतना ही स्वतन्त्र है जितना वह नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक अवस्था में था, क्योंकि वह अपने अधिकार किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं सौंपता है। वह अपने अधिकार स्वयं को तथा जिस राजनैतिक समुदाय को वह स्थापित करता है उसके अन्य व्यक्तियों को सौंपता है। रूसो कहता है कि समस्या तो "एक ऐसी समाज की खोज करना है जो अपनी सामुदायिक शक्ति से समाज के प्रत्येक सदस्य के शरीर तथा सम्पत्ति की रक्षा करेगी और जिस (समाज) में व्यक्ति सब के साथ संयुक्त होकर भी केवल स्वयं अपनी ही व्यक्तिगत आज्ञा का पालन करेगा और पहले की भांति स्वतन्त्र भी रहेगा।" इस समस्या का हल रूसो एक ऐसे सामाजिक-अनुबन्ध में पाता है जिसके अनुसार "हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को तथा अपने संपूर्ण वैयक्तिक अधिकारों को मिलाकर एक लोकेच्छा रूपी सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है और (वे ही) हमको व्यक्तिगत रूप (जो संपूर्ण समूह का एक अविभाज्य स्वरूप है) में प्राप्त होते हैं"। इस प्रकार रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार नागरिक अवस्था में मनुष्य एक स्वतन्त्र व्यक्ति है। जितने प्रतिबन्ध नागरिक अवस्था में व्यक्ति पर हैं वे सब उसने स्वयं ही अपने ऊपर लगाये हैं किसी दूसरे ने नहीं। वह स्वयमारोपित विधान की आज्ञा पालन करता है और ऐसा करने में उसकी स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता है। "जो विधान स्वयं हमने अपने लिये निर्धारित किया है उसका पालन करना स्वतन्त्रता है"। इससे स्पष्ट है कि रूसो के मतानुसार पूर्ण जनतन्त्र का अर्थ ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस सिद्धान्त को स्थापित करने में रूसो ने इस विषय पर ध्यान नहीं दिया कि इस प्रकार की शासन-प्रणाली में बहुमत के अत्याचार की संभावना है। आधुनिक जनतन्त्रीय शासनों में इस दोष का होना जेम्स स्टुआर्ट मिल ने भी संभव बतलाया है। लोकेच्छा को मानने और उसके परिणाम स्वरूप स्वतंत्र होने के लिये व्यक्ति को बाध्य किया जा सकता है" रूसो के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप यह हो जायगा कि व्यक्ति को बहुमत की स्वेच्छाचारिता के सामने सिर झुकाना होगा। इसका अर्थ वास्तव में "व्यक्ति पर बहुमत का अत्याचार है"। इस सिद्धान्त के विरोध में कुछ भी कहा जाय किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि रूसो का सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ तथा कार्यान्वित

करने योग्य है। जैसे राज्य की रूसो स्थापना करता है उसमें मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकार पूर्ण रूप से सुरक्षित रह सकते हैं और व्यक्तिगत कर्तव्यों का पालन भी भली प्रकार हो सकता है। इस प्रणाली से अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई शासन-प्रणाली नहीं है जिसमें इतनी अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।

तीनों के सिद्धांतों की आलोचना—हॉब्ज न्यायशास्त्र का बड़ा विद्वान पंडित था। उसने अपने समाजिक अनुबन्ध सिद्धांत को बड़ी चतुराई से स्थापित किया है। उसने इसके प्रतिपादन में तर्कशास्त्र के नियमों से काम लिया है। उसने अपने निष्कर्षों को उचित तर्कों से सिद्ध किया है। उसने राजशास्त्र में एक नवीन सिद्धान्त को जन्म दिया वह सिद्धान्त है "वैधानिक प्रभुता का सिद्धान्त"। हॉब्ज के इस सिद्धान्त में एक बड़ा भारी दोष यह है कि वह अपनी वैधानिक प्रभुता की कमी को राजनैतिक प्रभुता से पूर्ण नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि उसका वैधानिक राजा सामान्य इच्छा अथवा जनसम्मति से पूर्ण स्वतन्त्र है। आधुनिक काल के राजशास्त्रवेत्ता वैधानिक प्रभुता के साथ साथ लोकेच्छा को भी स्थान देते हैं। इन लोगों का मत है कि वैधानिक प्रभुता का आधार लोकेच्छा है और वैधानिक प्रभुता से बड़ी राजनैतिक प्रभुता है। लोकेच्छा ही राजनैतिक प्रभुता है। हॉब्ज के मतानुसार वैधानिक प्रभुता और राजनैतिक प्रभुता एक ही बात है। वह इन दोनों में कोई भेद नहीं समझता है। वैधानिक प्रभुता को वह राज्य की इच्छा समझता है और राज्य की इच्छा को ही वह वास्तविक सर्वोच्चसत्ता समझता है। हॉब्ज ने इस प्रकार की समानता स्थापित करके राज्य और शासन के भेद को भ्रमपूर्ण कर दिया है। वह राज्य और शासन को एक ही बात समझता है परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। राज्य और शासन की समानता स्थापित करने के कारण ही उसने यह मत प्रकट किया है कि शासन का अन्त होने पर राज्य का अन्त हो जाता है और मनुष्यों का राजनैतिक समाज प्राकृतिक अवस्था की अराजक दशा में परिवर्तित हो जाता है। राजा की मृत्यु पर राज्य का अन्त हो जाता है यह उसके सिद्धान्त का परिणाम निकलता है।

हॉब्ज के मतानुसार मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता उसने प्रत्येक व्यक्ति को राजा की दया पर छोड़ रखा है। कोई मनुष्य राजा का विरोध नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति को राजा के अत्याचार उस समय तक सहन करने चाहिये जब तक व्यक्तिगत जीवन संकट में न

पड़े। व्यक्ति को राजा का विरोध करने का अधिकार उसी समय है जब वह समझता है कि अब उसको अपने जीवन का भय है। जीवन का भय उपस्थित होने पर वह राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है। अन्यथा नहीं। साधारणतया व्यक्ति के अधिकारों के समर्थकों का यह विचार है कि जब राजा प्रजा पर अत्याचार अथवा उसके साथ अन्याय करे तो प्रजा को उसका विरोध करने का पूर्ण अधिकार है। हॉब्ज भी इस बात को मानता है परन्तु एक विशेष सीमा पर पहुँच कर। जब तक जीवन का भय उपस्थित न हो हॉब्ज के मतानुसार राजा का विरोध करना अपराध है। हॉब्ज प्रजा को शीघ्र विरोध करने की आज्ञा देने में असमर्थ होता है। वह स्पष्ट कहता है कि प्रत्येक राजभक्त व्यक्ति को राजा का विरोध करने से पूर्व स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिये कि "क्या ऐसी स्थिति हो गई है कि गृह-युद्ध आरम्भ करके अराजकता की स्थिति स्थापित की जा सकती है ?" "क्या ऐसा करना बुद्धिमानी होगी ?" उसका विचार है कि जब कभी शासन का विरोध किया जायगा उसका परिणाम गृह-युद्ध ही होगा, लोगों में व्यवस्था स्थापित नहीं रह सकती। जहां एक बार शासन का विरोध आरम्भ हुआ फिर उसके परिणाम पर लोगों का काबू नहीं रहता। कोई नहीं कह सकता कि इस विरोध का अन्तिम परिणाम क्या होगा और यह विरोध कहां जाकर रुकेगा। अतः हॉब्ज का मत है कि यह आवश्यक नहीं है कि शासन वास्तव में न्यायपूर्ण ही हो परन्तु शासन का दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है। अराजकता अथवा विद्रोह की अपेक्षा दृढ़ शासन सह्य है। शासन की ज्यादती को सहन किया जा सकता है परन्तु अराजकता को नहीं। शांति तथा सुरक्षा की व्यवस्था स्थापित रखने के लिये यदि शासन कुछ अन्याय भी करे तो जनता को सहन करना चाहिये क्योंकि शासन का विरोध करने से शासन की शक्ति का ह्रास होता है।

हॉब्ज का यह विचार कि मनुष्य वास्तव में स्वार्थी है, मनुष्य के सब कार्य स्वार्थभावना द्वारा ही किये जाते हैं और विशेष कर मनुष्य की व्यक्तिगत दुःख सुख की भावना ही उससे प्रत्येक कार्य कराती है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस विचार की पुष्टि नहीं होती है। प्लैटो का विचार है कि मनुष्य आत्म-निर्भर नहीं है, उसे अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये समाज में रहना आवश्यक है। समाज से पृथक् होकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। उसका जीवन मनुष्य-समाज से संबद्ध है। हॉब्ज के मतानुसार मनुष्यों को समाज में बांधने वाला केवल एक ही

कारण है और वह है अराजकता का सामान्य भय। इस भय के कारण सम्राट् को उसने समाज से पृथक् रखा है। समाज के नागरिक संगठन में सम्राट् सम्मिलित नहीं है।

हॉब्ज की यह धारणा है कि राजा लोगों का प्रतिनिधि है परन्तु हॉब्ज के 'प्रतिनिधि' शब्द के अर्थ में और जनसाधारण के 'प्रतिनिधि' शब्द के अर्थ में भेद है। हम लोगों के 'प्रतिनिधि' शब्द का अर्थ यह है कि हमारा 'प्रतिनिधि' हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करेगा। जो प्रतिनिधि की सम्मति का अनुरूप होगी। परन्तु हाब्ज के प्रतिनिधि के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तव में जनसाधारण के हित के ही कार्य करे। उसकी सम्मति जनसाधारण की सम्मति से भिन्न हो सकती है। हॉब्ज का राजा विधान निर्माता है। वह विधान से ऊपर है परन्तु इस राजा और जनता के बीच कोई ऐसा अनुबन्ध नहीं है जिससे जनता को राजा से सदैव पूर्ण न्याय मिल सके। एक बार अनुबन्ध द्वारा राजा बना तो दिया है परन्तु उसकी शक्ति पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं है। आधुनिक काल में इस प्रकार का स्वेच्छाचारी शासक कभी सह्य नहीं हो सकता।

प्रतिनिधिकशासन का मूलभूत नियम यह है कि वह लोकमत के अनुसार कार्य करता है और लोकहित के लिये ही कार्य करता है। चाहे यह शासक ऐन्टोनाइन्स (Antonines) के शासन से समान एक-सत्तात्मक हो, चाहे इंगलैंड की पार्लियामेंट के समान अप्रत्यक्ष जनतन्त्र हो और चाहे स्विटजरलैंड के कुछ कैन्टनों के समान प्रत्यक्ष जनतन्त्र शासन हो। परन्तु यह बात हॉब्ज के प्रतिनिधिक शासन में उपलब्ध नहीं है।

लॉक स्तुअर्त क्रान्ति का दार्शनिक है। ऐतिहासिक-दृष्टि से उसका "सैकन्ड ट्रीटिज़ ऑन सिविल गवर्नमेंट" नाम का ग्रन्थ बहुत महत्व रखता है। इस ग्रन्थ में स्तुअर्त-क्रान्ति के समय की इंगलैण्ड की दशा का पूर्णरूप से चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में उसने लिखा है कि शासन का कार्य केवल लोगों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना ही होना चाहिये। हॉब्ज का मत है कि शासन का कार्य केवल शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखना ही है और कुछ नहीं। लॉक का मत है कि शासन का कार्य केवल शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करना ही नहीं है बल्कि भली प्रकार शासन करना भी है। राजा को प्रजा के हित के लिये शासन करना चाहिये। लॉक राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता के पक्ष में है वह वैधानिक सर्वोच्चसत्ता के पक्ष में नहीं है। इस विषय में हॉब्ज और लॉक के भेद को गिलक्रिस्ट ने इस प्रकार वर्णन किया है "राज-

नैतिक प्रभुता की शक्ति को न मानते हुए हॉब्ज ने वैधानिक प्रभुता का सिद्धान्त स्थापित किया है और लॉक राजनैतिक प्रभुता की शक्ति को मानता है परन्तु वैधानिक प्रभुता को नहीं मानता"।

रूसो के सामाजिक अनुबन्ध में एक विशेष बात यह है कि उसके विचार बहुधा अनुबन्ध की सीमा को पार करके उसके बाहर हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो भाव उसके सामाजिक अनुबन्ध का है उससे कहीं अच्छा भाव स्वयं रूसो का है। वह हॉब्ज के सामाजिक अनुबन्ध से सर्वोच्चसत्ता के विचार लेता है। उसके अनुबन्ध की प्रभुता हाब्ज के अनुबन्ध की प्रभुता के समान अविभाज्य, अहस्तान्तरकरणीय और स्वेच्छाचारी है। लॉक के अनुबन्ध से रूसो लोकहित सम्बन्धी यह विचार लेता है कि अच्छा शासन वही है जो लोकहित का कार्य करे। इस प्रकार रूसो, हाब्ज और लॉक के विचारों को मिलाकर एक नवीन सर्वोच्चसत्ता स्थापित करता है। इस प्रकार रूसो की लोकेच्छा की उत्पत्ति होती है। रूसो केवल लोकहित तक ही उस लोकेच्छा को सीमित नहीं रखता है। वह उसमें एक और नवीन भाव उत्पन्न करता है। यह नवीन भाव है जनतन्त्र का। अर्थात् सर्वोच्चसत्ता वह सब लोगों के हाथ में रखता है। इस प्रकार रूसो एक वास्तविक जनतन्त्रीय-शासन की स्थापना करता है और अपने सामाजिक अनुबन्ध द्वारा उसकी पुष्टि करता है।

रूसो की 'लोकेच्छा' (General will)—रूसो की लोकेच्छा को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले इसके अतिरिक्त अन्य दो प्रकार की इच्छाओं को भली प्रकार समझ लिया जाय। एक actual will जिसे हम केवल "इच्छा" कहेंगे। दूसरी real will जिसे हम शुद्ध-इच्छा के नाम से सम्बोधित करेंगे। ऐल० टी० हाब्हाउस ने अपनी "मेटाफिजीकल थ्यौरी आफ दी स्टेट" नामक पुस्तक में लिखा है कि 'इच्छा' और 'शुद्ध-इच्छा' में कोई भेद नहीं है "जो इच्छा है वही शुद्ध-इच्छा है, जो शुद्ध-इच्छा है वही इच्छा है।" जो लोग इच्छा और शुद्ध-इच्छा में भेद मानते हैं उनका कथन है कि शुद्धेच्छा में "करना चाहिये" यह भाव होता है। कर्तव्य बुद्धि ही इसकी जन्मदात्री होती है। जब स्वार्थ इसका रूप विकृत कर देता है तब यह कोरी इच्छा या वासना रह जाती है। इस इच्छा में स्वार्थ की भावना का सम्मिश्रण है। इच्छा अस्थिर है, स्थिर नहीं है। इच्छा में क्षण क्षण परिवर्तन होता रहता है। इस इच्छा का संचालन कुसंकल्प और सुसंकल्पों द्वारा होता रहता है, मनुष्य बहुधा इस इच्छा का दास होता है। कभी कभी इस इच्छा का

इतना प्राबल्य होता है कि उसको रोका नहीं जा सकता । ऐसी इच्छा के आधीन मनुष्य कभी ऐसे कार्य कर डालता है जिनके कारण उसे संसार में बड़ा लज्जित होना पड़ता है । भिन्न भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों द्वारा इसका संचालन होने के कारण यह अस्थिर है और परिवर्त्तनशील है । इस इच्छा का मनुष्य समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह व्यक्तिगत इच्छा है ।

बोसाँके (Bosanquet) तथा अन्य आदर्शवादी दार्शनिक इच्छा और शुद्ध-इच्छा में भेद मानते हैं । इन लोगों का मत है कि शुद्ध-इच्छा वह इच्छा है जिसमें स्वार्थ का भाव नहीं है । स्वार्थरहित इच्छा ही शुद्ध-इच्छा है, शुद्ध-इच्छा स्थायी इच्छा है । इस इच्छा में परिवर्तन नहीं होता है । यह सदा एक रस रहती है । मनुष्य की इच्छा का शुद्ध-इच्छा द्वारा संचालन होता है । 'इच्छा' शुद्ध-इच्छा के आधीन है । इस शुद्ध इच्छा-द्वारा मनुष्य को स्थायीतुष्टि प्राप्त होती है । शुद्ध-इच्छा से मनुष्य को सुख और संतोष प्राप्त होता है । मनुष्य की अभिलाषाओं की पूर्ति से शुद्ध-इच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं है । इस इच्छा का सम्बन्ध परमार्थ से है । यह इच्छा युक्तियुक्त इच्छा है । यह मनुष्य में सदैव नहीं रहती है और न पूर्णरूप से किसी व्यक्ति में कभी विद्यमान होती है । इसी शुद्ध-इच्छा द्वारा एक व्यक्ति समाज के साथ सम्बद्ध होता है । यह इच्छा किसी न किसी परिमाण में प्रत्येक नागरिक में विद्यमान है । इस इच्छा का उद्देश्य परमार्थ और लोकोपकार है । एक साधारण मनुष्य में दोनों प्रकार की इच्छाएँ होती हैं । प्रत्येक मनुष्य में साधारणतया इच्छा की अपेक्षा शुद्ध-इच्छा अधिक मात्रा में होती है । शुद्ध-इच्छा वास्तविक इच्छा है । यही श्रेष्ठ इच्छा है । इसी शुद्ध-इच्छा के आधार पर दार्शनिकों ने लोकेच्छा का सिद्धान्त स्थापित किया है । लोकेच्छा की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते है कि लोकेच्छा मनुष्य की उन शुद्ध-इच्छाओं का संयोग है जिनके द्वारा समाज की स्थापना हुई है । बोसाँके ने लोकेच्छा की परिभाषा इस प्रकार की है लोकेच्छा "सम्पूर्ण जनसमाज की सामूहिक इच्छा अथवा सर्वसाधारण का कल्याण करने वाली व्यक्तिगत इच्छाओं का समूह है ।" लोकेच्छा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आधार-शिला है । लोकेच्छा के 'लोक' शब्द से रूसो के दो अभिप्राय हैं । एक तो इच्छा करने वालों की संख्या दूसरा सर्वसाधारण का हित अधिक महत्वपूर्ण है । वह कहता कि मतदाताओं की संख्या की अपेक्षा लोगों को परस्पर संगठित करने वाला सर्वसाधारण हित लोकेच्छा है ।" रूसो ने मतदाताओं की संख्या की अपेक्षा लोकहित पर अधिक जोर दिया है और लोकहित का ही लोकेच्छा से अधिक सम्बन्ध है ।

लोकेच्छा का अभिप्राय बहुमत अथवा लोकमत नहीं है। लोकेच्छा का वास्तविक सम्बन्ध लोकहित से है। यदि अल्पसंख्यक लोकहित सम्बन्धी कार्य करते हैं तो इस अल्पसंख्यक ही को लोकेच्छा कहेंगे। यदि एक ही व्यक्ति लोकहित की बात करता है तो एक ही व्यक्ति का मत लोकेच्छा समझा जायगा। अतः लोकेच्छा का अर्थ लोकमत अथवा बहुमत ही नहीं समझना चाहिये। लोकेच्छा का वास्तविक सम्बन्ध लोकहित से है। यदि बहुमत में स्वार्थ की झलक है तो वह लोकेच्छा नहीं समझा जा सकता। परन्तु धारणा यह है कि बहुधा बहुत से लोगों का मत एक अथवा अनेक के मत की अपेक्षा ठीक, उचित और श्रेष्ठ होता है इसीलिये साधारणतया लोकेच्छा बहुमत अथवा जनसम्मति के साथ सम्बद्ध है। साधारणतया एक जनतन्त्र शासन-प्रणाली में लोकेच्छा पूर्णरूप से प्रकट होती है और प्रत्यक्ष दिखाई देती है। परन्तु लोकेच्छा अप्रत्यक्ष रूप में राजतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र में भी विद्यमान रह सकती है।

रूसो के मतानुसार एक समाज में 'सर्व सम्मति' (will of all) होती है। सर्वसम्मति का अर्थ है समाज के सदस्यों की विशिष्ट इच्छाओं का समूह। समाज का प्रत्येक सदस्य लोकहित संबंधी प्रश्नों पर अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार विचार करता है। परन्तु एक श्रेष्ठ समाज में, जिसमें नागरिकता के भाव विद्यमान हैं, लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थ एक दूसरे से टकरा कर स्वयं नष्ट हो जाते हैं और शुद्ध जनमत स्थापित हो जाता है। इसी जनमत का नाम लोकेच्छा है। अतः सर्वसम्मति से लोकेच्छा की उत्पत्ति होती है। लोकेच्छा द्वारा जो निर्णय होगा वह वास्तव में श्रेष्ठ और न्याय-युक्त होगा। यह निर्णय एक आदर्श सम्मति के निर्णय के समान होगा। परस्पर वाद विवाद करके सब लोग लोकोपकारक निर्णय पर पहुँचते हैं। ऐसा निर्णय सदैव उचित होगा। क्योंकि पारस्परिक वाद-विवाद से लोगों के विचारों की शुद्धि हो जाती है और यदि कोई स्वार्थ संबंधी दोष भी होता है तो वह वादविवाद से निकल जाता है और इस प्रकार साधारणतया निर्णय ठीक ही होता है। इसी प्रकार की लोकेच्छा को रूसो सर्वोच्चसत्ता का व्यक्तरूप समझता है। जब सर्वोच्चसत्ता लोकहित का कार्य करती है तो वह अपनी लोकेच्छा का प्रयोग करती है। जब तक राज्य के विधान लोकहित का कार्य करते हैं तब तक इन विधानों में लोकेच्छा का पुट विद्यमान रहता है। लोकेच्छा ही स्वराज्य का आधार तथा मूलतत्व है। जब तक लोकेच्छा कार्य करती रहती है प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रहने के लिये

बाध्य किया जा सकता है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति को गिरी अवस्था से उठाने के लिये उसे बाध्य किया जा सकता है। एक व्यक्ति को यदि किसी की दासता में ही आनन्द मिलता है और स्वतन्त्रता के जीवन की अपेक्षा वह उस दासता के जीवन को अधिक श्रेष्ठ समझता है तो लोकेच्छा का सहारा लेकर उसे स्वतन्त्र होने के लिये बाध्य किया जा सकता है चाहे इस प्रकार जीवन व्यतीत करने में उसे उतना आनन्द न प्राप्त हो। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अज्ञानता के कारण किसी ऐसे स्थान पर जाता है जहां उसके जीवन के लिये संकट है तो उसे बलपूर्वक ऐसा करने से वर्जित किया जा सकता है।

लोकेच्छा के तीन विशेष लक्षण हैं (१) ऐक्य, (२) चिरस्थिति और (३) उचित इच्छा।

(१) **ऐक्य**—लोकेच्छा केवल एक होती है। युक्ति संगत होने के कारण उसकी विरोधी कोई लोकेच्छा नहीं होती। यदि कोई ऐसी इच्छा हो भी तो वह लोकेच्छा नहीं हो सकती लोकेच्छा कई प्रकार की हो सकती है किन्तु ये प्रकारान्तर उसके मूल स्वभाव के अन्तर्गत ही होंगे। लोकेच्छा "राष्ट्रीय चरित्र में ऐक्य स्थापित करती है और उस (ऐक्य) को सुरक्षित रखती है और एक राज्य के नागरिकों में जैसे गुणों की हम आशा रखते हैं वैसे ही सामान्य गुण उनमें उत्पन्न करती है"।

(२) **चिर-स्थिति**—लोकेच्छा चिरस्थायी होती है। लोगों के उद्वेग और दुष्कल्पनाओं का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। लोकेच्छा लोगों के स्वभाव में बस जाती है और उनके चरित्र का एक भाग बन जाती है।

(३) **उचित-इच्छा**—लोकेच्छा सदैव एक उचित इच्छा होती है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है लोकेच्छा का संबंध लोक-हित से है। यह सदैव लोकोपकार की बात सोचती और करती है। यह इच्छा सर्वश्रेष्ठ होती है। इसमें स्वार्थ का लेशमात्र भी अंश नहीं होता। रूसो का विचार है कि कभी ऐसा हो सकता है कि लोकेच्छा कभी कोई दोषपूर्ण निर्णय करदे। ऐसा कार्य नैतिक दृष्टि से दूषित नहीं समझा जायगा। ऐसा भूल से ही हो सकता है जान बूझकर कभी दोषपूर्ण निर्णय नहीं दिया जा सकता। लोकेच्छा सदैव प्रत्येक कार्य में मनुष्य का पथ प्रदर्शन करती है और इस के द्वारा मनुष्य सदैव ठीक कार्य करता है। किसी कार्य अथवा निर्णय में त्रुटि होने पर लोकेच्छा को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। लोकेच्छा सदैव ठीक

और श्रेष्ठ होती है। इतना अवश्य हो सकता है कि किसी विशेष अवसर पर लोकेच्छा का संचालन करने वाला बौद्धिक निर्णय त्रुटिपूर्ण हो। ऐसी अवस्था में लोकेच्छा का परिणाम त्रुटिपूर्ण हो सकता है।

आलोचना—कुछ लोगों का कथन है कि लोकेच्छा बहुमत के अनुसार ही निर्धारित होनी चाहिये। लोकेच्छा का बहुमत से इतना संबंध नहीं है जितना लोकहित से है। लोकेच्छा का लोकहित से घनिष्ठ संबंध है। एक बार ऐसा संभव हो सकता है कि लोकेच्छा बहुमत की इच्छा न हो परन्तु यह आवश्यक है कि उसमें लोक हित का भाव अवश्य होना चाहिये। यदि अल्पमत में लोकेच्छा पाई जाती है तो वह अल्पमत भी लोकहित का कार्य करेगा और इस प्रकार जनसाधारण की भलाई का कार्य होगा और उसका प्रभाव बहुमत पर पड़ेगा। वास्तव में यह एक आदर्शवादी सिद्धान्त है केवल काल्पनिक ही नहीं है। लोकेच्छा एक ऐसा आदर्श है जिसे पूरी तरह किसी राज्य में भी कार्यान्वित हुआ नहीं पाया जा सकता। हां, प्रत्येक जनतंत्र राज्य में इस आदर्श का व्यवहार में लाने का प्रयत्न अवश्य किया जाता है।

कुछ लोगों का यह मत है कि लोकेच्छा के नाम से शासक बड़े बड़े अत्याचार कर सकते हैं। लोकेच्छा के सिद्धान्त द्वारा स्वेच्छाचारी शासन हो सकता है। इस सिद्धान्त का यह निष्कर्श कि प्रत्येक को स्वतन्त्र रहने के लिये बाध्य किया जा सकता है, अनुचित है क्योंकि जहाँ बाध्य करना आरम्भ हो जाता है वहाँ स्वतन्त्रता किस प्रकार प्रयुक्त की जा सकती है? इस प्रकार के आक्षेप देखने में तो युक्तिसंगत से प्रतीत होते हैं और वास्तव में इस प्रकार के कार्य शासन कर सकता है जिनसे लोगों की साधारण स्वतन्त्रता में बाधा पड़े। परन्तु इन दोषों को दूर किया जा सकता है। यदि इस प्रकार के दोष शासन में आते हैं तो रूसो का यह नियम कि 'समय-समय पर लोग एकत्रित होकर इस बात का निर्णय करें कि क्या इस प्रकार शासन प्रचलित रखा जाय अथवा इसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है, इस प्रकार के दोषों को दूर करने और शासन में उत्पन्न हुई कुरीतियों तथा भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये पर्याप्त है। रूसो का कथन है कि शासक अपनी प्रजा पर ऐसे बन्धन नहीं लगा सकता जो प्रजा के लिये हानिकारक हैं। न वह कभी ऐसा करने का विचार अपने मन में ला सकता है। रूसो के इस विचार से स्पष्ट है कि लोकेच्छा सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिगत नागरिक स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय केवल बन्धनों का न होना ही नहीं है। राज्य के विरोधक विधानों से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता

है। कोल (Cole) का कथन है कि "स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये किन-किन विरोधक विधानों की आवश्यकता है इस बात का निर्णय सदैव विशेष वाद-विवाद द्वारा किया जायगा। प्रत्येक विषय का निर्णय उसके महत्व पर निर्भर होगा और वास्तव में सर्वोच्चसत्ता सर्वशक्तिमान् होगी और वह सत्ता विवेकजन्य विधान (Law of reason) के आधीन होगी"।

लोकेच्छा का सिद्धान्त लोक हित से सम्बद्ध है। लोकेच्छा द्वारा जो कार्य किये जायंगे वे सब लोकहित के लिये ही होंगे। परन्तु जो लोग इस सिद्धान्त के विरोधी हैं उनका कथन है कि लोकहित का निर्णय करना बड़ा कठिन है। बुरे से बुरा अत्याचारी स्वेच्छाचारी शासक लोकहित के नाम पर बुरे से बुरा अन्याय प्रजा पर कर सकता है। दूसरा आक्षेप वे यह भी करते हैं कि पहले से यह ज्ञात करना बड़ा कठिन है कि अमुक विधान अथवा अमुक कार्य का परिणाम लोकहित ही होगा। लोकहित तो परिणाम से ही ज्ञात हो सकता है। यदि वास्तव में उस विधान अथवा कार्य से सर्वसाधारण का हित हुआ है तो वह विधान अथवा कार्य ठीक है अन्यथा नहीं। किन्तु परिणाम को देख कर लोकेच्छा का निर्णय करना ठीक नहीं मालूम होता लोकेच्छा वही है जिसको बुद्धि ने लोकहितकारी समझा हो, चाहे परिणाम कुछ भी हो। यदि इस दूसरे सिद्धान्त को मान लें तो यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति या अल्पसंख्यकों की इच्छा की अपेक्षा बहुसंख्यकों की इच्छा में लोकेच्छा का अधिक पुट होगा। यह हो सकता है कि बहुसंख्यकों की इच्छा केवल उन्हीं का सामूहिक स्वार्थ हो। इसलिये इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कोई सिद्धान्त नहीं किया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि बहुसंख्यकों की इच्छा अधिकतर अवसरों पर लोकेच्छा होगी। इसी विश्वास की नींव पर जनतंत्र राज्य तथा शासन का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है।

कुछ लोगों का यह विचार है कि यदि यह बात मान भी ली जाय कि लोकेच्छा में कभी त्रुटि होती ही नहीं है और सदैव इसका रूप लोकहित चिंतन के पश्चात् ही स्थिर होता है तो इस बात की क्या प्रत्याभूति (guarantee) है कि राज्य का शासन-कार्य सदैव ठीक प्रकार से होता रहेगा और उसमें कभी कोई दोष नहीं उपस्थित होगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि शासन में दोष आ सकते हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सामान्य इच्छा दूषित हो गई है। सामान्य इच्छा दूषित नहीं हो सकती है। यदि शासन में दोष आगये हैं

तो उन दोषों का निरोध अथवा शासन का सुधार लोकेच्छा द्वारा हो सकता है क्योंकि लोकेच्छा का उद्देश्य सदैव ही लोकहित होता है। लोगों को अच्छी शिक्षा देकर और लोकमत का सुधार करके लोकेच्छा द्वारा शासन के दोषों को दूर किया जा सकता हैं।

लोकेच्छा के गुण—लोकेच्छा राजनैतिक कार्यों में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है, राज्यकार्य में क्या साध्य है, यह निश्चित करती है और विघ्न-बाधाओं के आजाने पर समाज तथा राज्य को इधर-उधर भटकने न देकर उन्हें निश्चित दिशा में ले जाती है।

लोकेच्छा में श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों की यह धारणा है कि राज्य केवल व्यक्तियों की भीड़ नहीं है बल्कि उन व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध, तथा राज्य से उनका वैसा ही सरोकार है जैसा किसी प्राणी के शरीर के अवयवों का शरीर से होता है। शरीर के सब अवयव मिल कर शरीर का धारण, पोषण व रक्षा करते हैं और बदले में स्वयं पुष्ट बनते हैं। यदि सब शरीर को सुख मिलता है तो उसके अवयव अनायास ही उस सुख में अपना भाग पा लेते हैं। शरीर का सुख-दुख उसके अवयवों के सुख-दुख से पृथक नहीं वरन् अविच्छिन्नरूप से बंधा हुआ है। जो इच्छा शरीर की है वही उसके विभिन्न अवयवों की है। यही बात राज्य में व्यक्तियों के लिये सत्य है, ऐसा इन लोगों का मत है।

लोकेच्छा इस सिद्धान्त की सत्यता प्रकट करती है कि "शक्ति नहीं बल्कि इच्छा ही राज्य का आधार है"। लोकेच्छा की कल्पना में कहीं भी शक्ति का ऐसा प्रयोग नहीं हैं जहां अल्पमतों के ऊपर अत्याचार का भाव हो। यदि अल्पमतों के विचार ठीक और श्रेष्ठ हैं तो वह आग्रह और वाद-विवाद द्वारा बहुमतों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं और लोकेच्छा का प्रयोजन सदा लोकोपकार है। यदि अल्पमत वास्तव में ठीक हैं तो बहुमत को ये अपने मत का बना सकते हैं।

लोकेच्छा-सिद्धान्त मनुष्यों को यह शिक्षा देता है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और उसका आधार लोकेच्छा है। राज्य मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है। मनुष्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य वास्तव में एक स्वाभाविक संस्था है। राज्य के बाहर रहकर मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक, और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। कोल का कथन है कि "राज्य की स्थापना हम से इस बात की

अभियाचना करती है कि हम उसकी आज्ञा का पालन करें क्योंकि वह हमारे ही व्यक्तित्व का एक स्वाभाविक विस्तृत रूप है।"

लोकेच्छा सिद्धान्त इस बात को सिद्ध करता है कि हमारे लोकतन्त्र का आधार शक्ति नहीं है। अर्थात् जनतन्त्रीय शासन में बल का प्रयोग नहीं किया जाता बल्कि सबकी सामूहिक इच्छा से शासन किया जाता है। सब लोगों की सामूहिक इच्छा ही लोकेच्छा है। जब यह कार्य रूप में व्यक्त होती है तो उसका स्वरूप जनतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

हम लोकेच्छा की आज्ञा का पालन इसलिये नहीं करते हैं कि वह शासक है और हम उसके आधीन है बल्कि इसलिये करते हैं कि हम इस बात को जानते हैं कि यह लोकेच्छा हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं का संयुक्त रूप है। हमारी इच्छा यही है कि अमुक आज्ञा का पालन किया जाय क्योंकि ऐसा करने में हमारा व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याण है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये

जे० जे० रूसो—*सोशल कॉन्ट्रैक्ट*

लार्ड—*प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिक्स*

जे० लॉक—*सैकिण्ड ट्रीटिज आन सिविल गवर्नमैंट*

एस० लीकाक—*ऐलीमैन्ट्स आफ पौलीटिकल साइंस*

सी० ई० ऐम० जोड—*माडर्न पौलीटिकल थ्यौरी*

टी० हॉब्ज—*लैंवियैथन*

आर० एन० गिलक्रिस्ट—*प्रिंस्पिल्स आफ पौलीटिकल साइंस*

आर० ऐस० गैटिल—*इन्ट्रोडक्शन टू पौलीटिकल साइंस*

जे० एन० गार्नर—*पौलीटिकल साइंस ऐण्ड गवर्नमेंन्ट*

बी० बोसांके—*फिलासाफिकल थ्यौरी आफ दी स्टेट*

कौटिल्य—*अर्थ-शास्त्र*

महाभारत—*शान्ति-पर्व*

अध्याय ९

अधिकार

जीवन के साथ ही अधिकार की भावना का उदय हो जाता है। संसार में छोटे से छोटे प्राणी से लेकर बड़े से बड़े तक में यह देखने में आता है कि वे कुछ वस्तुओं को अपना स्वत्व समझते हैं और उस स्वत्व के लिये अपने जीवन को बलिदान करने के लिये उद्यत हो जाते हैं। तनिक मधुमक्खियों के छत्ते में हस्तक्षेप करके देखिये कि वे अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये क्या-क्या करती हैं? एक कौए को पकड़ लीजिये और देखिये कि कितने कौए उस एक कौए की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये कितने प्रयत्न करते हैं? एक बन्दर के बच्चे को आप पकड़ कर देखिये कि बन्दरों का समुदाय उस बच्चे की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये क्या-क्या करता है। आप किसी मनुष्य की कोई वस्तु बल पूर्वक लेने का प्रयत्न कीजिये, वह भी अपना अधिकार किसी न किसी प्रकार प्रदर्शित करेगा और आपको अपने जीवन की रक्षा करना कठिन हो जायगा। इन उदाहरणों में अधिकार' शब्द उस स्वार्थपूर्ण स्वामित्व के लिये प्रयुक्त हुआ है जो व्यक्ति या समूह की शारीरिक शक्ति पर निर्भर है। जो अभिप्राय अंगरेजी शब्द 'राइट्स' का है वह इस अधिकार शब्द का नहीं है। समाज व राज्य में हम यह विचार नहीं करते हैं कि अमुक व्यक्ति या समुदाय कितना बलवान है और कितनी सम्पत्ति को अपने वश में रख सकता है। वरन् वहाँ इसी बात पर दृष्टि रहती है कि सामाजिक या वैयक्तिक कल्याण के लिये किन-किन बातों की व्यक्ति को सुविधायें प्राप्त रहें। इन सुविधाओं में जितना पुट नैतिकता का रहता है उतना स्वामित्व का नहीं। इसीलिये सामाजिक सुविधाओं को अंगरेजी में 'राइट्स' शब्द से पुकारा जाता है। इन सुविधाओं में एक ऐसा सत्य निहित समझा जाता है जिसे सारा समाज स्वीकार करता है। सब प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसको सत्य-झूठ या उचित-अनुचित समझने की बुद्धि है। केवल वही नीति-अनीति के भेद को समझ सकता है। इसलिये जिन अधिकारों का हम यहाँ वर्णन करेंगे वे मानव समाज की नीतिपूर्ण व्यक्तिगत सुविधायें

होंगी, जानवरों का बलप्रयोग से रक्षित स्वामित्व नहीं। इन अधिकारों को समझने के लिये इनके बारे में कुछ अन्य बातें जानना आवश्यक है।

मानव समाज में अधिकारों व कर्तव्यों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक का अस्तित्व दूसरे के बिना नहीं रह सकता। यदि क को किसी बात का अधिकारी कहा जाय तो उसका अर्थ ही यह है कि ख, ग, या घ के लिये वही कर्तव्य है। समाज में अधिकार शब्द से "प्राप्त होना चाहिये" का बोध होता है। यदि किसी व्यक्ति को कोई सुविधा प्राप्त होनी चाहिये ऐसा मान लिया जाय तो उसका यही अर्थ होगा कि दूसरे व्यक्तियों को चाहिये कि वे उसे वह सुविधा दें। सुविधा एक ही है, एक के लिये वह अधिकार का रूप धारण करती है दूसरों के लिये कर्तव्य बनकर सामने आती है। इससे स्पष्ट है कि अधिकार और कर्तव्यों का अस्तित्व एक दूसरे पर आश्रित है। अधिकार और कर्तव्य कागज के दो पृष्ठ हैं, दोनों का नित्य सम्पर्क है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रहता। जहाँ अधिकार वहाँ कर्तव्य भी अवश्य होगा "केवल कर्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का महत्व है" *

उपरोक्त कथन से ही यह नियम भी निसृत होता है कि प्रत्येक अधिकार के लिये समाज के अभिस्वीकरण की आवश्यकता है। बिना इस प्रकार के अभिस्वीकरण के अधिकारों की स्वत्व-याचना का कोई अर्थ नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे अधिकारों के लिये समाज की स्वीकृति आवश्यक है। जब समाज के अन्य व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि मुझे कुछ प्राप्त होना चाहिये, तभी मेरे अधिकार का जन्म होता है अन्यथा नहीं। ऐसी स्वीकृति न होने पर मेरी माँग उदण्डता कही जा सकती, वह अधिकार नहीं हो सकती। यदि एक व्यक्ति के अधिकार समाज में मान्य हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे वैधानिक रीति से भी मान्य हैं। मनुष्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकार होते हैं। कुछ समाज के प्रति, कुछ राज्य के प्रति, कुछ अपने कुटुम्बियों के प्रति, सामाजिक स्वीकृति नैतिक आधार पर होती है। अधिकार साधारणतया सार्वजनिक हित पर निर्भर है। सब अधिकारों का सम्बन्ध किसी न किसी नैतिक उद्देश्य से या लौकिक श्रेय से होना आवश्यक है।

जैसा हम पहले बतला चुके हैं अधिकार कोरी स्वार्थसिद्धि की माँग नहीं हैं। यदि यह हम मान लें कि व्यक्ति अपने मनुष्यत्व की अधिक से

---

* ऐन० वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ ११९

अधिक उन्नति के लिये समाज का अङ्ग बनता है, और यह भी मान लें कि इस उन्नति के लिये दूसरों के साथ उपकार करना, दुखी पर दया करना, निर्धनों से सहानुभूति रखना आदि आवश्यक है तो यह प्रकट है कि जिन अधिकारों का व्यक्ति दावा करता है उन अधिकारों की प्राप्ति पर अन्य व्यक्तियों का सुख भी थोड़ा बहुत निर्भर है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की वही माँग अधिकार कही जा सकती है जिसे किसी व्यक्ति विशेष के लिये ही आवश्यक नहीं समझा जाता वरन् जो प्रत्येक साधारण व्यक्ति के लिये भी आवश्यक है। उसका रूप साधारण मानवधर्म के अनुकूल होना चाहिये। किसी व्यक्ति की मनमानी माँग अधिकार नहीं कही जा सकती। ऐसा कहने के पहिले यह देखना होगा कि उस माँग से व्यक्ति के वास्तविक कल्याण, या सामाजिक हित से सम्बन्ध है या नहीं और यह भी देखना होगा कि यह किसी व्यक्ति विशेष की माँग है या वह ऐसी माँग है जिसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति करने के लिये स्वतंत्र है।

एक सत्तात्मक अथवा स्वेच्छाचारी राज्यों में व्यक्ति के अधिकारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। राजा की शक्ति के सामने प्रजा के कोई अधिकार नहीं होते थे। वे सब अधिकार राजा की इच्छा पर निर्भर रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार राजा की दया का एक अंश समझा जाता था। उस समय व्यक्ति अपने अधिकार के लिये राजा से प्रार्थना कर सकता था और भिक्षा के रूप में उससे याचना कर सकता था। यदि राजा किसी को कोई अधिकार देता था तो वह उसकी कृपा, दया अथवा दान समझा जाता था। आधुनिक काल में जनतन्त्र राज्यों में अधिकारों को बड़ा महत्व दिया गया है। "फ्रांसीसी क्रान्ति ने भिक्षा नहीं माँगी, उसने मनुष्यों के अधिकारों को माँगा"। फ्रांस ने यूरोप में सबसे प्रथम मानव-अधिकारों के लिये युद्ध किया और उनको प्राप्त किया। जनतन्त्र राज्यों में मानव-अधिकारों को राज्य स्वीकार करता है और उनकी रक्षा करता है। ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जाती है, मानव-अधिकार बढ़ते जाते हैं। १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् सामाजिक संगठन में ऐसे परिवर्तन हो गये हैं कि इन परिवर्तनों के कारण नवीन अधिकारों की उत्पत्ति हो गई है। जो अधिकार कभी व्यक्तिगत थे और कुटुम्ब से ही सम्बन्ध रखते थे, आज वे सामाजिक हो गये हैं। कुछ तो इतने विस्तृत हो गये है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। नवीन अधिकारों में कार्य करने का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार, हड़ताल के समय अपने कार्य पर बने रहने का

अधिकार इत्यादि हैं। अधिकार के विषय में साधारणतया पांच विशेष सिद्धान्त हैं जिनका वर्णन क्रमशः किया जायगा :—

(१) नैसर्गिक-अधिकार सिद्धान्त।
(२) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त।
(३) ऐतिहासिक अथवा रूढ़िवादी अधिकार सिद्धान्त।
(४) लोक-कल्याण-अधिकार सिद्धान्त।
(५) आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त।

(१) **नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के कुछ स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक (नैसर्गिक) अधिकार होते हैं। ये उसके जन्मजात अधिकार होते हैं। उन अधिकारों से मनुष्य का बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है। जैसे मनुष्य का रूप, रंग, आदि उसकी व्यक्तिगत अभिन्न विशेषताएँ हैं उसी प्रकार मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार हैं। ऐसा विचार प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिकों का था। उनका मत है कि इन नैसर्गिक अधिकारों को सिद्ध करने के लिये किसी विधान, न्याय अथवा युक्ति की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतः सिद्ध सत्य है। जीवित रहने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार निर्णय करने अथवा निर्णय देने का अधिकार. ऐसे अधिकार हैं जिन्हें जन्मजात अधिकार कहा जा सकता है। इस प्रकार के अनेक जन्मजात अधिकार हैं जिनको प्राप्त करने तथा सुरक्षित रखने का प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। लॉक का कथन है कि मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र तथा विवेकशील है।

नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। सृष्टि के आरम्भ से अब तक मनुष्य की सभ्यता की उन्नति में इस सिद्धांत ने बड़े बड़े कार्य किये हैं। जॉन लॉक (John Locke) और टामस पेन (Thomas Paine) जैसे अंग्रेज विद्वानों ने इस सिद्धान्त पर बहुत कुछ लिखा है। फ्रांस और अमेरिका ने इस सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत किया है। अमरीका के वर्जीनिया राज्य (Virginia) के संविधान में यह वर्णन किया गया है कि "स्वभावतया सब लोग उन्मुक्त तथा स्वाधीन हैं और उनके कुछ जन्मजात अधिकार हैं जो मनुष्यों के सामाजिक रूप में संगठित होने पर भी किसी अनुबन्ध द्वारा उनसे तथा उनकी सन्तानों से पृथक नहीं किये जा सकते। वे अधिकार ये हैं—जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति, सुख तथा सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार" * अमेरिका की

---

* नैचुरल राइटस पृष्ठ ५ (डी० जी० रिशी द्वारा उद्धृत)

स्वतन्त्रता की घोषणा (१७७६) में भी इसी प्रकार का वर्णन है। सन् १७९१ और १७९३ की फ्रांस की घोषणा में भी इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्वतन्त्रता, समानता, सुरक्षा, और सम्पत्ति को फ्रांस की घोषणा (१७९३) में मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार बतलाया गया है।

हॉब्ज, लॉक और रूसो ने भी अपने सामाजिक अनुबंधों में नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन किया है। हॉब्ज ने जीवन के अधिकार को ऐसा नैसर्गिक अधिकार माना है जिसको अनुबन्ध स्थापित करने के पश्चात् भी लोग राजा को न सौंप कर अपने हाथ में ही रखते हैं। हॉब्ज ने जीवन के अधिकार के अतिरिक्त स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि के अधिकारों को भी मनुष्य का नैसर्गिग अधिकार माना है,परन्तु इन अधिकारों को मनुष्य सामाजिक अनुबन्ध स्थापित करने के पश्चात् सर्वोच्चसत्ता को सौंप देता है। वास्तव में हॉब्ज ने मनुष्य के सब प्रकार के अधिकारों को नैसर्गिक अधिकार बतलाया है। उसका कथन है कि "प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक वस्तु पर अधिकार है, यहाँ तक कि दूसरे व्यक्ति के शरीर पर भी उसे अधिकार है।" * हाब्ज के मतानुसार मनुष्य की प्राकृतिक दशा पशु के समान ही उसके नैसर्गिक अधिकार हैं।

लॉक के मतानुसार भी मनुष्य के कुछ अधिकार नैसर्गिक हैं। इन अधिकारों में जीव, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, समानता आदि के अधिकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार रूसो ने भी नैसर्गिक अवस्था में मनुष्य के अधिकारों का उल्लेख किया है। जिन नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन हॉब्ज और लॉक ने किया है उनका वर्णन रूसो ने भी किया है। लॉक के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा यह अधिकार समाज को सौंप दिये जाते हैं और रूसो के सामाजिक अनुबन्ध द्वारा यह अधिकार लोकेच्छा को अर्थात् सब मनुष्य को सौंप दिये जाते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का कथन है कि "सब मनुष्यों का मूल-भूत अधिकार समान स्वतन्त्रता का अधिकार है जिस के अनुसार यदि मनुष्य अन्य मनुष्य की वैसी ही स्वतन्त्रता पर आघात न करे तो वह स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छापूर्वक जो चाहे सो कर सकता है।" औद्योगिक क्रान्ति के समय से अब तक लोगों ने नैसर्गिक अधिकारों के नाम से राजनैतिक क्षेत्र में बड़े-बड़े लाभ उठाये हैं। संसार में लोग भोजन वस्त्र, गृह, जीविका तथा राजनैतिक अधिकारों के प्राप्त करने के लिये

---

* टी० ऐच० हॉब्ज—लेवियैथन अध्याय १४

निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं और इन अधिकारों को नैसर्गिक अधिकारों का रूप दे रहे हैं।

आलोचना—नैसर्गिक अधिकारों की व्याख्या करना बहुत कठिन है। डी० जी० रिशी (D. G. Ritchie) ने 'नैसर्गिक अधिकारों' पर एक पूरी पुस्तक लिखी है और अंग्रेजी के 'नेचर' शब्द के प्रयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाये हैं। उसने 'नेचर' के पाँच अर्थ बतलाये हैं (१) सम्पूर्ण विश्व (२) आदर्श (काल्पनिक ध्येय), (३) आरम्भिक (अपूर्ण), (४) मनुष्यरहित संपूर्ण विश्व (५) सामान्य (औसत)। 'नेचर' शब्द के इतने अर्थों में से हम कौन से अर्थ का प्रयोग 'नैचुरल राइट्स' अर्थात् नैसर्गिक अधिकारों में कर सकते हैं?

यदि प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी के नैचुरल अथवा हिन्दी के 'नैसर्गिक' शब्द की व्याख्या की जाय तो इसका अर्थ होगा—(१) कृत्रिम के विपरीत (२) आध्यात्मिक के प्रतिकूल और (३) नागरिक अथवा राजनैतिक दशा के प्रतिकूल। इन सब अर्थों को ध्यान में रखते हुए हम नैसर्गिक शब्द के अर्थ यह समझते हैं—(१) मनुष्य की स्वाभाविक दशा जिसमें कृत्रिमता के लेशमात्र की भी सम्मिश्रण नहीं है, (२) यदि कभी सम्भव हो तो मनुष्य की वह दशा जब उसे आध्यात्मिक चेतना न थी। (३) मनुष्य की साधारण स्वाभाविक दशा। इन तीनों में से हम पहले और दूसरे को ही यहाँ 'नैसर्गिक' का अर्थ मान सकते हैं। सिसरो (Cicero) ने 'नेचर' शब्द का अर्थ आत्मा की पुकार या मानव अन्तःकरण स्थित सदसद्विवेक शक्ति बतलाया है। किसी भी पाश्चात्य लेखक ने 'नेचर' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ नहीं बतलाया। कुछ लोगों ने दासता की प्रथा को नैसर्गिक बतलाया है। कुछ लोगों का मत है कि बहु-पत्नी, बहुपति, अस्थाई विवाह आदि प्रथाएँ भी नैसर्गिक हैं क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले पशु-पक्षियों में यह प्रथाएँ प्रचलित हैं। ऐसी अवस्था में हम रिशी के विचारों का समर्थन कर सकते हैं। वह लिखता है कि "यदि प्रकृति का निरीक्षण करो तो तुम्हारे किसी भी कार्य में हम दोषी नहीं कह सकते हैं परन्तु इतना भी अवश्य है कि तुम भी यह सिद्ध नहीं कर सकते कि तुम सत्य हो।"* इससे उसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति में सब प्रकार की बातें हम होते हुए देखते हैं। यदि प्रकृति का अनुकरण किया जाय तो किसी भी कार्य में अनौचित्य नहीं दिखाई पड़

---

* डी० जी० रिशी० नैचुरल राइट्स पृष्ठ १०५

सकता परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि कौन सी बात उचित अथवा ठीक है।

कभी-कभी नैसर्गिक अधिकारों में विरोधाभास का दोष दिखाई देता है। फ्रांस की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुभाव को मनुष्य के ऐसे अधिकार बतलाया था जिनकी प्राप्ति किसी अन्य बात पर निर्भर नहीं करती। इन अधिकारों को स्वतः सिद्ध सत्य माना जाता है। परन्तु इन्हें कार्यान्वित करने से पता चलता है कि पूर्ण समानता अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता के भाव केवल कल्पनामात्र हैं। व्यवहार में न किसी समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता हो सकती है न पूर्ण समानता। पूर्ण स्वतन्त्रता ही असमानता को उत्पन्न कर देगी। बलवान निर्बलों पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करेगा, तीक्ष्ण बुद्धि वाला व्यक्ति मूर्ख की जड़ता से लाभ उठा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि करेगा। ऐसी स्थिति में समानता कहाँ रह जायगी। दूसरी ओर यदि पूर्ण समानता बनाये रखने का प्रयत्न किया जायेगा तो पूर्ण स्वतन्त्रता पर अंकुश रखना आवश्यक हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि यदि हम स्वतन्त्रता व समानता के अधिकार को नैसर्गिक अधिकार मान लें जिन पर किसी प्रकार का बांध नहीं बांधा जा सकता तो समाज का अस्तित्व ही मिट जाय। समाज की रक्षा के लिये स्वतन्त्रता व समानता का समन्वय करना आवश्यक है और इस समन्वय के लिये नैसर्गिक सिद्धान्त उपयोगी प्रतीत नहीं होता।

नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार है कि राजनैतिक तथा सामाजिक संस्थाओं ने मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों को छीन लिया है। लैस्की (Laski) का कथन है कि समाज में व्यक्ति के अधिकार वह पुनः प्राप्त पैत्रिक निधि है जिसे समाज में प्रवेश करते समय उससे छीन लिया गया था।

इस कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि समाज व राज्य अस्वभाविक बनावटी वस्तुएँ हैं, इसलिये असत्य है। यह मत बिलकुल ठीक नहीं है। समाज व राज्य की उत्पत्ति वैसी ही स्वाभाविक है जैसी कि मनुष्य की नैतिकता। यदि मनुष्य के नैतिक विचार कोई बनावटी असत्य वस्तु है तो समाज और राज्य भी बनावटी और असत्य हैं क्योंकि बोसांके के कथनानुसार समाज और राज्य "नैतिक विचारों की साकार मूर्त्तियां हैं" किन्तु ऐसा है नहीं। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है उससे स्पष्ट है कि वे ही लोग इस सिद्धान्त को मान्य समझते हैं जो उत्कट व्यक्तिवादी हैं, कम से कम उनकी मान्यता इसी ओर उन्हें घसीट कर ले

जायगी। अराजकवादी भी इसी सिद्धान्त का सहारा लेकर अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं।

गिलक्रिस्ट का कथन है कि "अधिकारों की उत्पत्ति इस कारण से हुई है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" * । वास्तव में मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य समाज में रहकर ही हो सकते हैं। बिना सामाजिक संगठन के अधिकार और कर्तव्य की कल्पना करना भ्रम है। अधिकार की जो परिभाषा हमने इस अध्याय के आरम्भ में की है उससे स्पष्ट है कि प्रत्येक अधिकार के साथ साथ कोई कर्तव्य होना आवश्यक है। मेरा अधिकार तभी तक अधिकार है जब तक कोई दूसरा व्यक्ति उसे अपना कर्तव्य समझे। यदि ऐसा न हो तो मेरे अधिकार का रूप मेरी धींगा धींगी कही जा सकती है, वास्तव में अधिकार नहीं कहा जा सकता। यदि मैं यह आशा करता हूं कि समाज के अन्य व्यक्ति मेरी किसी मांग को स्वीकार करें तो उसका अर्थ यही है कि जो मांग मैं समाज के सामने रख रहा हूँ वह सामाजिक हित के लिये आवश्यक है। इसलिये मेरे अधिकार के साथ मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं उस अधिकार का प्रयोग समाज के हित में करूं। अधिकारों तथा कर्तव्यों की यह दो प्रकार की शृंखला समाज में ही बन सकती है, निर्जन बन में नहीं। निर्जन द्वीप पर रोबिन्सन क्रूसो को अपने अधिकारों व कर्तव्यों का भान ही न हुआ होगा क्योंकि जब कोई दूसरा व्यक्ति ही नहीं तो उसके स्वामित्व की सीमा बांध कर कौन उसे मान्य करता और ऐसा करना अपना कर्तव्य समझता या किससे वह कहता कि तुम मुझे यह काम करने दो क्योंकि तुम्हारा इसमें हित है और मैं अपने ऊपर यह भार लेता हूँ कि तुम्हारे हित के लिये ही मैं यह काम करूंगा।

इन बातों से स्पष्ट है कि अधिकारों की कल्पना केवल सामाजिक दशा में ही की जा सकती है अन्यथा नहीं। परन्तु नैसर्गिक अधिकारों की कल्पना समाज से पृथक करते हैं। उनका मत है कि मनुष्य की सामाजिक अवस्था से पूर्व भी मनुष्य के अधिकार थे और उन अधिकारों का नाम नैसर्गिक अधिकार है। यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। असामाजिक अवस्था में अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती है। उस अवस्था में अधिकार का होना संभव नहीं हो सकता। हां, उस अवस्था में 'शक्ति' अथवा 'बल' का प्रयोग होना संभव हो सकता है।

आदर्शवादी भी इस सिद्धान्त को निर्मूल बतलाते हैं। लार्ड (Lord)

---

* आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिंस्पिल्स आफ पोलिटिकल साइंस पृष्ठ १३४

का विचार है कि नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायी "अधिकार के लक्षणों की उपेक्षा करते हैं और प्रकृति के लक्षणों को अधिक महत्व देते हैं"। वास्तव में अधिकार और कर्तव्य का संबंध मनुष्य के पारस्परिक संबंध से संबद्ध है।

प्रत्यालोचना—लार्ड का कथन है कि "हम नैसर्गिक अधिकारों की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि नैसर्गिक अधिकार वे परिस्थितियाँ है जो चाहे मनुष्यों द्वारा उत्पन्न हों अथवा न हों परन्तु जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं"*। वास्तव में लार्ड का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है यदि नैसर्गिक अधिकारों का वास्तव में यह अर्थ समझा जाय कि नैसर्गिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनसे मनुष्य के सुखमय जीवन का सम्बन्ध है तो इस को हम मान सकते हैं। आवश्यक भोजन-वस्त्र का अधिकार, जीविका के लिए कार्य प्राप्त करने का अधिकार, अपने बाल-बच्चों के लिये शिक्षा तथा मनुष्य समाज की शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति के आधार संबंधी अधिकार वे अधिकार हैं जिनका मनुष्य समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जिनके लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु यह विचार करना कि 'मनुष्य की सामाजिक अथवा राजनैतिक स्थिति से पूर्व मनुष्यों के कुछ विशेष अधिकार थे' युक्ति अथवा न्याय संगत नहीं प्रतीत होता है। यह केवल कल्पना है। लैस्की का यह कथन कि "अधिकार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्य समाज में सबसे आरम्भ में विद्यमान थी और फिर उसका अन्त हो गया है" सर्वथा सत्य है। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार उचित नहीं है। प्राकृतिक अवस्था में जब मनुष्यों में सभ्यता नहीं थी और किसी प्रकार की राजनैतिक अथवा सामाजिक चेतना न थी उस समय मनुष्यों में किसी प्रकार का अधिकार की भावना नहीं हो सकती। नैसर्गिक अधिकारों का अर्थ केवल मनुष्य के वही वास्तविक अधिकार हैं जिनकी मनुष्य के जीवन के लिए अत्यंत आवश्यकता है और जिनके बिना मनुष्य की ऊपर वर्णन की हुई उन्नति नहीं हो सकती।

(२) **वैधानिक अधिकार सिद्धान्त**—वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों के विचारों के बिल्कुल विपरीत है। उनका मत है कि मनुष्य के अधिकारों की उत्पत्ति राज्य से ही होती है। राज्य में रह कर ही अधिकार प्रकट होते हैं अन्यथा नहीं। राज्य के विधान द्वारा जो वस्तुएँ हमारी हैं उन्हीं पर हमारा अधिकार

* लार्ड—प्रिंस्पिल्स आफ पालिटिक्स, पृष्ट २५४

है। जिन जिन कार्यों के करने के लिये राज्य के विधान हमको आज्ञा देते हैं वही हमारे अधिकार हैं। जो जो वस्तुएँ राज्य के विधानों द्वारा हमारे लिये अप्राप्त अथवा वर्जित हैं उन पर हमारा अधिकार नहीं है। अधिकारों का रूप निरपेक्ष नहीं है। 'पूर्णअधिकार' का विचार केवल कल्पना मात्र है। अधिकारों का संबंध राज्य के विधानों से है। स्वतन्त्रता का अधिकार, जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि सब प्रकार के अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। अधिकार प्राकृतिक वस्तु नहीं है। वे कृत्रिम हैं। वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायी नैसर्गिक अधिकारों को नहीं मानते। इनका कथन है कि यदि नैसर्गिक अधिकार ऐसे हैं जो राज्य के विधान द्वारा स्वीकृत हैं तो नैसर्गिक अधिकारों का नाम लेना अथवा उनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि वे तो राज्य द्वारा माने ही हुए हैं। और जिन नैसर्गिक अधिकारों की स्वीकृति राज्य के विधान नहीं देते हैं और राज्य का विधान उनको नहीं मानता है तो उन्हें अधिकार कहना व्यर्थ है, उनकी मनुष्य को आवश्यकता नहीं है। बेन्थम (Bentham) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त का कट्टर पक्षपाती है। वह केवल वैधानिक अधिकारों को ही अधिकार समझता है अन्य को नहीं।

आलोचना—यह विचार कि जो कुछ राज्य का विधान निर्धारित करे वही मनुष्य का अधिकार है और कुछ नहीं, मिथ्या है। यदि राज्य घूसखोरी, चोरी या दगाबाजी की विधान द्वारा आज्ञा दे दे तो क्या इनकी संज्ञा 'अधिकार' हो जायगी ? कदापि नहीं।

क्या राज्य सती की प्रथा को विधान द्वारा प्रचलित कर सकता है ? विधान का कार्य-क्षेत्र सीमित है। प्रत्येक कार्य विधान द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। लैस्की ने तो यहां तक कहा है कि "अधिकार राज्य की स्वीकृति की सीमा से बाहर है"। लेस्की के अनुसार अधिकारों का विधान से कोई सरोकार नहीं है लैस्की के इस विचार में भी अतिशयोक्ति है। स्पेन्सर (Spencer) का विचार है कि अधिकारों की उत्पत्ति राज्य से नहीं होती। राज्य तो केवल अधिकारों की रक्षा करने के लिये है। ऐन० वाइल्ड (N. Wilde) का कथन है कि "राज्य हमारे अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता। वह तो केवल उनको मानता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकार स्वतः विद्यमान हैं चाहे उनका विधानीकरण हुआ हो अथवा न हुआ हो। उन्हें (राज्य द्वारा) इसलिये बलपूर्वक नहीं प्रचलित किया जाता कि वे अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित हैं बल्कि इसलिये उन्हें बलपूर्वक मनवाया जाता

है कि वे अधिकार हैं"। यदि कोई वस्तु हमारा अधिकार है तो वह इसलिये अधिकार नहीं है कि वह अधिकार राज्य द्वारा स्वीकृत है बल्कि इसलिये कि उस वस्तु पर हमारा स्वामित्व नीतिपूर्ण है राज्य मनुष्य के नीतिपूर्ण स्वत्वों की रक्षा करता है।

यह विचार करना कि हमारे अधिकारों का निर्माता केवल राज्य ही है बिलकुल भ्रम है। राज्य हमारे अधिकारों का निर्माता अथवा निर्धारित करने वाला नहीं है। वास्तव में सर्वोच्चसत्ता राज्य की सबसे महान् सत्ता है परन्तु उसकी सत्ता भी किसी अंश तक सीमित है। प्रजा के रीति रिवाज, परम्परा, इतिहास तथा आचार-विचारों पर राज्य की सर्वोच्चसत्ता का अधिकार नहीं है। मनुष्य के अधिकार अधिकतर रीतिरिवाज, परम्परा तथा आचार विचारों पर निर्भर रहते हैं लिखित विधानों से इनका अधिक सम्बन्ध नहीं है। लैस्की का भी ऐसा ही विचार है उसका कथन है कि "अधिकार की पुष्टि आदत और परम्परा से होती है न कि इसलिये कि वह अधिकार विधान द्वारा कागद पर शब्द-बद्ध कर दिया गया है प्रत्येक देश के विधानों का निर्माण उस देश के निवासियों के रीतिरिवाजों पर निर्भर है। अपने देश के हिन्दू और मुस्लिम न्याय सम्बन्धी विधान हिन्दू और मुसलमानों की परम्परागत रीति-रिवाजों पर निर्भर हैं। अतः यह धारणा कि मनुष्य के अधिकार विधानों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं बिलकुल सत्य नहीं है।

वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के कुछ अनुयायियों का यह विचार है कि राज्य केवल वैधानिक अधिकारों की ही सृष्टि करता है। इस विचार के अनुसार वैधानिक अधिकार सिद्धान्त मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारों से सम्बन्ध नहीं रखता है वह तो केवल उन थोड़े से ही अधिकारों से संबंध रखता है जिनका सम्बन्ध राज्य से है। वैधानिक अधिकार सिद्धान्त हमको यह नहीं बतलाता कि जिन अधिकारों को विधान स्वीकार करता है वास्तव में वे अधिकार विधान द्वारा स्वीकार किये जाने चाहिये अथवा नहीं। इस 'चाहिये' का निर्णय करने के लिये विधान की सहायता से काम नहीं चल सकता। उसके लिए कोई अन्य मापदण्ड ढूंढ़ना पड़ेगा जो विधान के बाहर हो। यह मापदण्ड स्वयं विधान की अच्छाई बुराई की परख करने की कसौटी होगा। मनुष्य का मनुष्यत्व ही वह मापदण्ड है। सत्-असत् करनेवाली मानव-बुद्धि और उसके आधार पर निर्मित मानव आचार-विचार का प्रासाद ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। यह मनुष्यत्व लार्ड के शब्दों में नागरिकता से कहीं ऊँची वस्तु है। नागरिकता की रूप-रेखा ही विधान निश्चित कर सकता है मनुष्यत्व

की नहीं। वस्तुतः मनुष्यत्व ही यह निश्चय करता है कि विधान क्या होना चाहिये। इसलिये मनुष्यत्व ही अधिकारों का मूल स्रोत है। विधान अधिकार सिद्धान्त का स्पष्टीकरण प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त बातों का समझना आवश्यक है।

प्रत्यालोचना—वैधानिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का यह विचार कि 'मनुष्य के अधिकारों का निर्णय केवल राज्य ही करता है' युक्ति-संगत नहीं है। न इस सिद्धान्त के विरोधियों का यह विचार ही कि 'अधिकारों का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है' सत्य है। मनुष्य के वे अधिकार जिनके द्वारा मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति होती है, वास्तव में अधिकार हैं चाहे राज्य उन्हें स्वीकार करे चाहे न करे। प्राचीनकाल में अंग्रेज जमींदार अपने किसानों की जोती हुई भूमि और हरे भरे खेतों को पददलित करते हुए घोड़ों पर सवार होकर चले जाते थे। कोई उन्हें ऐसा करने से नहीं रोक सकता था। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन्हें ऐसा करने का अधिकार था। इसी प्रकार के बहुत से अनुचित रिवाज अधिकार समझे जाते थे। सती का रिवाज भी एक प्रकार से अधिकार समझा जाता था। इसी प्रकार भविष्य में भी ऐसा हो सकता है कि जो बातें अब अधिकार नहीं समझी जाती हैं, मनुष्य का अधिकार समझी जायें। बहुत से जनतन्त्र राज्यों में जनता ने अनेक अधिकार प्राप्त कर लिये हैं और करते जा रहे हैं। हमारे विचार से मनुष्यों के अगण्य अधिकार हैं। इन अधिकारों को किसी विधान द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता। वास्तविक अधिकार में वैधानिक तथा नैतिक दोनों प्रकार के लक्षण होने चाहिये। बोसांके का कथन है कि "अधिकार में दोनों गुण होने चाहिये वैधानिक और नैतिक। यह एक ऐसी अभियाचना है जो विधान द्वारा लागू की जा सकती हो (एक नैतिक आदेश विधान द्वारा लागू नहीं किया जा सकता) और विधान द्वारा लागू किये जाने योग्य भी हो अर्थात् उसमें नैतिकता का लक्षण भी वर्तमान हो। वास्तविक विधान में दो बातें होनी चाहिये, वह विधान द्वारा लागू किये जाने योग्य होना चाहिये और वह विधान द्वारा लागू किया जा सकता हो।" *

एक व्यक्ति को केवल अपनी ही शक्ति से नहीं बल्कि जनसम्मति अथवा समाज की शक्ति से दूसरे के कार्य पर अपना प्रभाव डालने की सामर्थ्य को वैधानिक अधिकार कहते हैं। वैधानिक अधिकार एक आदमी की

---

* बी० बोसांके फिलासाफिकल थ्यौरी आफ दी स्टेट—पृष्ठ १८७

वह सामर्थ्य है जिसके द्वारा राज्य की स्वीकृति और सहायता से वह दूसरों के कार्यों को नियंत्रित कर सके।* यह केवल वैधानिक अधिकार की परिभाषा है। 'राइट्स' या अधिकार का रूप जानने के लिये इसमें नैतिकता का पुट देना पड़ेगा। वैधानिक अधिकार के मुकाबिले में रिशी (Ritchie) नैतिक अधिकार की परिभाषा इस प्रकार करता है "नैतिक अधिकार मनुष्य की वह सामर्थ्य है कि जिसके द्वारा वह जन सम्मति की स्वीकृति तथा उसकी सहायता, या कम से कम बिना जनसम्मति के विरोध के, जनसम्मति को नियंत्रित कर सके" अथवा 'नैतिक अधिकार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर ऐसा दावा है जिसे समाज स्वीकार करता है चाहे उसे राज्य स्वीकार न करे"। †

(३) ऐतिहासिक अधिकार सिद्धान्त—ऐतिहासिक अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार है कि इतिहास ही अधिकारों का निर्माण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के जो रीति-रिवाज बहुत काल से चले आते हैं वही रीति-रिवाज अधिकारों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अछूत जातियाँ बहुत काल से हिन्दू लोगों के मंदिरों में नहीं जा सकती थीं। हिन्दुओं का यह अधिकार हो गया कि उनके मंदिरों में केवल वे ही पूजा कर सकें। अब से १० वर्ष पूर्व यदि कोई अछूत हिन्दुओं के मन्दिर में घुसता तो वह दण्ड का भागी होता था। इसी प्रकार कुछ उच्च हिन्दू जातियों में विवाह के समय लड़के वाला लड़की वाले से रुपये मांगना अपना अधिकार समझता है क्योंकि यह रीति बहुत समय से चली आ रही है। अन्य बहुत से ऐसे रीति रिवाज हैं जो कालान्तर में अधिकारों में परिवर्तित हो गये हैं और उनको देश के विधान भी स्वीकार करते हैं। हिन्दू और मुसलमानों के दीवानी विधान में इन जातियों के रीतिरिवाज ही अधिकारों में परिवर्तित हो गये हैं। न्यायालयों में ये अधिकार समझे जाते हैं और राज्य उन्हें स्वीकार करता है। बहुत से ऐसे अधिकार जिन्हें लोग नैसर्गिक बतलाते हैं वास्तव में परम्परागत रीति रिवाज हैं। ऐडमन्डबर्क (Edmund Burke) का कथन है कि फ्रांस की क्रान्ति मनुष्य के अव्यक्त अधिकारों का सहारा लेकर उठी थी। इङ्गलैण्ड की क्रान्ति इसके विपरीत प्रचलित अधिकारों की रक्षा के लिये हुई। वास्तव में बर्क का कथन सत्य है। इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा अच्छी न

* हालैण्ड—जूरिस्प्रूडेंस द्वितीय संस्करण पृष्ठ ६१-६२

† डी० जी० रिशी-नेचुरल राइट्स पृष्ठ ७८-७९

थी। राजा स्वेच्छाचारी शासक था, उसकी शक्ति अपरिमित थी। वह जो चाहता था, कर सकता था। समाज की दशा भी अच्छी न थी, एक ओर तो अमीर, ताल्लुकदार और धनी पुरुष थे जिनको कर भी कम देने पड़ते थे और वे स्वर्गीय जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी ओर वे श्रमिक और किसान थे जिन्हें पेट भर भोजन भी प्राप्त न होता था। एक और तीसरी श्रेणी के लोग थे जो व्यापार और व्यवसाय करके अपना जीवन व्यतीत करते थे। राज्य के कर का बहुत बड़ा भाग इन्हें देना पड़ता था परन्तु राज्य शासन में इन की सुनवाई न थी, इन्हें शासन प्रबन्ध में हाथ बटाने का अधिकार न था। लोगों ने समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुभाव की आवाज उठाई और क्रान्ति की। इसके विपरीत इङ्गलैण्ड की क्रान्ति का यह कारण था कि जिन अधिकारों का प्रयोग वहाँ की जनता सैकड़ों वर्षों से करती चली आ रही थी उन अधिकारों पर वहां के शासकों ने कुठाराघात किया। उन पर नवीन प्रतिबन्ध लगाये। लोग इन प्रतिबन्धों को सहन न कर सके और उन्होंने क्रान्ति की। उन्होंने अपनी बहुत पुराने समय से चली आने वाली स्वतंत्रताओं और सुविधाओं को महाधिकार पत्र (Magna Charta) और अधिकार प्रार्थना पत्र (Petition of Rights) के रूप में सामने रखा।

आलोचना—यह सत्य है कि बहुत से अधिकार ऐसे रीति-रिवाज हैं जो बहुत काल से परम्परागत चले आरहे हैं और अधिकार के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। परन्तु सब अधिकारों के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। सब अधिकार ऐसे नहीं हैं जो बहुत काल से रीतिरिवाज के रूप में प्रचलित रहे और फिर अधिकार बन गये। प्रोफेसर सुमनर (Prof. Sumner) का मत है कि "रीतिरिवाज ही अधिकार है" इसकी आलोचना करते हुए हाकिंग (Hocking) यह प्रश्न करता है कि 'जिस समय दास बनाना विधान द्वारा स्वीकृत था तो क्या वह अधिकार था? क्या शिशु-हत्या अधिकार था?" वह इसके उत्तर में कहता है कि "कदापि नहीं"। कुछ लोग दासता की प्रथा को सापेक्ष-अधिकार बतलाते हैं। अर्थात् पहले दासता प्रथा थी परन्तु अब नहीं है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि सारदा-विवाह-विधान और अछूतोद्धार सम्बन्धी विधान ऐसे विधान हैं जिनके द्वारा बहुत काल से प्रचलित रीतिरिवाजों को बन्द किया गया है। ये प्रथाएं मनुष्यों का अधिकार बन गई थीं परन्तु स्थिति और समय के अनुसार अब ये प्रथाएं घृणित समझी गई और उनका अन्त कर दिया गया। इसी प्रकार समय-समय पर लोगों के रीति-रिवाजों में भेद होते रहते हैं और इन्हीं भेदों के अनुसार राज्य के विधान

बनते रहते हैं। किसी जाति या समुदाय के रीति-रिवाज उसके नैतिक विचारों का ही प्रकट रूप होते हैं। नैतिक विचार ज्ञान व बुद्धि पर अवलम्बित रहते हैं। किसी काल विशेष में ज्ञान का स्तर जितना ऊंचा होगा और बुद्धि का जितना विकास होगा उसी के अनुसार रीति-रिवाज भी होंगे। जब ज्ञान समय के बीतन से अधिक शुद्ध होजाता हैं और बुद्धि अधिक परिष्कृत होजाती है तो नैतिकता का रूप भी बदल जाता है और उसके अनुसार ही पुराने रीति-रिवाज बदल कर नया रूप धारण कर लेते हैं। ये रीति-रिवाज ही विधान में बदल जाते हैं, जब समाज यह समझता है कि इनका माना जाना इतना अनिवार्य है कि उसके लिये राज्य शक्ति का प्रयोग करना भी उचित होगा। इसलिये इतिहास यह तो बतला देगा कि अमुक माँग या दावा अधिकार कहा जा सकता है क्योंकि पुराने समय से यह मान्य होता चला आ रहा है किन्त यह मान्य क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर केवल यह कहने से नहीं मिलता कि यह पुरानी प्रथा है। हाकिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "इतिहास की अवहेलना नहीं की जा सकती परन्तु उस पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता *।

लोककल्याण अधिकार सिद्धान्त—लोक कल्याण अधिकार सिद्धान्त के मतानुयायियों का कथन है कि अधिकारों के उत्पादन का कारण समाज है। समाज में रहकर जो सम्बन्ध व्यक्तियों में परस्पर स्थापित हो जाता है वही रीतिरिवाज में परिवर्तित हो जाता है तो यह अधिकार का रूप धारण कर लेता है और उसका उल्लंघन करने पर उल्लंघन करने वाला व्यक्ति समाज द्वारा दण्डित किया जाता है। डीन पाउन्ड (Dean Paund) और चैफी (Chafiee) इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनका मत है कि विधान, रीतिरिवाज, नैसर्गिक अधिकार आदि समाज की इच्छानुसार निर्धारित किये जाने चाहिये। जो समाज के लिये उपयोगी अथवा वाञ्छनीय हैं उन्हीं को प्रचलित रखना चाहिये। चैफी का मत है कि लोकहित के अनुसार अधिकारों को निर्धारित करना चाहिये। जिन बातों से समाज में दोष फैलें उन्हें निवारण करना चाहिये। उपयोगितावादी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका भी यही सिद्धान्त है कि लोकहित के अनुसार विधान बनाने चाहिये। बेन्थम और मिल ने उपयोगितावाद सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों के अधिकार निर्धारित करने का आदेश किया है। उनका मत है कि मनुष्यों के अधिकारों का निर्णय करने के लिये न तो केवल रीति-रिवाज आदि पर निर्भर रहना चाहिये और

* डब्ल्यू० ई० हाकिंग-ला एंन्ड राइट्स पृष्ठ ७

न मनुष्य के अन्तःकरण के आदेश पर ही निर्भर रहना चाहिये। मनुष्य को गुण और दोषों पर विचार करके समाज के हित की बातों पर निर्णय करना चाहिये। उपयोगितावादियों का सिद्धान्त है "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख।" वे इसी नियम के अनुसार समाज के रीति-रिवाज, विधान आदि का निश्चित करने का आदेश करते हैं। उनका मत है कि इन बातों का निर्णय करने के लिये मनुष्य को अपने अनुभव तथा बुद्धि से कार्य लेना चाहिये। लैस्की (Laski) का कथन है कि अधिकार को उपयोगिता की दृष्टि से देखना चाहिये। वह अधिकार की उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार करता है "राज्य के लोगों के लिये एक अधिकार जो महत्व रखता है वही उस अधिकार की उपयोगिता है।" * वह कहता है कि "हमारे अधिकार समाज से पृथक् नहीं हैं वे समाज में अन्तर्निहित हैं। हम उन अधिकारों को इसलिये अपनाते हैं कि हम अपनी और उनकी, दोनों की रक्षा करें।"† लैस्की फिर कहता है कि "अधिकार और कृत्य अन्योन्याश्रित हैं। मैं इसलिये अधिकार रखता हूँ कि मैं उससे सामाजिक उद्देश्य पूरा करूँ। मुझे असामाजिक रीति से कार्य करने का अधिकार नहीं है। यदि मैं कुछ लेने का अधिकार रखूँ तो मुझे कुछ देना भी चाहिये। अतः अधिकार में कृत्य गर्भित है।" ‡ वह फिर लिखता है कि "मुझे मनमानी करने का अधिकार नहीं है। मेरे अधिकारों का निर्माण सदैव मेरे लोकोपयोगी कृत्यों के आधार पर हुआ है और वास्तव में मेरी अभियाचनायें ऐसी होनी चाहिये जो कार्यों को उचित रूप से करने के लिये आवश्यक हों। इस दृष्टि से समाज के द्वारा मेरी मांगें स्वीकृत होनी चाहिये क्योंकि उनकी स्वीकृति में समाज द्वारा स्वीकृत होने योग्य लोकहित गर्भित है।"+ अन्त में वह फिर कहता है कि "मैं लोकहित के विरुद्ध अधिकार नहीं रख सकता क्योंकि ये अधिकार एक ऐसे हित के विरुद्ध हैं जिसमें मेरा हित सम्मिलित है।"×

आलोचना—जितने अधिकार सिद्धान्तों का अब तक वर्णन किया गया है उन सब में सबसे श्रेष्ठ सिद्धान्त यही है। वास्तव में लोकहित के आधार पर ही अधिकारों का निर्णय होना चाहिये। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये

* ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स पृष्ठ ९२
† ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स पृष्ठ ९४
‡ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९४
\+ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९५
× ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ९६

कि वास्तव में यह सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। इस सिद्धान्त में भी कुछ दोष हैं।

इस सिद्धान्त में अधिकारों का निर्णय लोकोपयोगिता के अनुसार किया जाता है। अतः हमको इस बात पर विचार करना चाहिये कि लोकोपयोगिता का क्या अर्थ है। यदि इसका अर्थ "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" समझा जाय तो हमारे पास इस बात को जाँच करने का कोई ऐसा माप नहीं है जिसके द्वारा यह ठीक ठीक निश्चित किया जा सके कि वास्तव में अमुक अधिकार द्वारा "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" होगा। समाज के भावों को ठीक ठीक समझना सरल कार्य नहीं है।

इस सिद्धान्त में एक और दोष यह है कि ऐसा भी संभव हो सकता है कि एक लोकोपयोगी कार्य ऐसा हो जिससे व्यक्तिगत हित का ह्रास होता हो। साधारणतया ऐसा होता है कि लोकोपयोगी कार्यों में व्यक्तिगत हित गर्भित रहता है। परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं कि लोकहित के लिये व्यक्तिगत हितों को त्यागना पड़ता है। त्यागना ही नहीं पड़ता बल्कि कभी-कभी व्यक्तिगत हितों का बलिदान भी लोकहित के लिये करना पड़ता है। महाभारत में भी लिखा है—

'त्यजेदेकम् कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जानपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथवीन्त्यजेत् ॥"

अर्थात् कुल के हित के लिये एक व्यक्ति को त्याग देना चाहिये (बलिदान कर देना चाहिये), ग्राम के हित के लिये एक कुल का त्याग किया जा सकता है। एक प्रान्त के हित के लिये एक ग्राम का त्याग करना चाहिये और आत्मोन्नति के लिये संपूर्ण पृथ्वी को त्याग देना चाहिये। 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' नियम का यही अभिप्राय है। इस मत के मानने वालों का कथन है कि बहुमत के हित के लिये अल्पमत के हितों की अवहेलना की जा सकती है। प्रोफेसर हार्किंग ने एक कहानी लिखी है कि एक उप-नौसेनापति से यह प्रश्न किया गया कि क्या आप सेना का सामान्य नैतिक स्तर उच्च करने के लिये एक निर्दोष व्यक्ति का बलिदान कर देंगे? तो उस सेनापति ने शीघ्र यह उत्तर दिया कि "अवश्य"। एक बार अमरीका के संयुक्त-राज्य का एक जहाज तूफान के कारण एक चट्टान से टकरा कर नष्ट हो गया। नाविकों को कई दिवस तक भोजन न मिला। उन्होंने अपने में से एक व्यक्ति को मार कर खा लिया। क्या ऐसी दशा में अधिक लोगों को भूखों मरने से बचाने के लिये इस प्रकार एक व्यक्ति को मारकर खा

जाना उचित था ? संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय में इन लोगों पर मुकदमा चलाया गया और दण्ड दिया गया। वास्तव में ऐसी दशा में उस न्यायालय ने उचित कार्रवाई की चाहे उस व्यक्ति के बलिदान से बचे हुये लोगों की प्राण रक्षा हुई किन्तु उनका यह कार्य निन्दनीय ही था। सामुदायिक हित के आधार पर सत्य-असत्य या उचित-अनुचित का निर्णय ठीक नहीं हो सकता। ऐन० वाइल्ड (N. Wilde) का कथन है कि 'यदि अधिकारों का निर्णय समाज की स्वीकृति पर निर्भर रहेगा तो मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में अपील करने का अधिकार ही न रहेगा और व्यक्ति को समाज की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर रहना पड़ेगा।"*

(५) **आदर्शवादी अधिकार-सिद्धान्त**—आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त के अनुयायियों का मत है कि अधिकार वास्तव में वे वाह्य परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य की आन्तरिक प्रगति के लिये आवश्यक हैं अर्थात् वे सब बातें जो मनुष्य की नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं, वही मनुष्य के अधिकार हैं। क्रौज (Krause) का विचार है कि "विवेक-शील जीवन के लिये आवश्यक वाह्य स्थितियों के सम्पूर्ण एकावयवी रूप को अधिकार कहते हैं।" † हेनरीसी (Henrici) का मत है कि "मानव-व्यक्तित्व को पूर्ण उन्नति करने तथा उसको स्थित रखने के अभिप्राय से आवश्यक भौतिक परिस्थितियों को बनाये रखने के लिये जो वस्तु वास्तव में आवश्यक है वही अधिकार है।" ‡ ऐन० वाइल्ड का कथन है कि "कुछ कार्यों को कार्यान्वित करने के लिये अधिकार स्वतन्त्रता की अभियाचना है।"+इन सब उद्धरणों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत विकास का आधार अधिकार है। बिना अधिकारों के मनुष्य की व्यक्तिगत, दैहिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। कुछ ऐसी सांसारिक तथा भौतिक वस्तुएं हैं जिनकी मनुष्य की आत्मिक उन्नति के लिये बड़ी आवश्यकता है। इन वाह्य वस्तुओं तथा परिस्थितियों का नाम ही अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य का यह अधिकार है कि वह सब प्रकार से जितना हो सके अपने व्यक्तित्व का विकास करे अर्थात् अपनी बौद्धिक व आध्यात्मिक

---

* ऐन० वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ १२४

† टी० ऐच० ग्रीन-प्रिंसपल्स आफ पोलीटिकल आब्लीगेशन पृष्ठ ३५ फुटनोट

‡ " " " "

+ एन० वाइल्ड-ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट पृष्ठ ११५

शक्ति को प्रस्फुटित होने का अधिक से अधिक अवसर दे। यही मनुष्य का प्रमुख व मौलिक अधिकार है। अन्य सब अधिकार इसी से निसृत हैं। जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार भी पूर्ण निरपेक्ष अधिकार नहीं हैं। ये सापेक्ष अधिकार हैं। ये तो केवल व्यक्तित्व अधिकार से सापेक्षता रखते हैं। अर्थात् यों कह सकते हैं कि मेरा अपने जीवन पर वहीं तक अधिकार है जहां तक मेरा अपने उच्चतम आत्मिक विकास से सम्बन्ध है। मैं आत्मघात नहीं कर सकता, मुझे यह अधिकार नहीं है। यदि मैं अपने जीवन का सदुपयोग नहीं करता हूँ तो मेरे जीवन पर मेरा यह अधिकार छीना जा सकता है। ग्रीन का कथन है कि "अधिकार वे शक्तियाँ हैं जो नैतिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक हैं।" * इस सिद्धान्त में मनुष्य की नैतिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त केवल उन्हीं अधिकारों को स्वीकार करता है जो मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिक उन्नति में सहायक होते हैं। इस सिद्धान्त का मूलभूत आधार नैतिक उन्नति है। इस अधिकार के लिये दो मुख्य बातें हैं। पहली बात तो यह है कि मुझे समाज को यह विश्वास दिलाना आवश्यक है कि अमुक अधिकार मेरी आत्मोन्नति के लिये अनिवार्य है और दूसरी यह कि इस अधिकार की अभियाचना से मैं किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाता हूँ और दूसरा व्यक्ति निर्विघ्न अपनी आत्मोन्नति बिना मेरे किसी प्रकार के हस्तक्षेप के कर सकता है। उदाहरणार्थ, मेरा अपने जीवन पर अधिकार है। इसका यह अभिप्राय है कि (१) मैं इस अधिकार की दूसरे से अभियाचना करता हूँ (२) मैं दूसरे व्यक्ति के इस प्रकार के अधिकार को स्वीकृत करता हूँ (३) मैं समाज को यह विश्वास दिलाता हूँ कि मैं वास्तव में इस अधिकार को स्वहित के लिये प्रयोग करूँगा। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता। ऐन वाइल्ड का कथन है कि "अधिकार एक व्यक्ति की, सामाजिक व्यवस्था में एक विशेष स्थान पर एक विशेष कृत्य के लिये, कार्य करने की स्वतन्त्रता है।" † प्रोफेसर हार्किंग का मत है कि "अधिकार उस इच्छा की पूर्ति का दावा है जिस इच्छा का सामाजिक हित से थोड़ा बहुत मेल है।" इस मेल के कारण और नैतिकता के आधार पर प्रत्येक सच्चे अधि-

---

* टी० ऐच० ग्रीन-प्रिंस्पल्स आफ पौलीटिकल आब्लीगेशन पृष्ठ ४३

† एन वाइल्ड—ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टट पष्ठ १२

कार की मांग करते समय निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी अपने अन्दर साहस और बल बटोर लेता है क्योंकि वह जानता है कि उसकी मांग के सामने समाज के समझदार व्यक्ति सिर झुकाये बिना न रहेंगे। समझदार व्यक्तियों से तात्पर्य यहां उन व्यक्तियों से है जो अपने वास्तविक हित को पहिचानने की योग्यता रखते हैं और यह जानते हैं कि नीति-अनीति क्या है।

डाक्टर हॉकिंग कहता है कि जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से अपने अधिकार की अभियाचना करता है तो उस व्यक्ति से वह ऐसा कहता है "यदि तुम मेरे अधिकारों का उल्लंघन करते हो तो तुम अपने को अत्यन्त हानि पहुँचाते हो"। दासता की प्रथा द्वारा दास की अपेक्षा दास रखने वाले को अधिक कष्ट होता है। दास को तो केवल शारीरिक कष्ट मिलता है परन्तु दास रखने वाले की आत्मा का हनन होता है जो शारीरिक कष्ट से अधिक कष्टकारी है। अतः दूसरों के अधिकारों का सन्मान करने में मैं अपने अधिकारों को प्राप्त रखता हूं।

आलोचना—आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मोन्नति का समर्थन करता है। यह सिद्धान्त वास्तव में सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु इसको कार्यान्वित करना कठिन प्रतीत होता है। राज्य किस प्रकार इस बात का निर्णय करेगा कि कौन कौन सी बातें मनुष्य के व्यक्तित्व उन्नति के लिये आवश्यक हैं? व्यक्तित्व कोई ऐसी वस्तु नहीं जो नापी, तौली जा सके। यह तो अन्तःकरण का धर्म है। मैं स्वयं अपने व्यक्तित्व को समझ सकता हूँ दूसरे के व्यक्तित्व को देख नहीं सकता। ऐसी दशा में राज्य केवल कुछ निश्चित परिस्थितियों द्वारा सहायता कर सकता है और मनुष्य उन परिस्थितियों से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए स्वतंत्र किये जा सकते हैं। एक और विशेष बात इस सिद्धान्त में लोक कल्याणवादी सिद्धान्त की तरह आदर्शवादी सिद्धान्त भी मानव हित के अनुकूल सुविधाओं को अधिकार का रूप देता है। दोनों ही सिद्धान्तों में यह दोष है कि यह मालूम करना कठिन है कि समाज या व्यक्ति का सुख या हित किस बात में है। दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ सुविधायें सर्वसम्मति से समाज को सुखकारी व हितकारी समझ ली जाती हैं और उन्हें अधिकार का रूप दे दिया जाता है। यहां तक तो दोनों सिद्धान्त साथ साथ चल सकते हैं। कठिनाई तो तब आती है जब व्यक्ति के हित और सम्पूर्ण समाज के हित का मेल नहीं खाता। उस समय लोक कल्याण सिद्धान्त के अनुसार वही सुविधा अधिकार है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुख देने वाली हो, चाहे उस अधिकार के देने से कुछ व्यक्तियों

के आत्मविकास में बाधा हीं क्यों न पड़े। ऐसी परिस्थिति में आदर्शवादी और लोक कल्याण सिद्धान्त में टक्कर हो जाती है और यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वास्तव में अधिकार क्या है। आदर्शवादी सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं साध्य है किसी दूसरे के सुख या हित का साधन नहीं, बहुमत के हित में उसका बलिदान नहीं किया जा सकता। लोक कल्याण सिद्धान्त ऐसे बलिदान को न्याय संगत ठहराता है।

लोककल्याण सिद्धान्त को आदिभौतिक सिद्धान्त भी कह सकते हैं क्योंकि लोककल्याण से इस सिद्धान्त का अभिप्राय लोक के भौतिक सुख से ही है। यह सुख संसार के पदार्थों से प्राप्त होता है। आदर्शवादी सिद्धान्त इसके विपरीत इन्द्रियजन्य भौतिक सुख से सम्बन्ध न रख कर उस आध्यात्मिक उन्नति और शान्ति से सरोकार रखता है जो मनुष्य के जीवन का ध्येय माना जाता है। लोक-कल्याण सिद्धान्त अधिक संख्या पर जोर देता है, आदर्शवादी प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य समझता है। व्यक्तित्व का विकास और उसकी पूर्णता इन्द्रियजन्य सुख से कहीं ऊंचे दर्जे की वस्तु है। व्यक्तित्व के आधार पर अधिकारों का रूप अधिक व्यापक और चिरस्थायी होगा। लोक कल्याण की नींव पर जमे हुये अधिकार सदा डगमगाते रहेंगे।

विशिष्ट अधिकार

अब तक हमने अधिकारों के रूप के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्तों की चर्चा की। यह निश्चित होजाने के पश्चात् कि अधिकारों का सामान्य रूप क्या है, हम अब उन विशिष्ट अधिकारों का वर्णन करेंगे जो साधारणतया राज्यों में व्यक्ति के समझे जाते हैं। राज्य व्यक्ति पर नियंत्रण करता है। इस नियंत्रण को उचित सीमा के भीतर रखने के लिये सदा से यह भावना रही है कि राज्य व्यक्ति के कुछ अधिकारों का आदर करेगा और अपना नियंत्रण इस प्रकार रखेगा कि उन अधिकारों पर किसी प्रकार का आघात न हो। ऐसी भावना न रहने से राज्य की शक्ति निर्बाध होने का भय रहता है जो न व्यक्ति के लिये और न राज्य के लिये हितकारी है। आधुनिक काल में भी सब राज्य अपनी प्रजा के कुछ विशेष अधिकारों को स्वीकार करते और उनकी रक्षा करते हैं। परन्तु शासनों का अथवा राजशास्त्रवेत्ताओं का कभी इस विषय पर एक मत नहीं हुआ है कि कौन कौन से अधिकार मनुष्य के वास्तव में विशेषाधिकार समझने चाहिए। मनुष्यों के व्यक्तिगत मूल भूत अधिकारों की गणना बिल्कुल ठीक ठीक नहीं हो सकती। साधारणतया

निम्नलिखित अधिकार हैं जिन्हें शासन मनुष्य के मूल-भूत अधिकार समझता है, उनकी रक्षा करता है और वास्तव में जिनकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् दो प्रकार के अधिकारों का वर्णन किया जाता है—जो अधिकार शासन वास्तव में स्वीकार करता है और आदर्श अधिकार जो शासन को स्वीकार करने चाहिये—

(१) जीवन का अधिकार।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार।

(३) समानता का अधिकार।

(४) सम्पत्ति का अधिकार।

(५) राजनैतिक अधिकार। और

(६) राज्य का विरोध करने का अधिकार।

(१) **जीवन का अधिकार**—मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण अधिकार जीवन का अधिकार है। मानव जीवन प्रकृति देवी के आविर्भाव व विकास की सबसे ऊंची सीढ़ी है। यह विकास मानव तक ही समाप्त हो गया हो ऐसा विश्वास करना कठिन है। स्वर्गीय अरविन्द के कथनानुसार मानव का विकास उससे भी ऊंची किसी वस्तु में होने वाला है। इसीलिए जीवन की लालसा प्रकृति का धर्म है। यह लालसा इतनी अदम्य है कि किसी भी स्थिति में मनुष्य मरना नहीं चाहता। यदि परिस्थिति विशेष में किसी समय कोई कहता है कि मैं मर जाऊं तो उस समय भी उस कथन के पीछे कष्टहीन दूसरी परिस्थिति में जीवित रहने की इच्छा बनी रहती है। समाज जीवन अधिकार को इसलिये मानता है कि प्रथम तो वह प्रकृति का धर्म है। ऐसा अधिकार न मानना प्रकृति विकास क्रिया में बाधा डालना होगा, उच्च मानव या दैव के प्रकट होने में रोड़ा अटकाना होगा। दूसरे व्यक्ति समाज का अङ्ग है। समाज के लिये वह एक उपयोगी वस्तु है। उसका मर जाना समाज की हानि होगी। जीवन-अधिकार में इसलिये दो शर्तें लगी रहती हैं। यह अधिकार तभी तक मान्य है जब तक व्यक्ति अपनी आत्मा की उन्नति में जीवन का उपयोग करे और समाज की हानि न करे। जीवन के अधिकार में स्वतंत्रता भी सम्मिलित है क्योंकि जब तक मनुष्य को स्वतंत्रता न होगी वह अपनी इच्छानुसार अपना जीवन मार्ग निश्चित नहीं कर सकेगा। इसलिए टी० ऐच० ग्रीन ने 'जीवन का अधिकार' और 'स्वतन्त्रता का अधिकार' इन दोनों अधिकारों को मिलाकर वर्णन किया है। क्योंकि उसका विचार है कि बिना स्वतन्त्रता के जीवन व्यर्थ है। यदि किसी

व्यक्ति का अपने जीवन पर अधिकार नहीं है अर्थात् वह अपनी इच्छानुसार उसको व्यतीत नहीं कर सकता है तो उसका जीवन व्यर्थ है। एक दास का अपने जीवन पर अधिकार नहीं होता। वह अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार व्यतीत नहीं कर सकता। वह तो अरस्तू के शब्दों में एक "जीवित उपकरण" है। वह सदैव अपने स्वामी की इच्छानुसार कार्य करता है, अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता। उसे जीवन पर अधिकार नहीं है। अतः जीवन के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। वास्तव में सब अधिकार व्यक्तिगत हैं परन्तु 'जीवन का' और 'स्वतन्त्रता का' ये दोनों अधिकार विशिष्ट रूप से व्यक्तिगत अधिकार हैं। प्रत्येक मनुष्य का यह विशिष्ट व्यक्तिगत अधिकार है कि वह अपने जीवन को तथा अपने शरीर को जिस प्रकार चाहे, रखे, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह अपने जीवन का अथवा अपने शरीर का दुरुपयोग करे। उसको ऐसे कार्य करने का अधिकार नहीं जिनसे उसके जीवन तथा शरीर का नाश हो। यदि वह ऐसा करेगा तो राज्य उसमें हस्तक्षेप कर सकता है और उसे ऐसा करने से रोक सकता है। जीवन के अधिकार में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं :—

(क) प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि जीवित रहे।
(ख) प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह किसी की हत्या न करे।
(ग) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा करने का अधिकार है।
(घ) प्रत्येक व्यक्ति को संतान उत्पन्न करने तथा कुटुम्ब बनाने का अधिकार है।
(ङ) प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार है और,
(च) प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, वस्त्र तथा जीविकोपार्जन के लिए कार्य प्राप्ति का अधिकार है।

(क) जीवित रहने का कर्तव्य—प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जीवित रहे। प्रत्येक धर्म में आत्मघात को पाप समझा जाता है। जीवन बड़ी पवित्र वस्तु है। प्रत्येक धर्म के अनुसार जीवन ईश्वर की एक धरोहर है जो मनुष्य को इस लिए सौंपी गई है कि वह इसको भली प्रकार से रखे। इसका दुरुपयोग करना धार्मिक दृष्टि से पाप है। राज्य भी जीवन के दुरुपयोग को बुरा समझता है। आत्मघात करना या जीवन को नष्ट करने वाले कार्य करना राज्य द्वारा सदैव वर्जित रहा है और वर्जित रहेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि जीवित रहे और अपने जीवन को उत्तम से उत्तम बनावे। व्यक्तिगत दृष्टि से जीवन की रक्षा करना और उसे भली प्रकार से व्यतीत

करना प्रत्येक व्यवित का कर्तव्य है इसी प्रकार सामाजिक दृष्ठि से भी जीवन की रक्षा और उसकी उन्नति करना उचित है। जीवन का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है। दूषित जीवन समाज को दूषित करेगा और श्रेष्ठ जीवन समाज का उपकार करेगा अतः समाज के हित के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन भली प्रकार व्यतीत करना चाहिए और उसकी उन्नति करनी चाहिए। गिलक्रिस्ट का कथन है कि "सार्वजनिक हित की दृष्टि से प्रत्येक जीवन बहुमूल्य है और स्वयं को अथवा अन्य को मार डालने का अभिप्राय है एक ऐसे जीवन का अन्त कर देना जिसके कर्तव्य भी हैं और अधिकार भी"। आधुनिक काल के आचारशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि आत्मघात नहीं करना चाहिये। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि किसी ऐसे रोग की अवस्था में जब कि स्वस्थ होने की कोई आशा नहीं है और कष्ट अधिक हो रहा है तो जीवन का अन्त किया जा सकता है। परन्तु ऐसा करने की आज्ञा कोई धर्म नहीं देता है। धर्म की दृष्टि से किसी भी दशा में आत्मघात करना पाप है।

(ख) **किसी की हत्या न करना**—जिस प्रकार एक मनुष्य ो जीवित रहने का अधिकार है उसी प्रकार दूसरे मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसका जीवन नष्ट न करे। अर्थात् किसी व्यक्ति को जान से मार डालने का किसी को अधिकार नहीं है। प्रत्येक का यह कर्तव्य है कि वह दूसरे को जीवित रहने दे और जिस प्रकार चाहे उसे अपना जीवन व्यतीत करने दे। जब तक एक व्यक्ति का जीवन दूसरे व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार की अनुचित बाधा नहीं डालता तब तक उसके जीवन का सम्मान आवश्यक ही नहीं बल्कि परम कर्तव्य है। सब धर्मों में दूसरे की हत्या करना महान् पाप है। अतः हत्या करना नैतिक अपराध है और वैधानिक अपराध भी। प्रत्येक राज्य में हत्या बड़ा भारी अपराध समझा जाता है और इसका दण्ड 'प्राण दण्ड' है। विधान द्वारा हत्या के अपराध में प्राण दण्ड देना कहाँ तक उचित है ? कुछ लोगों का मत है कि जो लोग हत्या करते हैं उन्हें मनुष्य समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं है, अतः उन्हें मार ही डालना उचित है। जो लोग इस बात के पक्ष में हैं कि हत्यारे को समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं है वे कहते हैं कि जो मनुष्य दूसरे की हत्या कर सकता है उसे प्राणदण्ड देना इसलिये आवश्यक है कि यदि उसे जीवित रखा जायगा तो वह समाज के लिये भयानक सिद्ध होगा और फिर हत्यायें करेगा। दूसरे लोगों का मत है कि हत्यारे को प्राणदण्ड न देकर आजन्म कारावास में डाल देना चाहिये

ताकि जीवित रहकर वह अपने पाप पर पश्चात्ताप करता रहे और उसे पता चले कि हत्या करने के अपराध में उसे कष्ट भोगना पड़ रहा है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनका मत है कि अपराधी को कारावास में डाल दिया जाय और जब वह पश्चात्ताप कर चुके और उसे ज्ञात हो जाय कि वास्तव में उसने अपराध किया था और ऐसी आशा हो कि उसने पश्चात्ताप कर लिया है और मनुष्य समाज के लिये अब वह हानिकारक नहीं है तो उसे छोड़ देना चाहिये। लार्ड बकमास्टर (Lord Buckmaster) का विश्वास है है कि मनुष्य ठीक प्रकार से सोच समझकर हत्या नहीं करता है। जो लोग प्राणदण्ड के विरोधी हैं उनका विश्वास है कि प्राणदण्ड बहुधा निर्दोषों को मिलता है और वास्तविक अपराधी बच जाता है, द्वितीय यह कि प्राणदण्ड का समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जीवन को तुच्छ समझने की भावना फैलती है और क्रूरता बढ़ती है, तृतीय बात यह है कि बहुत से हत्यारे अपराध की गम्भीरता को नहीं समझते हैं, अतः ऐसे मनुष्यों की बुद्धि ठीक करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। चतुर्थ बात यह है कि हत्या के प्रतिकार में हत्या की प्रथा बहुत प्राचीन है और उस समय से चली आ रही है जब मनुष्य असभ्य थे। अतः अब इस प्रथा को बन्द कर देना चाहिये क्योंकि अब मनुष्य समाज बहुत सभ्य हो गया है। ऐसे मनुष्य को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। पञ्चम बात यह है कि प्राणदण्ड कोई अधिक कठोर और अपराध-निवर्तक दण्ड सिद्ध नहीं हुआ है। हत्या के अपराध में प्राणदण्ड देने से यह अपराध कम नहीं हुआ है बल्कि बढ़ता ही जा रहा है अतः प्राणदण्ड देना इस दृष्टि से व्यर्थ है।

प्राणदण्ड के पक्ष अथवा विपक्ष में लोगों का कुछ भी मत हो, हमारा तो यह विश्वास है कि हत्यारे को समाज में रहने का अधिकार नहीं है। हत्यारे के जीवन का अन्त ही कर देना न्यायसंगत प्रतीत होता है। देखा गया है कि बहुत से हत्यारे पागल समझकर कुछ दिन पागलखानों में रखे गये और फिर छोड़ भी दिये गये हैं। यह बात भी अनुचित है। चाहे वह पागलपन में ही हत्या क्यों न करे, उसको समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं है।

(ग) स्वरक्षा का अधिकार—गिलक्रिस्ट का कथन है कि "स्वरक्षा के लिये शक्ति का प्रयोग करना उचित है चाहे शक्ति के प्रयोग में दूसरों की हत्या क्यों न हो जाय"। परन्तु उसने यह भी कहा है कि "इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग उग्र दशा में तभी किया जा सकता है जब अन्य साधन

उपयुक्त सिद्ध न हुए हों"* । आजकल लोगों का यही विश्वास है कि स्वरक्षा करना उचित है परन्तु अत्याचार करना उचित नहीं है । इस बात का निर्णय करना कठिन है कि स्वरक्षा में किया हुआ शक्ति का प्रयोग किस सीमा तक उचित और फिर अनुचित हो जाता है ।

क्या यह बात राज्य के लिये उचित है कि वह मनुष्य को युद्ध के लिये सेना में भर्ती करके युद्धक्षेत्र में भेजकर मरवा डाले ? क्या ऐसा करने में राज्य मनुष्य के जीवित रहने के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करता ? टी० ऐच० ग्रीन (T. H. Green) युद्ध को पूर्णरूप से उचित नहीं समझता है । उसका कथन है कि "युद्ध सापेक्षतया उचित हो सकता है क्योंकि एक बुराई को ठीक करने के लिये दूसरी बुराई की जाती है । परन्तु बुराई तो बुराई ही रहती है और जिन लोगों ने पहली बुराई की थी वे तो मर जाते हैं, एक और बुराई कर जाते हैं जिसके द्वारा वे पहली बुराई को ठीक करते हैं" † इसका अभिप्राय यह है कि युद्ध एक दूषित वस्तु है । एक बुराई को दूर करने के लिये युद्ध किया जाता है । युद्ध दूसरी बुराई है । बुराई द्वारा बुराई का सुधार किया जाता है । ग्रीन का मत है कि एक आदर्श राज्य में युद्ध की आवश्यकता ही नहीं है । युद्ध वास्तव में एक नैतिक दोष है ।

(घ) सन्तान उत्पत्ति तथा कौटुम्बिक जीवन का अधिकार—संसार में यह बात देखने में आती है कि कौटुम्बिक जीवन पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है । यह एक प्राकृतिक तथा अनिवार्य स्थिति है जिसमें प्रत्येक प्राणी को रहने की आवश्यकता है । कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने में प्राणी को सुख प्राप्त होता है । कुटुम्बी जीवन के साथ संतान उत्पत्ति भी प्राकृतिक है । यह भी किसी प्रकार नहीं रोकी जा सकती । कुटुम्बी जीवन व्यतीत करना और संतान उत्पन्न करना मनुष्यों का नैसर्गिक अधिकार है । जब से संसार में मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है तब से आज तक इस अधिकार को सब दशाओं में स्वीकार किया गया है । जब लोगों में राजनैतिक चेतना न थी तब भी लोग स्वतन्त्रता पूर्वक कुटुम्बी जीवन व्यतीत करते थे और ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति हुई त्यों त्यों इस अधिकार की पुष्टि होती गई । मनुष्यों का कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने का अधिकार है और संतान उत्पन्न करने का भी । परन्तु इस अधिकार को भी स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं भोगने दिया जा सकता यदि समाज को सुखी

---

* आर० ऐ० गिलक्रिस्ट प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ १४२

† ई० बार्कर-पौलीटिकल थाट इन इंगलैण्ड फ्राम स्पेन्सर टु टुडे पृष्ठ ४५

तथा समृद्धिशाली बनाना है। वास्तव में राज्य का यह कर्तव्य है कि अन्धे, अपाहिज कोढ़ी, तथा आजीवन रोगी को इस अधिकार से वंचित रखा जाय। क्योंकि ऐसे लोगों की संतान कभी पूर्णरूप से स्वस्थ नहीं हो सकती। यदि ऐसे लोगों को विवाह करने से नहीं रोका जायगा तो अस्वस्थ नागरिक उत्पन्न होंगे। ये लोग राज्य के लिये एक असह्य भार बन जायेंगे। इन्हें पालने के लिये राष्ट्र के धन का व्यर्थ अपव्यय होगा। प्राचीन काल में यूनान के स्पार्टा राज्य में यह प्रथा प्रचलित थी कि बच्चे को उत्पन्न होते ही एक रात्रि के लिये बाहर डाल दिया जाता था यदि वह दूसरे दिन प्रातःकाल जीवित रहता था तो उसे पाल लिया जाता था। ऐसे बच्चे बड़े होकर हृष्ट-पुष्ट होते थे बीमार भी बहुत कम होते थे और अधिकतर स्वस्थ रहते थे। अतः प्रत्येक राज्य का यह धर्म है कि मनुष्यों को कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे, परन्तु ऐसे व्यक्तियों को कभी कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने की आज्ञा न दे जो समाज के लिये अहितकर हों। वास्तव में होना तो यह चाहिये कि जिन लोगों के पास आय का साधन नहीं है और जीविका उपार्जन करने का साधन नहीं है उन्हें कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने से रोका जाय। मनुष्य को तभी विवाह करने की आज्ञा दी जाय जब वह अपनी जीविका उपार्जन करने योग्य हो अन्यथा नहीं। क्योंकि जिन लोगों के पास जीविका उपार्जन करने का साधन नहीं है उनको यदि सन्तानोत्पत्ति करने से न रोका जायगा तो देश में दरिद्रता फैलेगी। लॉरीमर (Lorimer) का कथन है कि "जो व्यक्ति अपनी संतान को मानुषिक शिक्षा नहीं दे सकता है उसे विवाह करने का उसी प्रकार नैसर्गिक अधिकार नहीं है जैसा उस पुरुष को जो संतान उत्पन्न नहीं कर सकता है"। *

(ङ) **सम्पत्ति का अधिकार**—जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को कुटुम्बी जीवन व्यतीत करने और संतान उत्पन्न करने का नैसर्गिक अधिकार है उसी प्रकार उसे सम्पत्ति रखने का भी अधिकार है। इतिहास काल के आरम्भ में जब मनुष्य कुटुम्बी जीवन व्यतीत करते थे, उस समय उनके पास कुछ भूमि भी होती थी जिससे वे अपनी भोजन सामग्री उत्पन्न करते थे। कुटुम्ब के अधिकार के समान भूमि तथा अन्य सम्पत्ति भी प्रत्येक मनुष्य के लिये अनिवार्य है। अब सभ्यता की उन्नति के कारण भूमि तथा पशु के अतिरिक्त कुछ न्य प्रकार की सम्पत्ति भी है जिस पर मनुष्य का जन्मजात अधिकार है।

---

* डी० जी० रिशी—नैचुरल राइट्स पृष्ठ १२८

प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये एक घर रखने का अधिकार है। बिना घर के मनुष्य एक बन्जारे की भांति अथवा भांतू और कंजड़ की भांति है। राज्य को मनुष्य के इस अधिकार को भी स्वीकृत करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य के पास निवास के लिये एक निश्चित क्षेत्रफल का घर होना परम आवश्यक है। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है चल और अचल। अचल सम्पत्ति में भूमि, गृह आदि सम्मिलित हैं। चल-संपत्ति में घरेलू आवश्यक सामान, जो मनुष्य के गृहस्थ जीवन को सुख पूर्वक व्यतीत करने के लिये आवश्यक है, सम्मिलित हैं। खाट, बर्तन आदि चल-सम्पत्ति हैं। इन वस्तुओं का होना भी मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अतः मनुष्य के पास आवश्यक चल और अचल संपत्ति होनी चाहिये। राज्य को देखना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति के पास आवश्यक सम्पत्ति है या नहीं। यदि नहीं है तो राज्य को उसे प्राप्त कराने में सहायता करनी चाहिये।

कौटुम्बिक जीवन और सम्पत्ति राज्य को स्थिरता प्रदान करती हैं। जिस राज्य में अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास कोई निजी चल या अचल सम्पत्ति नहीं है या जिनको स्नेहपाश में बाँध कर रखनेवाले कुटुम्बीजन नहीं हैं, उस राज्य की प्रजा पतझड़ के उन पत्तों के समान व्यवहार करती है जो हवा के एक हलके झोंके में ही इधर से उधर उड़ जाते हैं। आजकल विश्व में जो हलचल दिखाई देती है उसका कारण यही है कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है जिनके पास न कुटुम्ब है, न घर। ये दोनों वस्तुयें व्यक्ति के चरित्र में शुद्धता और संयम लाती हैं। यदि राज्य चरित्रवान संयमी व्यक्तियों का राज्य बनना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति और उसके कुटुम्ब की रक्षा करे। केवल रक्षा से ही काम न चले तो उसे इस ओर कुछ सक्रिय कदम भी उठाना चाहिये।

सम्पत्ति के अधिकार के प्रश्न का महत्व आजकल अधिक बढ़ गया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक युग की जितनी बुराइयां हैं उनका कारण है वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार और इन बुराइयों को दूर करने का एकमात्र साधन है इस अधिकार को समाप्त कर सब सम्पत्ति पर समाज के अधिकार की स्थापना करना। वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार से जो सांसारिक उन्नति हुई है इसे सभी स्वीकार करते हैं। इस अधिकार के बिना भी उद्योग, विज्ञान, कला और साहित्य की उन्नति उतनी ही होती इससे सब सहमत नहीं हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति और उस सम्पत्ति से प्राप्त होनवाले सुख की आशा व्यक्ति को जितना प्रेरित कर सकते हैं उतना अन्य कोई भाव नहीं कर सकता।

परिश्रम (चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक) उसके लिये आर्थिक प्रयोजन जितना सबल प्रेरक होता है उतना प्रेरक अन्य कोई मानवीय भाव अभी तक नहीं मिला है। व्यक्ति में परार्थभाव है अवश्य किन्तु स्वार्थभाव अत्यन्त प्रबल है। वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार से बुराई उस समय उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपने वर्तमान स्वार्थ को सर्वोपरि समझ कर भविष्य में सार्वजनिक उन्नति से प्राप्त होनेवाले सुख की परवाह नहीं करता और सार्वजनिक हितों को अपने निजी हित की वेदी पर बलिदान कर देता है। यह मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जहाँ वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार से मनुष्य की भौतिक उन्नति हुई है वहाँ उसके स्वार्थ की मात्रा बढ़ने से मनुष्यता की हानि भी हुई है। आर्थिक असमानता, ऊँच, नीच का भाव-निर्धनों का क्रूर शोषण, साम्राज्यों की स्थापना तथा पिछड़ी हुई जातियों की लूट, संक्षेप में पूँजीवाद की सारी बुराइयाँ इसी वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार पर अवलम्बित हैं। जिस समाज-व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार न हो वहाँ मनुष्यों को परिश्रम में लगानेवाली कौन सी प्रेरक शक्ति हो यह बड़ा कठिन प्रश्न है। कुछ अंश तक मानवीय उच्चभावों को प्रेरक बनाया जा सकता है किन्तु उसकी भी एक सीमा है। अन्त में सार्वजनिक कार्यों में लगानेवाली प्रेरक शक्ति केवल अधिकारियों का पशुबल ही रह जाता है। ऐसी व्यवस्था में भय ही मनुष्यों को काम करने के लिये बाध्य कर सकता है। जहाँ भय है वहाँ स्वतन्त्रता, सुख, आध्यात्मिक उन्नति नहीं रह सकती। इसलिये यह आवश्यक है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार का ऐसा संतुलन रखा जाय जिससे वैयक्तिक पुरुषार्थ घटने न पावे और सार्वजनिक हित भी सधता रहे।

(च) जीविकोपार्जन के लिये कार्य करने का अधिकार—जिस प्रकार मनुष्य को जीवन का अधिकार है, उसी प्रकार जीवन को बनाये रखने के लिये जीविका उपार्जन करने का अधिकार है। वर्तमान समय में इस बात पर अधिक जोर दिया जा रहा है कि प्रत्येक मनुष्य को जीविका उपार्जन करने के लिये कार्य प्राप्त करने का अधिकार है। राज्य का यह कर्तव्य है कि मनुष्य के इस अधिकार को वह स्वीकार करे। प्रत्येक मनुष्य को राज्य की ओर से कार्य दिलाने का प्रबन्ध होना चाहिये ताकि वह अपनी जीविका उपार्जन कर सके और समाज के लिये बोझ न हो। समाजवादियों का यह सिद्धान्त है कि राज्य की ओर से इस बात का प्रबन्ध होना चाहिये कि कोई व्यक्ति बेकार न रहे और सब कार्य करने योग्य पुरुष कार्य करें। यदि कोई

कार्य करने योग्य पुरुष कार्य न करे तो राज्य द्वारा उसे दण्ड दिया जाय और उसे कार्य करने के लिये बाध्य किया जाय। इन लोगों का यह मत है कि जब तक मनुष्य कार्य कर सकता है तब तक उससे कार्य लिया जाय। जब वह कार्य करने योग्य न रहे तो राज्य द्वारा उसकी जीविका का प्रबन्ध किया जाय और जब तक वह जीवित रहे उसे भोजन वस्त्र का कष्ट न हो। अतः इन लोगों का कथन है कि सब लोगों के लिये बीमा इत्यादि की योजना अनिवार्य होनी चाहिये। जब तक लोग कार्य करते रहें तब तक उनकी आय से कुछ रुपयों की कटौती करके उसे जमा किया जाय और जब वह व्यक्ति अवकाश प्राप्त करे, उसे वह धन इकट्ठा दिया जाय अथवा मासिक आय के रूप में दिया जाय जिससे उसे शेष जीवन में कोई कष्ट न मिले। लैस्की का कथन है कि 'या तो राज्य को अपने नागरिकों के हित के लिये औद्योगिक-शक्ति का अवश्य नियंत्रण करना चाहिये अन्यथा अपने स्वामियों के हित के लिये औद्योगिक शक्ति राज्य पर नियंत्रण करेगी।" * अठारहवीं शताब्दी की यद्भाव्यं नीति (Laissez faire) कि राज्य को व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, इस बीसवीं शताब्दी में प्रयोग नहीं की जा सकती। अब तो राज्य को मनुष्य के हित के लिये प्रत्येक विषय में हस्तक्षेप करना आवश्यक है। राज्य का कर्तव्य है प्रत्येक मनुष्य के लिये उचित कार्य का प्रबन्ध करना जिससे वह अपनी जीविका उपार्जन कर सके। लैस्की का कथन है कि "एक प्रधान मन्त्री को, जो अपने पद से हटा दिया गया है फिर वैसा ही कार्य प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। समाज प्रत्येक मनुष्य को उसकी इच्छानुसार कार्य नहीं दे सकता, उसको ऐसे कार्य की आवश्यकता है जिससे उसकी जीविका का प्रबंध हो सके। कार्य करने के अधिकार का यह अभिप्राय है कि मनुष्य को ऐसे कार्य में लगाया जाय जिससे वह कुछ उपयोगी कार्य कर सके और कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने में भाग ले सके।" यदि मनुष्य कुछ समय के लिये बेकार हो जाता है तो राज्य का कर्तव्य है कि वह उसकी उस समय तक सहायता करे जब तक उसे पुनः कार्य न मिल जाय। लैस्की का मत है कि "बेकारी के लिये भी बीमे की योजना करना राज्य का कर्तव्य होना चाहिये" †। लैस्की का विचार है कि "मनुष्य को केवल कार्य प्राप्त करने का ही अधिकार नहीं है।

---

* ऐच० जे० लैस्की—ग्रामर आफ पालिटिक्स–पृष्ठ १०६-१०९

† ऐच० जे० लैस्की-ग्रामर आफ पालिटिक्स–पृष्ठ १०६–१०९

उसका यह भी अधिकार है कि उसे उसके कार्य के लिये उचित मजदूरी दी जाय।"* अर्थात् ऐसी मजदूरी दी जाय जो 'सृजनात्मक नागरिकता' के लिये आवश्यक हो। प्रत्येक मनुष्य को भोजन, वस्त्र, घर, कुछ अवकाश, शिक्षा तथा संस्कृति के लिये अवसर आदि की आवश्यकता है जिससे वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सके। एक ऐसा स्तर स्थापित करने की आवश्यकता है जिस से नीचे कोई व्यक्ति न गिरने पाये। लैस्की का कथन है कि उचित मजदूरी का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य को समान वेतन दिया जाय बल्कि यह अभिप्राय है कि वह वेतन अथवा मजदूरी जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त होनी चाहिये और ऐसा न हो कि किसी को अत्यधिक मिले और किसी को अति न्यून। पहली आवश्यक बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम के बदले में उचित वेतन मिलना चाहिये जिससे वह सम्मान के साथ समाज में अपना जीवन व्यतीत कर सके और अपनी संतान की शिक्षा, भरण-पोषण आदि का प्रबन्ध कर सके।

स्वतन्त्रता का अधिकार—जीवन के अधिकार के पश्चात् मनुष्य के लिये दूसरा आवश्यक अधिकार स्वतन्त्रता का है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्य-क्षेत्र में एक सीमा तक यह चाहता है कि वह दूसरों के तन्त्र (पराधीनता) से मुक्त रहे। यदि उसके ऊपर कोई तंत्र हो तो वह स्व का अर्थात् अपने आप लगाया हुआ अंकुश हो। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए लोगों ने बड़े-बड़े बलिदान किये हैं और घृणित से घृणित अत्याचार भी किये हैं। इतिहास से हमको विदित होता है कि मनुष्यों में स्वतन्त्रता के भाव सदैव रहे हैं। मनुष्य के जीवन के लिये स्वतन्त्रता बड़ी आवश्यक वस्तु है। परन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता किसी को प्राप्त नहीं हो सकती है। ऊपर बताया जा चुका है कि एक विशेष सीमा तक ही स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसी स्वतन्त्रता के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है। अपनी व्यक्तिगत प्रगति के लिए व्यक्ति को जितनी स्वतन्त्रता की आवश्यकता है उतनी उसे अवश्य मिलनी चाहिए। स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है एक नकारात्मक और दूसरी वास्तविक। नकारात्मक स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के मनुष्य को पूर्ण रूप से तंत्रहीन कर दिया जाय। उसके ऊपर से सब प्रकार का प्रतिबन्ध उठा लिया जाय। चाहे वह कोई कार्य करे, चाहे न करे। इस प्रकार की नकारात्मक स्वतन्त्रता लाभदायक नहीं है।

---

* ऐच० जे० लेस्की–ग्रामर आफ पलिटिक्स–पृष्ठ १०६–१०९

ऐसी स्वतन्त्रता से समाज का वास्तविक हित नहीं हो सकता। समाज के हित के लिए वास्तविक अर्थात् कार्यात्मक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को आत्मोन्नति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये जिससे वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी उन्नति कर सके। उसकी उन्नति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। लैस्की का कथन है कि स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि "मनुष्य को ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि वह अपनी उन्नति के लिए जो चाहे सो कर सके। किसी प्रकार की बाह्य बाधा उसके कार्य में न डाली जाय।" * ऐसा होने पर मनुष्य पूर्ण रूप से अपनी उन्नति कर सकता है। स्वतन्त्रता अनक प्रकार की हो सकती है। अब भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं का वर्णन किया जाता है।

१—स्वाभाविक स्वतन्त्रता—ऊपर नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन करते समय सामाजिक अनुबन्ध के मतानुसार मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का वर्णन किया जा चुका है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' में लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है और सब स्थानों पर वह बन्धन में है" उसका विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पर कोई बन्धन नहीं था, वह स्वच्छन्द विचरता था। किसी प्रकार की उसको चिन्ता न थी। जब से मनुष्य में सभ्यता फैली है तभी से मनुष्य की स्वतन्त्रता का ह्रास हो गया है। बहुत से लोग इस बात का समर्थन करते ह। वास्तव में स्वभावतया मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है वह अपने ऊपर किसी अपने से पृथक शक्ति का अंकुश पसन्द नहीं करता। वह संसार के भोगों को स्वच्छन्दतापूर्वक भोगना चाहता है। किन्तु समाज में यह स्वच्छन्दता बरती जाय तो समाज का अस्तित्व ही न रहे। समाज के बिना अर्थात् अन्य लोगों के सहयोग के बिना व्यक्ति का भोग भी अधूरा ही रह जाय। इसलिये समाज में रहकर उसे दूसरों की भी स्वतन्त्रता का ध्यान रखना पड़ता है और इस विचार से कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता से संघर्ष न हो जाय, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता को एक सीमा के अन्दर परिमित रखना पड़ता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की बुद्धि परिष्कृत होती जाती है, वह स्वच्छन्दता से विमुख होता जाता है।

२—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का इच्छुक है। वह अपनी उन्नति के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना चाहता है, अपनी

---

* ऐच० जे० लैस्की—लिबर्टी इन माडर्न स्टेट पृष्ठ ११।

इच्छानुसार अपने जीवन को एक विशेष प्रकार से व्यतीत करने का इच्छुक होता है और यह आशा रखता है कि कोई अन्य व्यक्ति उस के कार्य में बाधक न हो। मनुष्य के अनेक व्यक्तिगत कार्य ऐसे हैं जिनके करने में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अपने घर के भीतर मनुष्य को प्रत्येक कार्य स्वेच्छा-पूर्वक करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। केवल राज्य द्वारा वर्जित अपराध वह नहीं कर सकता है। अपने घर से बाहर भी मनुष्य बहुत से कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है; जब तक उसका कार्य अन्य व्यक्तियों के कार्य में बाधक नहीं होता तब तक वह कोई भी कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है। मिल का विचार है कि मनुष्य को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जब तक एक व्यक्ति दूसरे के कार्य में बाधक नहीं हो उसे सब कुछ करने देना चाहिए। अतः उसका विचार है कि मनुष्य को अपने जीवन को चाहे जिस प्रकार बिताने दो। यदि वह बुरे से बुरा भी कार्य करता है तो उसे करने दो। मिल के समान बर्ट्रैण्ड रसल (Bertrand Russell) भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। जो लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं उनका मत है कि राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार बहुत महत्त्व रखता है। वे कहते हैं कि वोट देना, पद प्राप्त करना आदि राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा विचार-स्वातंत्र्य भाषणस्वातंत्र्य, अभिव्यंजना-स्वातत्र्य तथा कार्य स्वातंत्र्य मनुष्यों के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन स्वतन्त्रताओं का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मनुष्य को ये स्वतन्त्रताएं प्राप्त नहीं हैं तो उसका जीवन व्यर्थ है। मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति बिना इन स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के नहीं हो सकती। दार्शनिक अराजकतावादी इस सिद्धान्त को मानते हैं और इस प्रकार की स्वतन्त्रता की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय बतलाते हैं।

३—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—राष्ट्रीयता के विचार मनुष्यों में पहले भी हुआ करते थे परन्तु हाल में कुछ शताब्दियों से राष्ट्रीयता के विचारों ने बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। एक देश, एक जाति, एक देश, एक भाषा अथवा एक देश, एक धर्म के नाम पर लोगों ने अपने देश का संगठन किया। केवल संगठन ही नहीं किया अत्याचार भी किये। किसी देश ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता इसमें समझी कि अपने देश से अन्य धर्म अथवा अन्य भाषा बोलने वाले लोगों को निकाल दिया और उन्हें बेघर कर दिया। प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीयता के भाव होने चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को स्वदेश से प्रेम करना चाहिये और आवश्यकता पड़ने पर उस पर बलिदान हो जाना चाहिये परन्तु राष्ट्रीय

स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय नहीं है कि अपने देश की अथवा जाति की स्वतन्त्रता तथा उन्नति के लिये अन्य जातियों और देशों पर अत्याचार किया जाय। वास्तविक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का यह प्रयोजन है कि एक देशवासी स्वतन्त्र हों, स्वयं अपने देश पर शासन करते हों और उस देश के सब लोग प्रेमपूर्वक रहते हुए अपनी व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति करें और अन्य देश व जातियों से भी परस्पर प्रेम का बर्ताव रहे।

४—**वैधानिक स्वतन्त्रता**—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ-साथ आज-कल वैधानिक स्वतन्त्रता के विचारों की उन्नति होती जा रही है। प्रत्येक देश में स्वशासन का भाव फैल गया है। प्रत्येक देशवासी यह चाहते हैं कि वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हों। उनका विधान वे ही बनायें। कोई अन्य देश उनके विधान-निर्माण में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। वास्तव में लोगों को अपने देश का प्रबन्ध करने में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और जब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होने की सम्भावना न हो तब तक किसी देश के शासन विधान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

५—**नागरिक स्वतन्त्रता**—गैटिल का कथन है कि "इसमें कार्य करने की स्वतन्त्रता तथा वाह्य हस्तक्षेप से निर्भयता सम्मिलित है"*। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक स्वतन्त्र देश में नागरिकों को अपने कार्यक्षेत्रों में एक विशेष सीमा तक पूर्णरूप से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जब तक वे उस सीमा का उल्लंघन नहीं करते हैं, वे अपना कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकते हैं। साधारणतया एक स्वतंत्र देश में निम्न प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता लोगों को प्राप्त होती है :—

(क) व्यक्तिगत शारीरिक स्वतन्त्रता।
(ख) न्यायालयों में समानता।
(ग) निजी सम्पत्ति प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने की स्वतन्त्रता।
(घ) विचार करने और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता।
(ङ) चेतना स्वातंत्र्य अथवा विवेक स्वातन्त्र्य।

६-**राजनैतिक-स्वतन्त्रता**—राजनैतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को शासन प्रबन्ध की नीति निर्धारण करने के काम में भाग लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार से अयोग्य नहीं है तो उसे अपने देश के शासकों के निर्वाचित करने में भाग लेने की

---

* आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ १११

स्वतन्त्रता होनी चाहिये। किसी प्रकार का राजनैतिक अवरोध उस पर नहीं होना चाहिये। लैस्की का कथन है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है राज्य-कार्यों में नागरिक का भाग लेना।

७-आर्थिक स्वतन्त्रता:— जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के लिए नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है उसी प्रकार आर्थिक स्वतंत्रता की भी आवश्यकता है अथवा यों कहना चाहिये कि आर्थिक स्वतन्त्रता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि किसी देश के निवासी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं, अपने विधान का निर्माण स्वयं करते हैं, उन्हें सब प्रकार की व्यक्तिगत तथा राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त है, परन्तु यदि उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है तो सब प्रकार की स्वतन्त्रता केवल कहने भर की वस्तु ही रहती है। क्योंकि व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकतायें आर्थिक हैं। उसे सबसे पहले शरीर रक्षा के लिये भोजन वस्त्र तथा मकान चाहिये। जो व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों का मुंह नहीं देखता, उसके समान स्वतंत्र व्यक्ति अन्य कोई नहीं। किन्तु आधुनिक सामाजिक व आर्थिक संगठन में ऐसी स्वतन्त्रता असम्भव है। आजकल प्रत्येक व्यक्ति अपने भरण पोषण के लिये दूसरों के सहयोग की आवश्यकता समझता है। ऐसे समाज में यदि कुछ अल्पसंख्यक व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर अपना स्वत्व स्थापित कर लें तो वे बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपना दास बना सकते हैं। पूंजीपति, विद्वान की विद्वत्ता, मजदूर का परिश्रम, धार्मिकों का धर्म कवियों की कविता और लेखकों की लेखन-शक्ति खरीद सकता है। सबसे बड़ी परतंत्रता आर्थिक परतन्त्रता है। भूखे व्यक्ति से राजनैतिक स्वतन्त्रता की बात कहना, नंगे आदमी के सामने राष्ट्रीयता का राग अलापना उसकी खिल्ली उड़ाना है। जहां व्यक्तिओं को प्रतिक्षण पेट भरने और अंग ढकने की चिंता रहती है वहां चाहे सब तरह की सामाजिक, नागरिक या राजनैतिक स्वतंत्रतायें उपलब्ध हों, वे सब केवल उन व्यक्तियों के लाभ की वस्तु हैं जिनके पास इतनी सम्पत्ति है और इतने साधन हैं कि उनके सहारे वे इन स्वतन्त्रताओं का नारा लगाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में अधिक से अधिक सफल होते हैं और अपनी सत्ता बनाये रखते हैं। संक्षेप में सब स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता परमावश्यक है। आर्थिक संगठन ऐसा हो जिसमें उत्पादन तथा वितरण की व्यक्तियों को इतनी स्वतन्त्रता हो कि देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिक से अधिक उत्तम उपयोग हो सके। यह स्वतन्त्रता इतनी परिमित हो कि आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में केन्द्रित होकर

सम्पत्ति-हीनों के शोषण और पीड़न का कारण न बन सके। आर्थिक स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब सम्पत्ति वितरण का ऐसा संतुलन हो कि प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम करने का अवसर हो, उस परिश्रम के बदले में उचित मात्रा में खाने-पहिनने व सभ्य जीवन बिताने की सामग्री प्राप्त हो सके, और बिना परिश्रम के केवल सम्पत्ति के स्वामित्व के बल पर कोई इतना सबल न हो जाय कि दूसरों को आधीन कर सके।

८—**नैतिक स्वतन्त्रता**—ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ साथ व्यक्ति को जगत् के वास्तविक रूप तथा जीवन के सच्चे उद्देश्य का पता चलता जाता है। जगत के रूप तथा जीवन के उद्देश्य को जानकर मनुष्य धर्म और नीति क्या है, यह स्थिर करता है। इस धर्म और नीति को वह पवित्र तथा उच्च जीवन बिताने के लिये अपने व्यवहार में प्रयोग करता है। व्यक्ति की धार्मिक तथा नैतिक भावना धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं के रूप में व्यक्त होती है। इस भावना को यदि व्यक्त होने का पूरा अवसर न मिले तो व्यक्ति अपने को सुखी व सफल जीवन नहीं समझता। उसका व्यक्तित्व इस भावना के व्यक्त होने की स्वतन्त्रता के बिना अच्छी तरह नहीं निखरता। इसलिये समाज व राज्य की व्यवस्था ऐसी हो जिसमें व्यक्ति अपनी उच्च नैतिक भावनाओं को कार्यरूप देने में परतन्त्र और बन्धनयुक्त न समझे। यदि व्यक्ति को राज्य व समाज अपने उत्तमस्व को विकसित तथा व्यक्त होने का अवसर न दे या पग-पग पर उस उच्च भावना को कुचलने का प्रयत्न करे तो व्यक्ति अपने आप को सुखी नहीं समझ सकता।

स्वतन्त्रता और शासन

स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता नहीं है। स्वतंत्रता का नारा लगाकर यदि कुछ व्यक्ति मनमाना व्यवहार करना चाहें तो उन्हें कोई भला न कहेगा। जैसा 'स्वतंत्रता' शब्द के अर्थ से प्रकट है स्वतंत्रता उस स्थिति का नाम है जिसमें तंत्र या आधीनता तो अवश्य हो किन्तु वह तंत्र या आधीनता अपने ऊपर स्वयं लगाई गई हो। यदि बाहरी बन्धन, चाहे वे समाज के हों या राज्य के, स्वेच्छा से स्वीकार कर लिये जायें तो उनसे स्वतंत्रता की मात्रा कम नहीं होती। प्रश्न यह है कि कौन से बाहरी बन्धन व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार करता है। प्रकट है कि ऐसे बन्धन अनुचित न होने चाहिये। यदि इन बन्धनों के सम्बन्ध में मनुष्यों का यह विचार हो कि वे उनके हित में आवश्यक हैं, उनको सबके ऊपर बिना भेद-भाव के लगाने का अभिप्राय है,

उनकी रूप-रेखा निश्चित करने में पूरी समझ व सदेच्छा से काम लिया गया है तो ऐसे बन्धनों को उनकी बुद्धि सहज ही अपना लेती है और तब ये बन्धन बाहरी प्रतीत न होने से बेबसी का भाव मन में नहीं लाते। इससे स्पष्ट है कि शासन व स्वतंत्रता ये दोनों भाव एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते। यदि शासन बुद्धिग्राह्य है तो मनुष्य की शुद्ध बुद्धि मन पर अंकुश रख उस शासन को मनवाती है। मनुष्य स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण करता है। इसी स्थिति का नाम स्वतंत्रता है।

विधान और स्वतंत्रता—राज्य के विधान स्वतंत्रता की सृष्टि करते हैं, ऐसा प्रायः कहा जाता है। ऊपर से देखने में इन विधानों से जकड़ा हुआ व्यक्ति बड़ी शोचनीय दशा में पड़ा मालूम होता है। पग पग पर कानून उसके मार्ग में आकर एक विशिष्ट दिशा में जाने का निर्देश करता है उसे मनमानी ओर जाने से रोकता है। स्वाभाविक है कि ऐसी रोक और निर्देशन सब को एक सा रुचिकर नहीं होता। जो कानून से बतलाये हुये मार्ग पर जाना चाहते हैं उन्हें तो यह निर्देशन रुचिकर होता है। अन्य जो ऐसा नहीं करना चाहते उन्हें कानून का निर्देशन बन्धन मालूम होता है। विधान या कानून जब सर्वसम्मति या बहुमत द्वारा सब पर लागू होने के लिये बनता है तब वह समाज के व्यक्तियों के उच्चस्वार्थ और दूरदर्शिता का प्रतीक होता है। साधारणतया व्यक्ति होने वाले निजी स्वार्थलाभ पर दृष्टि रख कर कार्य करना चाहता है। विधान की दूरदर्शिता उसे ग्राह्य नहीं होती, वह तुरन्त निजी लाभ को भविष्य में होने वाले सामूहिक लाभ में प्राप्त हिस्से से अधिक अच्छा समझता है। इसीलिये विधान उसके सुख लाभ में बाधक प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होती जाती है और उसका चरित्रबल बढ़ता जाता है, मैं-तू की दीवाल पतली पड़ती जाती है, वैसे ही वैसे लोकेच्छा से बना हुआ विधान उसे अपनी इच्छा के अनुकूल ही प्रतीत होता है। तब विधान का अंकुश बाहरी अंकुश नहीं रहता, वह स्वतंत्र हो जाता है अपनी ही इच्छा से अपने आप को नियंत्रित समझता है। इसीलिये जिस समाज में सभ्यता बढ़ती जाती है, जहां व्यक्ति का नैतिक स्तर ऊंचा होता जाता है, समाज और राज्य के नियम व्यक्ति स्वतः ही स्वभावतया मानने लग जाते हैं। वे नियम उनकी प्रकृति के अङ्ग बन जाते हैं। उसी मात्रा में वे अपने आप को स्वतंत्र समझने लगते हैं हालाँकि अपेक्षाकृत असभ्य समाज की दृष्टि में वे बन्धनों में जकड़े हुये दिखाई देंगे। विधान स्वतंत्रता के बाधक नहीं उसके सहायक हैं। उनकी अनुपस्थिति में व्यक्ति स्वयं अपनी कुवासनाओं

का दास हो सकता है क्योंकि उस पर अंकुश रखने वाला बाहरी नियंत्रण नहीं रहता। यही नहीं किन्तु समाज में विधानों का नियंत्रण न होने से भले आदमी बुरे आदमियों के वश में हो जायँ, वे अपनी सदेच्छा से परिचालित न होकर दुष्टों की स्वेच्छाचारिता के दास बन जायं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विधान और स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोधी नहीं किन्तु पूरक और सहायक हैं।

स्वतन्त्रता और समानता—लार्ड एक्टन और डी० टॉकविल सरीखे राजनीतिज्ञों का विचार है कि स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे की विरोधी हैं। यदि स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता हो तब तो यह विचार ठीक है क्योंकि सब व्यक्ति एक योग्यता व एक समान गुणवाले नहीं होते। ऐसे मानवसमूह में यदि सबको स्वेच्छानुसार कार्य करने की स्वच्छन्दता हो तो निश्चय ही दुष्ट, धूर्त व चालाक व्यक्ति सीधे-साधे व्यक्तियों को अपने वश में कर लेंगे, उनकी सम्पत्ति का हरण करेंगे और उन्हें आगे उन्नति करने का अवसर न देंगे। किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता नहीं है। स्वतंत्रता के अन्तर्गत वे सब बन्धन हैं जिनसे मनुष्यों की असामाजिक भावनाओं व कार्यों पर रोक लगती है और इस प्रकार व्यक्तियों को अन्य लोक-कल्याण-कारी कार्यों को करने की निर्विघ्न सुविधा प्राप्त होती है। इन बन्धनों से समानता की सृष्टि होती है। इनसे सब व्यक्ति एक समान योग्यतावाले, प्रतिभायुक्त व गुणयुक्त नहीं बनाये जा सकते। किन्तु समानता का ऐसा अर्थ समाज-शास्त्र की दृष्टि से अभिप्रेत नहीं है। समाज में समानता का अर्थ यह नहीं करना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को एकसा ही खाना, पहनना, शिक्षा, काम तथा वेतन प्राप्त हो। ऐसा सम्भव भी नहीं है और न ऐसी समानता समाज या व्यक्ति की सर्वोन्मुखी उन्नति तथा विकास में सहायक हो सकती है। ऐसी समानता स्थापित करने के लिये हमें वास्तव में स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ जायगा। जहाँ ऐसी समानता की दुहाई दी जायगी वहाँ स्वतंत्रता टिक नहीं सकती। स्वतंत्रता उस समानता के साथ रह सकती है जिसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्त हो। इसके लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

(१) किसी व्यक्ति अथवा समुदाय को किसी प्रकार का विशेषाधिकार न रहे।

(२) अपनी शक्ति अथवा अधिकार का दुरुपयोग करने पर न्यायालय में सब को समान दंड दिया जाय।

(३) इस बात की प्रत्याभूमि हो कि जनसाधारण के हित के लिये ही शक्ति का प्रयोग किया जाय, केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं।
(४) प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय।
(५) ऊँच, नीच तथा धनी, निर्धन का सामाजिक भेद-भाव मिटा दिया जाय।

राज्य द्वारा स्वतन्त्रता का नियमन—ऊपर लिखा जा चुका है कि अपरिमित स्वतन्त्रता किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता का उपयोग भी एक विशेष सीमा के भीतर होना है। यदि एक व्यक्ति किसी कार्य को स्वतन्त्रतापूर्वक करता है तो उसका प्रभाव दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पड़ता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वतन्त्रता का नियमन किया जाय। स्वतन्त्रता की भी एक सीमा है। राज्य स्वतन्त्रता की इस सीमा को निर्धारित करता है और विधान द्वारा उसका नियमन करता है। जो व्यक्ति उस सीमा को पार करके दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा डालता है उसे दंड दिया जाता है। इस प्रकार का नियमन और नियंत्रण समाज द्वारा भी होता है, किन्तु उस नियमन के पीछे भय नहीं होता। बहुत से सामाजिक नियम ऐसे हैं जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने से एक व्यक्ति को रोकते हैं। मनुष्यों की पारस्परिक व्यक्तिगत ज्यादतियों तथा अन्यायों को रोकने के लिये राज्य विधान द्वारा व्यक्तियों के कार्यों व उनके पारस्परिक व्यवहारों का रूप निर्धारित कर विधान के प्रतिकूल कार्य व व्यवहार पर रोक लगाता है। नीचे हम ऐसी रुकावटों पर दृष्टि डालेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन रुकावटों के विरुद्ध व्यक्ति के कौन-कौन से अधिकार हैं।

१—व्यक्तिगत स्वरक्षा का अधिकार—अपने शरीर की रक्षा, बचाव और स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिकार समझता है। बिना कारण वह इस अधिकार को खोना नहीं पसन्द करता। किसी मनुष्य को मेरे ऊपर आक्रमण करने का अधिकार नहीं है। कोई मेरे शरीर को कष्ट नहीं दे सकता। मैं स्वतन्त्रतापूर्वक जहाँ चाहूँ विचर सकता हूँ। जितने सर्वसाधारण मार्ग, स्थान, गृह, वाटिकायें आदि हैं उन सब पर मेरा भी उतना ही अधिकार है जितना अन्य व्यक्तियों का। मुझे ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकता। यदि कोई व्यक्ति इसमें बाधा डालता है तो वह राज्य द्वारा दण्ड पाने का अधिकारी है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को बिना कारण डरा,

धमका नहीं सकता। वह किसी को अपशब्द भी बोल नहीं सकता। यदि कोई मुझ पर आक्रमण करे तो मुझे अपने शरीर की रक्षा करने का पूर्ण अधिकार है। यदि मैं अपने शरीर की रक्षा करूँ और ऐसी दशा में मुझ पर आक्रमण करने वाले की मृत्यु भी हो जाये तो मैं न्यायालय में दण्डनीय नहीं समझा जाऊँगा। इस प्रकार राज्य का विधान एक श्रेष्ठ नागरिक की पूर्ण रूप से रक्षा करता है। जिस प्रकार लोग परस्पर एक दूसरे के साथ अन्याय कर सकते हैं वैसे ही शासन भी प्रजा पर अनुचित प्रतिबंध लगाकर अन्याय कर सकता है। राज्य का विधान एक व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों से ही रक्षा नहीं करता, वह उसकी शासन के अत्याचारों से भी रक्षा करता है। इङ्गलैण्ड में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि किसी नागरिक को बिना न्यायालय की आज्ञा के कारागार में नहीं डाला जा सकता न अन्य कोई दण्ड शासन द्वारा दिया जा सकता है। इस व्यक्तिगत अधिकार के सुरक्षण के लिये तीन प्रकार के उपाय हैं—

(१) अनुचित आवर्जन (गिरफ्तारी) का प्रतिकार किया जा सकता है।

(२) वैयक्तिक स्वतन्त्रता संबंधी विधि (Habeas Corpus Act) की शरण ली जा सकती है।

(३) साधारणतया न्यायलय में अपील की जा सकती है।

(१) अनुचित आवर्जन का प्रतिकार इस प्रकार हो सकता है कि न्यायालय द्वारा उसे (अनुचित आवर्जन करने वाले को) दण्ड दिलवाया जा सकता है अथवा अपराध के अनुसार उससे क्षति पूर्ति कराई जा सकती है। अर्थात् उससे कुछ निश्चित धन मानहानि के बदले में लिया जा सकता है। इस प्रकार की कारवाई शासनीय अथवा अशासनीय, दोनों प्रकार के व्यक्तियों के विरुद्ध की जा सकती है।

(२) "वैयक्तिक स्वतन्त्रता" (Habeas Corpus) के अनुसार कारावास में डाला हुआ व्यक्ति न्याय के लिये सार्वजनिक न्यायालय में न्याय करा सकता है। अत: शासन किसी व्यक्ति को अन्यायपूर्वक पकड़ कर कारावास में नहीं डाल सकता और शासन के कर्मचारियों को विधान के अनुसार कार्य करना पड़ता है।

हार के लिये न्यायालय का आश्रय लेकर उन्हें दण्ड दिलवा सकते हैं। सरकार की अनुचित आज्ञा के विरुद्ध न्यायालय में अपील कर सकते हैं। 'व्यक्तिगत भाषण' लेख तथा सभा में सम्मिलित होने वाली स्वतन्त्रता को न्यायालय का आश्रय लेकर सुरक्षित रखा जा सकता है।

२—विचार, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार विचार करने का अधिकार है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अपने कमरे में बैठकर मनुष्य जो चाहे सोच-विचार करता रहे। वास्तव में इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य किसी विषय पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट कर सके, उसे इस बात का भय न रहे कि अमुक बात, चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, कहने से उसे किसी प्रकार की आपत्ति में पड़ना पड़ेगा। अच्छे राज्य में प्रत्येक नागरिक को विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना और उस विचार को प्रकट करना अत्यन्त आवश्यक है उसी प्रकार इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक प्रत्येक विषय पर वादविवाद कर सके। मनुष्य को वादविवाद करने और भाषण देकर अथवा पत्र-पत्रिकाओं में लेख द्वारा अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। प्रत्येक जनतन्त्र राज्य में नागरिकों को विचार करने की, वादविवाद करने की और भाषण तथा लेख द्वारा अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जिस राज्य में लोगों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, वह राज्य कभी जनतन्त्र नहीं हो सकता। सामान्य समय में कभी लोगों के विचार, भाषण और लेखन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध एक जनतन्त्र राज्य में नहीं लगाया जाता परन्तु असामान्य समय में जिस समय किसी दूसरे देश से युद्ध हो रहा हो तो उस दशा में प्रतिबंध लगाना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि जिस देश में लोगों को अपने विचार प्रकट करने का अभ्यास होता है वहां लोग प्रत्येक विषय पर अपने विचार स्वतन्त्रता पूर्वक प्रकट करते रहते है। ऐसे असाधारण समय में शत्रु देश के अनेक गुप्तचर देश में आकर उस देश की निर्बलता की खोज करते हैं। परिणाम यह होता है कि जन साधारण सब प्रकार की बातों को स्वतन्त्रतापूर्वक करते है और शत्रु के गुप्तचर उन बातों से लाभ उठाकर देश की निर्बलता को जानकर उसी प्रकार से कार्य करके देश को हानि पहुँचा कर उसे विजय कर लेते हैं।

अतः किसी भी प्रकार के जनतन्त्र राज्य में ऐसे असामान्य समय में लोगों के विचार, भाषण और लेखों पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है जिससे देश की किसी कमी का पता शत्रु को न चल जाये और वह उससे लाभ न उठा सके। आधुनिक काल में लगभग सब देशों में इस प्रकार की स्वतन्त्रता लोगों को प्राप्त है। परन्तु एक समय ऐसा था जब अधिकतर देशों में लोगों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त न थी। यूनान के जनतन्त्र नगर राज्यों में भी लोगों पर कहीं कहीं विचार, भाषण और लेखों पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। सुकरात का विचार था कि मैं विचारों को प्रकट करने पर प्रतिबन्ध लगाने से मृत्यु को अधिक अच्छा समझता हूँ। इंगलैंड में मिल्टन, सिडनी, लॉक और जे० ऐस० मिल ने इस बात पर बड़ा जोर दिया था कि मनुष्यों को अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार होना चाहिये।

विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होने का यह अभिप्राय नहीं है कि चाहे जिससे चाहे कुछ कह दिया जाय। किसी के लिये अपमान या निन्दा के शब्द बोलने का किसी व्यक्ति को अधिकार नहीं है। ऐसी निन्दा या अपमान राज्य से दण्डनीय होता है क्योंकि इससे पारस्परिक दुर्भावना बढ़ती है जिसको मिटाना ही राज्य का कर्तव्य है। यदि सार्वजनिक रूप से कोई व्यक्ति दूसरे की निन्दा करता है तो उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया जा सकता है जिसके फलस्वरूप निन्दक को दण्ड मिल सकता है। अतः यह आवश्यक है कि विचार, भाषण तथा लेख की स्वतन्त्रता होते हुए भी इस अधिकार का कभी दुरुपयोग न किया जाय और एक श्रेष्ठ नागरिक की भाँति प्रत्येक कार्य सोच विचार कर विवेक के साथ, सद्भावना और प्रीति को कम न करते हुये, किया जाय।

राज्य तथा शासन की आलोचना करने का अधिकार—जनतन्त्र राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को शासन के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार है। नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे शासन के कार्यों की जानकारी रक्खें। यदि शासन में किसी प्रकार का भ्रष्टाचार अथवा घूसखोरी चल रही हो तो उसको जनता पर प्रकट करना आवश्यक है। ऐसा तभी हो सकता है जब लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार प्रकट करने का अधिकार हो। लोगों को भी यह चाहिये कि वे अपने उत्तरदायित्व को समझें और व्यर्थ शासन की आलोचना न करें क्योंकि शासन की व्यर्थ आलोचना करने से शासन निर्बल होता है। शासन का भी यह कर्तव्य है कि आलोचना करने वालों के भाषण तथा लेखों पर ध्यान दे और जो जो त्रुटियाँ शासन में दिखलाई जायें उन्हें दूर

करने का प्रयत्न करे अन्यथा शासन संकट में पड़ सकता है। शासन को सदैव इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि लोगों के विचारों का बड़ा प्रभाव होता है। लोगों का भाषण और लेख बड़ी शक्ति रखता है। भाषण और विचारों की स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य जो चाहे राज्य तथा शासन के विषय में भाषण दे तथा लेख लिखे। प्रत्येक मनुष्य को ऐसा न करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य शासन की नीति को समझने की बुद्धि नहीं रखता है। केवल राजनीतिज्ञ अथवा राजशास्त्रवेत्ता ही राज्य तथा शासन की नीति को भली प्रकार से समझ सकते हैं। इन्हीं लोगों को राज्य अथवा शासन की आलोचना करने का अधिकार है। अन्य व्यक्ति यदि एसा करते हैं तो वह आलोचना बेकार होती है और अनुचित आलोचना संकट का कारण बन सकती है। प्रत्येक मनुष्य को राज्य अथवा शासन की आलोचना नहीं करनी चाहिये। जो वैद्यक नहीं जानता है उसे रोगी पुरुष का इलाज करने का कोई अधिकार नहीं है।

मुद्रणालय तथा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता—मुद्रणालय की स्वतन्त्रता के नियमन करने के विषय में दो प्रकार के विधान हैं। इङ्गलैंड में विधान के अनुसार किसी विषय को मुद्रणालय द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है और इस कार्य के लिये किसी विशेष सरकारी अनुमान पत्र (licence) लेने की आवश्यकता नहीं होती है। सिनेमा चित्र तथा नाटकों के अतिरिक्त किसी विषय को मुद्रण करने पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है और न प्रकाशन के लिये राज्य-कोष में प्रतिभू के रूप में कुछ द्रव्य ही जमा करना पड़ता है। "मुद्रण विधान को तोड़ने वालों पर न्यायाधीश और जूरी द्वारा साधारण न्यायालयों में मुकदमा होता है। सब प्रकार के निन्दक लेखों के मुकदमों का निर्णय जूरी द्वारा किया जाता है चाहे मुद्रणालय राज्य विधान का उल्लंघन करे अथवा न करे।" * इङ्गलैंड में पत्र-पत्रिकाओं के लिये वही विधान हैं जो नागरिकों के लिये हैं। फ्रांस में ऐसा नहीं है वहाँ मुद्रणालय के संबंध में विशेष विधान हैं और मुद्रणालय सम्बन्धी विधानों का उल्लंघन करने वालों पर मुकद्दमा साधारण न्यायालयों में नहीं होता उनके मुकद्दमे का निर्णय करने के लिये विशेष अधिकरण (अदालत) की नियुक्ति की जाती है। फ्रांस की सरकार का यह सिद्धान्त है कि भाषण स्वातंत्र्य संबन्धी विधानों का उल्लंघन करनेवालों को दण्ड ही न मिलना चाहिये प्रत्युत

---

* आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ १५१

लोगों की विचार धारा को उचित दिशा में ले जाना चाहिये लोगों के विचारों को पथप्रदर्शन करना राज्य का कार्य है। इन दोनों प्रकार के विधानों में हमारे विचार से इङ्गलैण्ड के विधान अधिक अच्छे हैं। किसी सभ्य तथा जनतन्त्र राज्य में मुद्रण संबंधी बन्धनों को लोग पसन्द नहीं करते हैं। संवाद अथवा समाचार नियंत्रण, अनुमति पत्र, द्रव्य प्रतिभूति आदि प्रतिबन्धों को जनता अनुचित समझती है। जनता साधारणतया किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं पसन्द करती। मिल्टन का कथन है कि "जो नर हत्या करता है, वह एक विवेकशील जीव की अर्थात् ईश्वर की प्रतिमा की हत्या करता है, परन्तु जो एक अच्छी पुस्तक को नष्ट करता है वह स्वयं विवेक की हत्या करता है और ईश्वर की मूर्ति की हत्या करता है"। फिर उसने एक स्थान पर लिखा है कि पुस्तकों पर निर्णय देने वाला न्यायाधीश विशेष रूप से अति विद्वान, अध्ययनशील और न्यायी होना चाहिये।

३—व्यक्तिगत रूप से कार्य करने की स्वतन्त्रता—जे० ऐस० मिल ने अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक में केवल विचार, भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता का ही समर्थन नहीं किया है बल्कि व्यक्तिगत रूप से कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता पर भी बड़ा जोर दिया है। उसका मत है कि मनुष्य के व्यक्तिगत कार्य दो प्रकार के होते हैं एक तो वे जिनका सम्बन्ध केवल उसी से होता है और अन्य लोगों से नहीं होता। दूसरे वे जिनका सम्बन्ध अन्य लोगों से होता है। वे व्यक्तिगत कार्य जिनका सम्बन्ध केवल कर्त्ता से ही होता है, अन्य लोगों से नहीं ऐसे कार्यो में किसी को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। पूर्णरूप से व्यक्तिगत कार्यो में न तो राज्य को ही हस्तक्षेप करने का अधिकार है और न समाज को ही। राज्य को अथवा समाज को उन व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है जिनका संबंध अन्य लोगों से है। मिल का कथन है कि इस प्रकार के कार्य जैसे अपव्यय, मदोन्मत्ता, द्यूत (जुआ), आदि ऐसे कार्य हैं, कि यदि इन कार्यों का करने वाला अपने कुटुम्ब के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, ऋण को चुकाता है, और अपने कार्य की उपेक्षा नहीं करता तो ऐसे मनुष्य के ऐसे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। मिल के इस मत से हम सहमत नहीं हैं। राज्य के सावयव सिद्धान्त के मानने वालों का मत है कि राज्य एक शरीर के समान है और प्रत्येक व्यक्ति उसका अंग है। राज्य के अंग की बुराई का प्रभाव राज्य पर अवश्य पड़ेगा। वास्तव में मनुष्य का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो समाज से किसी न किसी प्रकार

संबंध नहीं है। मनुष्य को अपना स्वास्थ्य भी जो बिलकुल निजी वस्तु है खराब करने का कोई अधिकार नहीं है। मिल स्वयं एक स्थान पर लिखता है कि यदि एक व्यक्ति एक ऐसा पुल पार करता है जिसके पार करने में उसके जीवन का भय है तो अन्य व्यक्तियों का कर्तव्य है कि उसे बलपूर्वक ऐसा करने से रोकें। व्यक्तिवादियों का सिद्धान्त है कि मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति पर ही समाज की उन्नति निर्भर है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत उन्नति होने से समाज की उन्नति स्वतः हो जायगी। अतः मिल के सिद्धान्त में कुछ सुधार करने की आवश्यकता है। वास्तव में किसी व्यक्ति को भी व्यक्तिगत कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये क्योंकि उसके व्यक्तिगत कार्यों का यद्यपि समाज अथवा राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं हैं किन्तु उसका व्यवहार दूसरों के लिये उदाहरण बन सकता है। यदि उसका व्यवहार उसी तक सीमित रहते हुये भी अवाञ्छनीय है तब भी वैसा ही व्यवहार देखा देखी सब करने लगें तो समाज की हानि होगी।

४—सामूहिक रूप से कार्य करने की स्वतन्त्रता—सन् १७९३ की फ्रांस की अधिकार घोषणा (Declaration of Rights) में विचार प्रकट करने के अधिकार के साथ-साथ इस अधिकार की भी घोषणा की गई थी कि मनुष्यों को शान्तिपूर्वक सभाओं में एकत्र होने का अधिकार है। बेल्जियम में घर के भीतर सभा करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है परन्तु घर के बाहर सार्वजनिक स्थान पर सभा करना पुलिस विधान के अन्तर्गत आ जाता है। इङ्गलैण्ड में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चाहे निजी घर में कोई सभा की जाय, चाहे किसी सर्वसाधारण स्थान पर कोई सभा की जाय, सभा में एकत्र होने के सम्बन्ध में वहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। लोगों को कहीं भी एकत्र होकर सभा करने का अधिकार है। जब तक लोग राज्य के विधान के विरुद्ध कोई भाषण नहीं देते अथवा राज्य के विधान को नहीं तोड़ते तब तक उनको सभा में एकत्र होने और भाषण देने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। वास्तव में इस प्रकार की सभाओं पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। प्रतिबन्ध की आवश्यकता केवल उसी समय पड़ती है जब शान्ति भंग अथवा झगड़ा होने का भय हो, अन्यथा नहीं। रिशी (Ritchie) का कथन है कि "नागरिक की शिक्षा का यह आवश्यक अंग है कि बिना सिर फुड़ऊअल किये हुए लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार की सम्मतियां प्रकट करने का और सुनने का अवसर दिया जाय। चाहे तो ऐसा समाज द्वारा किया जाय चाहे शासकों द्वारा"।

५–संवास बनाने का अधिकार—प्राचीनकाल में जब मनुष्यों का जीवन साधारण था उसमें किसी प्रकार की जटिलता नहीं आई थी, उस समय मनुष्य-समाज में अधिक संवास न थे। लोग उस समय देवताओं की पूजा करने के लिये एकत्र होते थे, अथवा व्यापार के लिये संवास बनाते थे। धार्मिक और व्यापारिक संवास के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संवासों का वर्णन प्राचीन काल के इतिहास में नहीं दिखाई देता। स्वाभाविक संवास मनुष्यों के कुटुम्ब तथा जातियां थीं। परन्तु ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जा रही है त्यों त्यों संवास भी बढ़ते जा रहे हैं। भिन्न भिन्न धर्मों के प्रचलित होने से बहुत से धार्मिक संवास स्थापित हो गये हैं। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् पूंजीपतियों और श्रमिकों के संवास स्थापित हुए, रेल, डाक, तार, आदि के आविष्कार हो जाने के कारण रेलवे-जन-संवास, डाकघर-जन-संवास आदि अनेकों संवास स्थापित हो गये हैं। विद्यार्थी संघ, अध्यापक संघ, चपरासी संघ आदि अगण्य संघ, स्थापित हो गये हैं। प्रत्येक राज्य में आधुनिक काल में अनेकों संवास हैं। प्रत्येक संवास अपने संवास के सदस्यों के हित के लिये कार्य कर रहा है। इन संवासों को उस समय तक कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है जब तक वे राज्य के विधान के अन्तर्गत कार्य करते हैं। जब वे राज्य के विरुद्ध कार्य करने लग जाते हैं तो उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, और उन्हें अवैधानिक घोषित कर दिया जाता है। जनतन्त्र राज्य में मनुष्यों को संघ अथवा संवास स्थापित करने और उनमें भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

६—धार्मिक स्वतन्त्रता—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में धर्म के नाम पर बड़े बड़े अत्याचार हो चुके हैं भारतवर्ष में भी लगभग एक सहस्र वर्ष से धर्म के नाम पर बड़े बड़े धार्मिक और राजनैतिक अत्याचार हो चुके हैं। यूरोप तथा भारतवर्ष में अच्छे शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता दिखाई और अपने राज्य में धर्म-युद्ध नहीं होने दिये। आधुनिक काल में संसार में जनतन्त्र राज्य अधिक हैं। जनतन्त्र राज्यों में जिस प्रकार लोगों को अन्य सब प्रकार की आवश्यक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हैं उसी प्रकार धार्मिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। एक अच्छे जनतन्त्र राज्य में प्रजा अपनी इच्छानुसार धर्मों को मानती है और राज्य लोगों के धार्मिक विचारों में बाधा नहीं डालती है। राज्य का यह कर्तव्य है कि प्रजा जिस प्रकार के धर्म को माने उसे मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे। प्रत्येक जनतंत्र राज्य में इस प्रकार का विधान धर्म के सम्बन्ध में होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता

होंगी। रूसो का कथन है कि "उन धर्मों के साथ सहिष्णुता दिखानी चाहिये जो धर्म दूसरों के प्रति सहिष्णुता दिखलाते हैं और जब तक नागरिकता के कर्तव्यों के विरोध में उनके सिद्धान्तों में कोई अनुचित बात नहीं पाई जाती।" * प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार धर्म मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता राज्य द्वारा होनी चाहिए। इस बात को विधान में भी स्पष्ट कर देना चाहिए। अन्य आवश्यक अधिकारों की भांति किसी भी धर्म का अनुयायी होने की स्वतंत्रता भी प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु धर्म के नाम पर समाज व राज्य विरोधी व्यवहार सदस्य नहीं हो सकता।

७—राज्य का विरोध करने का अधिकार—प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में इस बात का निर्णय करना चाहिए कि अमुक विधान सर्वसाधारण के हित का है अथवा नहीं। यदि कभी ऐसा प्रतीत हो कि अमुक विधान सर्वसाधारण के हित का नहीं है तब भी एक जनतन्त्र राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि उस का उल्लंघन न करे और वैधानिक रीति से ऐसे अनुचित विधान को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाय। परन्तु यदि वैधानिक रीति से लोग इस कार्य में सफल न हों तो उन्हें राज्य का विरोध करने का अधिकार है। ऐसी स्थिति आने पर जनता का विरोध मरने को इसलिये बाध्य हो जाती है कि उसे विरोध के अतिरिक्त उस दोष को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं दिखाई देता।

८—राज्य का दण्ड देने का अधिकार—जिस उपाय से मनुष्य असदाचार से निवृत्त और सदाचार में प्रवृत्त किया जाता है, उसे दंड कहते हैं और जिससे जन्तु का दमन किया जाता है, उस उपाय अथवा साधन का नाम भी दंड है।† शुक्रनीतिसार की दंड की यह परिभाषा व्यापक है क्योंकि इसके अन्तर्गत दण्ड के सभी रूप आ जाते हैं। जिस डंडे या लाठी से किसी के मारते हैं, वह तो दंड है ही, परन्तु जिस उपाय से अप्रिय कार्य रोका जाता है, वह भी दंड है। यह दो प्रकार का है। एक किसी पूर्वकृत अपराध के लिये शास्ति देता है और दूसरा भविष्य में कोई अपराध होने से रोकता है। किसी को दण्डनीय ठहराने में निर्णायक को कोई आनन्द नहीं मिलता,

---

* जे० जे० रूसो-सोशल कॉन्ट्रैक्ट पुस्तक ४ अध्याय ८।

† निवृत्तिरसादाचाराद्दमनं दण्डतश्चयत्।
येन सम्बम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः ॥ ४० ॥ अ० ४

क्योंकि वह तो रोग की चिकित्सा की भांति दोष दूर करता है * । गर्ग ने ठीक कहा है कि अपराधियों को जो दण्ड दिया जाता है, वह राष्ट्र की विशुद्धि के लिये है, क्योंकि उसके बिना मात्स्य न्याय फैलता है ।† परन्तु दण्ड की सामर्थ्य बहुत अधिक है और भीष्म का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि जिसके अधीन सब कुछ है वह केवल दण्ड ही है ‡ । कौटिल्य का मत है कि पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है वही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है + । दण्ड के द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों को अपने अपने धर्म कर्म में ठीक रख कर उचित मार्ग से चलाता है % । कौटिल्य ने दण्ड के तीन भेद करके फल भी बताये हैं । एक सुविज्ञात प्रणीत अर्थात् नीतिशास्त्र के ज्ञाता का दिया हुआ दंड है जिसका फल प्रजा को धर्म अर्थ और काम में लगाना है दूसरा दुष्प्रणीत अर्थात् काम, क्रोध और अज्ञान से दिया हुआ दंड है जिससे वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है ? तीसरा अप्रणीत अर्थात् जहां दण्ड देना, वहाँ न देना है । इसका फल मात्स्य न्याय है । दण्डधर के अभाव में सबल निर्बल को खाते हैं ❀ । परन्तु जब दण्ड द्वारा सबल से निर्बल की रक्षा की जाती है तो यह भी सबल हो जाता है ।

---

* चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ।। १ ।।
दण्ड नीति समुद्देश, नीति वाक्यामृत ।

† अपराधिषुयो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये ।
विनायेन न सन्देहो मात्स्य न्यायो प्रवर्त्तते ।।

‡ यस्मिन हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ।। ८ ।। शान्ति पर्व, अ० १२१

\+ दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति ।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः ।। अर्थ० अधि० ३ अ० १

% चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञान दण्डेन पालितः ।
स्व धर्म कर्माभिरतो वर्त्तते स्वेषु वर्त्मसु ।। १६ ।। अर्थ०, अधि० अध्याय ४

❀ सुविज्ञात प्रणीतो हि दण्डः प्रजां धर्मार्थ कामैर्योजयति ।।१४।।
दुष्प्रणीतः काम क्रोधाभ्यास ज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् ।। १५ ।। अप्रणीतो हि मात्स्य

इस प्रकार दंड के तीन रूप हुए। एक केवल दंड, दूसरा बल और तीसरा व्यवहार। बल का प्रयोग कामन्दक ने दण्ड अर्थ में किया है।* महाभारत के अनुसार दण्ड का ही नाम धर्म और व्यवहार है। इसलिये दण्ड के तीन अर्थ हुए—

(क) बल व सेना, (ख) व्यवहार व धर्म व्यवस्था और (ग) दुष्टों का नियंत्रण, निग्रह व दमन। शुक्रनीतिसार में ठीक लिखा है कि बलियों के वश में सभी रहते हैं और दुर्बल के सभी शत्रु होते हैं। छोटे लोगों की जब यह बात है, तब राजाओं का तो कहना ही क्या है? † शुक्राचार्य का वचन है कि धन और प्रिय वचनों से पहले का अपनाया हुआ आपत्काल में जो राजा की रक्षा करता है, वह बल कहाता है। ‡ बल दो प्रकार का होता है एक स्वराष्ट्र में प्रजा की त्रुटियों व अपराधों के लिये दण्ड देने की शक्ति और दूसरा पर-राष्ट्र से युद्ध करनेवाला बल व सेना।

ऊपर यह बताया गया कि दण्ड क्या है। अपराधियों को दंड देना राज्य का कार्य है। प्रत्यक्ष रूप से देखा जाय तो दण्ड एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता परिमित होती है। दण्ड क्यों देना चाहिये? इस विषय में तीन सिद्धान्त हैं। इन्हीं तीन सिद्धान्तों के आधार पर दण्ड व्यवस्था को युक्तिसंगत बतलाया जाता है। यह तीन सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त (Retributive theory)

(ख) निवर्त्तक सिद्धान्त (Deterrent theory)

न्यायमुद्भावयति ॥ १६ ॥ बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥ १७ ॥ तेन गुप्तः प्रभवतीति ॥ १८ ॥ अर्थ० अधि० १ अध्याय ४।

* स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशोबलं सुहृत।
परस्परोपकारीदं सप्तागं राज्य मुच्यते ॥ १ ॥ नीतिसार सर्ग ४ अ० ७

† बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बस्लय च शत्रवः।
भवन्त्यल्प जनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥ ८६७ ॥ अ० ४

‡ धनेन प्रिय सम्भाषैर्यतश्चै व पुरार्जितम्।
आपद्भ्य स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥ शा० पर्व अ० ५९

(ग) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformatory theory)

(क) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त—प्राचीन काल में यहूदियों में यह प्रथा प्रचलित थी जो जैसा करता था वैसा ही दण्ड उसे मिलता था अर्थात् यदि कोई किसी की टांग तोड़ देता था तो उसकी टांग तोड़ दी जाती थी। यदि कोई चोरी करता था तो उसके हाथ काट डाले जाते थे। जिस प्रकार का अपराध कोई व्यक्ति करता था उसी प्रकार का प्रतिफलात्मक दंड उसे दिया जाता था। "जैसे को तैसा" सिद्धान्त प्रयोग में लाया जाता था। हेगिल, ग्रीन और बोसांके के मतानुसार प्रतिफलात्मक सिद्धान्त का यह अभिप्राय नहीं है कि सार्वजनिक प्रतिहिंसात्मक अथवा प्रत्यपकारात्मक दंड दिया जाय। प्रतिहिंसा का प्रयोग मनुष्यों के सामाजिक पारस्परिक व्यवहार में हो सकता है परन्तु राजा और प्रजा के बीच में इस दण्ड का प्रयोग नहीं किया जा सकता। राज्य तथा व्यक्ति विशेष के बीच प्रतिहिंसा का प्रयोग असंभव है। ग्रीन का विचार है कि दंड का कोई सम्बन्ध प्रतिहिंसा से नहीं है और न होना ही चाहिये। प्रत्यपकारात्मक और प्रतिहिंसात्मक दंड की प्रथा को त्याग देना चाहिये। दंड का अभिप्राय यह होना चाहिये कि अपराधी को अपराध के बदले में ताड़ना हो और अन्य लोगों को ज्ञात हो जाय कि अपराध करने से दंड मिलता है, असामाजिक कार्य का परिणाम दंड है।

(ख) निवर्त्तक सिद्धान्त—ग्रीन और बोसांके ने इस सिद्धांत की व्याख्या की है। ये लोग इस बात को मानते हैं कि दंड में तीनों बातें सम्मिलित होनी चाहिये अर्थात् दंड प्रतिफलात्मक, निवर्त्तक तथा सुधारात्मक होना चाहिये। परन्तु वास्तव में अपराधी को दंड देने में इस बात का ध्यान रखा जाय कि दंड ऐसा हो और इस प्रकार दिया जाय कि अन्य अपराधी अपराध करने में भय खायें। ग्रीन का कथन है कि राज्य का उद्देश्य दंड देने में यह होना चाहिये कि "केवल अपराधी को दण्ड ही न दिया जाय न केवल उसे कष्ट ही दिया जाय न केवल इसलिये दंड दिया जाय कि वह भविष्य में ऐसा अपराध करने से डरे बल्कि ऐसा होना चाहिये कि अन्य अपराध करनेवाले इस दंड के विषय में विचार करके भयभीत हो जायँ और अपराध करने की हिम्मत न कर सकें।" यह प्रथा बहुत काल तक प्रचलित रही। जे० बेन्थम का कथन है कि "सार्वजनिक स्थान में दण्ड

* टी० ऐच० ग्रीन—लेक्चर्स आन दी प्रिंसिपल्स आफ पौलीटिकल आब्ली-गेशन पृष्ठ १६२

देना चाहिये ताकि जनता उसे देखे और उससे प्रभावित हो"। एक बार एक अपराधी ने इंगलैंड में एक घोड़ा चुराया। जब न्यायाधीश ने उसके मुकदमे का निर्णय किया तो कहा कि "ए, पुरुष। तुझे इसलिये फांसी नहीं दी जायगी कि तुमने घोड़ा चुराया है, बल्कि इसलिये कि भविष्य में घोड़े चोरी न जायँ"। यह निवर्त्तक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक स्थानों पर दंड दिया जाता था ताकि देखने वाले अपराध करने से डरें।

(ग) सुधारात्मक सिद्धान्त––इस सिद्धान्त के मानने वालों का मत है कि अपराधी को सुधार कर फिर समाज में उसे एक भले आदमी के समान जीवन व्यतीत करने के योग्य बना देना ही दंड का ध्येय होना चाहिये। दंड सुधारात्मक होना चाहिये। लौम्ब्रोसो के अनुयायियों का मत है कि "अपराध एक निदान, शास्त्र संबंधी चमत्कार है, यह एक प्रकार की उन्मत्तता है, यह एक प्रकार का पैतृक अथवा अर्जित अधःपतन है।" उनका कथन है कि अपराधी में अपराध के अवगुण अधिकतर जन्मजात होते हैं। कारावास के स्थान पर सुधारगृह, चिकित्सालय तथा पागलखाने स्थापित करने चाहिये। मनुष्य को अपराध करना समाज ही सिखाता है। कुछ अवगुण माता पिता के अनुचित प्रेम से बच्चों में आ जाते हैं और बड़े होकर वे समाज के लिये दुःखदायी सिद्ध होते हैं। कुछ अपराध माता पिता के उचित ध्यान न देने से बच्चे करने लगते हैं और बड़े होकर वे समाज को कष्ट देते हैं। अतः समाज का ही सुधार करना आवश्यक है। अपराध एक प्रकार का रोग है। इस अवगुण को दूर किया जा सकता है। और एक अपराधी का सुधार किया जा सकता है। एक व्यक्ति जो अपनी जीविका उपार्जन करने के लिये चोरी करता है उसे कोई कार्य अथवा उद्योग सिखा कर जीविका उपार्जन करने योग्य बना दिया जा सकता है ताकि वह एक भले आदमी के समान जीविका उपार्जन करके अपना जीवन व्यतीत कर सके। आजकल अधिकतर लोगों का यही विचार है। बहुत से मनोवैज्ञानिक इस बात का उपयोग कर रहे हैं और देखा गया है कि उनको इस कार्य में सफलता प्राप्त हुई है। वास्तव में मनुष्य राक्षस नहीं है। आवश्यकता ही मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है। समाज में अपराधी मनुष्य को फिर से एक श्रेष्ठ पुरुष की भांति रहने को बाध्य किया जा सकता है। अपराधी को स्वावलम्बी बनाकर उसमें आत्म-सम्मान के भाव जाग्रत करके पुनः सज्जन बनाया जा सकता है। प्रतिफलात्मक और निवर्तक सिद्धांत की अपेक्षा यह सिद्धान्त अधिक अच्छा है। बहुत से अपराधियों का सुधार किया जा सकता है। मनुष्य वास्तव में जन्मजात

अपराधी नहीं होता है। मनुष्य गुण और अवगुण समाज से सीखता है। अपराध कम करने के लिये समाज का सुधार करना आवश्यक है।

विशेष अध्ययन के लिये

जे० जे० रूसो —*सोशल कॉन्ट्रैक्ट*
डी० जी० रिशी —*नैचुरल राइट्स*
ऐच० रैशडेल —*थ्यौरी आफ गुड ऐन्ड ईविल*
ओपनहाइर —*रेशनेल आफ पनिशमैंट*
जे० मिल्टन —*एरियोपेजिटिका*
जे० ऐस० मिल —*लिबर्टी*
ऐस० लीकॉक —*अनसोल्वड रिडिल आफ सोशल जस्टिस*
ऐच० जे० लैस्की —*ग्रामर आफ पौलिटिक्स और लिबर्टी इन दी माडर्न स्टेट*
ऐल० टी० हाबहाउस —*ऐलिमैंट्स आफ सोशल जस्टिस*
जी० डब्ल्यू० ऐफ हेगिल —*फिलॉसफी आफ राइट्स*
डब्ल्यू० ई० हाकिंग —*लॉ ऐन्ड राइट्स*
टी० एच० ग्रीन —*प्रिंस्पिल आफ पोलीटिकल आब्लीगेशन*
आर० एन० गिलक्रिस्ट —*प्रिंस्पिल आफ पोलीटिकल साइंस*
आर० जी० गैटिल —*इन्ट्रोडक्शन टू पोलीटिकल साइंस*
जी० ऐल डिकिन्सन —*जस्टिस ऐन्ड लिबर्टी*
सी० डी० बर्न्स —*पोलिटिकल आइडियल्स*
बी० बोसांके —*फिलॉस्फीकल थ्यौरी आफ दी स्टेट*
लार्ड —*प्रिंस्पिल आफ पौलीटिक्स*
ऐन० वाइल्ड —*ऐथिकल बेसिस आफ दी स्टेट*
—*नीति वाक्यामृत महाभारत शान्तिपर्व*

अध्याय १०

नागरिकता तथा प्रतिनिधित्व सिद्धान्त

इस पुस्तक में यह वर्णन किया जा चुका है कि शासन पद्धतियाँ कितने प्रकार की हैं और यह भी वर्णन किया जा चुका है कि संसार के इतिहास में जितनी शासन प्रणालियां प्रचलित रहीं उन सब में सब से श्रेष्ठ जनतन्त्र-शासन प्रणाली है। आधुनिक काल में सब सभ्य देशों में जनतन्त्र-शासन प्रणाली द्वारा शासन हो रहा है। जनतन्त्र शासन प्रणाली में निर्वाचन का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यवस्थापक सभाओं के संगठन में एक मुख्य प्रश्न यह रहता है कि उसमें निर्वाचन प्रथा का उपयोग कहां तक, तथा किस प्रकार किया जाता है? अंग्रेजों के शासनकाल में भारतवर्ष में लगभग साढ़े तीन करोड़ स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त था और अब स्वतन्त्र भारतवर्ष में नवीन विधान के अनुसार वयस्क मताधिकार दिया गया है। प्रत्येक राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ज्ञान प्राप्त करे कि नागरिक किसे कहते हैं, नागरिकता क्या है, मताधिकार किसे कहते हैं, निर्वाचन के क्या नियम हैं, इत्यादि। इस अध्याय में इन्हीं बातों का वर्णन किया जायगा।

नागरिक शब्द का अर्थ नगर अथवा ग्राम का निवासी है। राजनैतिक दृष्टि से इसका अर्थ अधिक विस्तृत है। यह न तो निवास ही का अर्थ देता है और न उससे पृथक् है। प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में नागरिक उसे कहते थे जो राज्य में रहता था और उन अधिकारों से लाभ उठाता था जिन्हें राज्य उसे देता था। क्योंकि यूनानी राज्य केवल एक नगर तक ही सीमित था इसलिये राज्य के समस्त अधिकारों के भावों को नागरिक कहते थे। यूनान के इतिहास से हमको पता चलता है कि वहाँ के नगर राज्यों में तीन प्रकार के लोग रहते थे (१) नागरिक (citizens), (२) दास (slaves) और (३) आदेशी (aliens)।

(१) नागरिक—अरस्तू ने 'नागरिक' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है— "नागरिक वह व्यक्ति है जो नगर के शासन न्यायालय सम्बन्धी

झगड़ों के निबटाने में भाग लेन का अधिकारी है"। वाटल (Vattel) का मत है कि नागरिक सभ्य समाज के वे सदस्य हैं जो कुछ कर्त्तव्यों के द्वारा समाज से सम्बद्ध हैं, जो राज्य शासन के आज्ञाकारी हैं और राज्य शासन में जिनको हस्तक्षेप करने का अधिकार है। एक मुकदमे में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश ने नागरिकों की व्याख्या करते हुए लिखा था कि "नागरिक वे हैं जो उस राज्य के सदस्य हैं, जिसमें वे रहते हैं। उन्हीं से राज्य संगठित होता है। सर्वसाधारण के हित के लिये, वैयक्तिक अथवा सामूहिक रक्षा के लिये वे राज्य के साझीदार होते हुए उसके शासन के आज्ञापालक होते हैं"। प्रत्येक राज्य के विधान नागरिकों के योगक्षेम के लिये होते हैं। इन विधानों से नागरिकों को पारस्परिक व्यवहार में सुविधा होती है। परन्तु विधानों का उपयोग तभी है जब नागरिक उन्हें मानें और उनका पालन करें। नागरिक राज्य के विधानों का पालन इसलिये करते हैं कि विधान का पालन न करने में उन्हें राज्य की ओर से दण्ड मिलता है, अथवा नागरिक यह समझते हैं कि विधान हमारे हित के लिये हैं इसलिये उनका पालन करना चाहिये।

नागरिकता प्राप्त करने की दो रीतियां हैं। एक जन्म से दूसरी राज्य द्वारा प्रदत्न की हुई। नागरिकता और राष्ट्रीयता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना राष्ट्रीयता निश्चित हुए नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। राष्ट्रीयता निश्चित करने के भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नियम हैं। कहीं तो रक्त-सम्बन्ध से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है और कहीं जन्मभूमि से अर्थात् कहीं तो मनुष्य की राष्ट्रीयता उसके माता पिता की राष्ट्रीयता से और कहीं इन दोनों में से किसी एक की राष्ट्रीयता से निश्चित की जाती है, कहीं जन्मभूमि से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। कहीं इन दोनों बातों से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। प्राचीन काल में यूरोप और एशिया के लोग माता पिता के ही सम्बन्ध से मनुष्य की राष्ट्रीयता मानते थे। रोम के विधान में भी यही बात थी। आधुनिक काल में अधिकांश देशों में माता पिता के ही सम्बन्ध से मनुष्य की राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। आस्ट्रिया देश के विधान द्वारा "आस्ट्रिया के नागरिकों के लड़के चाहे कहीं उत्पन्न हुए हों या रहते हों, आस्ट्रिया के नागरिक समझे जायेंगे"। फ्रान्स के विधान द्वारा फ्रैंच माता अथवा पिता से जन्मी हुई सन्तान चाहे कहीं उत्पन्न हुई हो फ्रान्स की नागरिक समझी जायगी। इटली देश के विधान द्वारा उन सब लोगों को इटली का नागरिक समझा जाता है जिनका जन्म

इटालियन पिता से हुआ हो। भारतवर्ष में भी यही नियम है। कहीं कहीं जन्मभूमि से राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। अमेरिका और इंगलैंड अपने राज्यों में विदेशी माता पिता से उत्पन्न सन्तानों को अपना नागरिक मान लेते हैं तथा अंग्रेज अथवा अमेरिकन माता पिता द्वारा विदेश में जन्मे हुए बालकों को भी अपना नागरिक मान लेते हैं। यदि फ्रांस देश के माता पिता से अमेरिका अथवा इंगलैंड में कोई बच्चा उत्पन्न हो तो उसे फ्रांस देश के विधान के अनुसार फ़्रांस की और अमेरिका तथा इंगलैंड देशों के विधानों के अनुसार इन दोनों देशों की नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार होगा।

आधुनिक काल के राजनीतिज्ञ जन्मभूमि की अपेक्षा माता पिताओं के ही सम्बन्ध से मनुष्य की राष्ट्रीयता निश्चित करने के पक्ष में हैं। उनका मत है कि केवल जन्मभूमि से राष्ट्रीयता निश्चित नहीं की जानी चाहिये, क्योंकि वह प्रणाली दूषित है और इससे कुछ लाभ भी नहीं है। उदाहरणार्थ यदि फ़ान्स देश के नागरिक स्त्री पुरुष यात्रा करने के लिये जायें और मार्ग में इंगलैण्ड में उस स्त्री के बच्चा उत्पन्न हो जाय तो-इंगलैण्ड का नागरिक बन जायगा। वयस्क होने पर उसे वह सब अधिकार प्राप्त हो जायेंगे जो एक इंगलैण्ड के नागरिक को होते हैं। परन्तु इससे कोई लाभ नहीं है। उस बच्चे के हृदय में इंगलैण्ड के लिये कभी वह प्रेम नहीं हो सकता जो फ़ान्स के लिये होगा। इसीलिये माता-पिताओं के सम्बन्ध से राष्ट्रीयता निश्चित करना अधिक उचित समझा जाता है। संयुक्त-राज्य अमरीका में एक बार वहां के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश ने किसी मुकदमे का निर्णय करते हुए यह कहा था कि माता पिता के सम्बन्ध से ही नागरिकता का निश्चित करना अधिक उचित है।

देशीयकरण (Naturalization) द्वारा भी नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यदि कोई विदेशी पुरुष किसी अन्य देश में निवास करे और वहां की कुछ शर्तों को पूरा करे तो वह उस देश की नागरिकता का अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस प्रथा द्वारा नागरिकता के अधिकार प्राप्त करने को 'देशीयकरण' कहते हैं। देशीयकरण निम्न प्रकार से होता है।

(१) यदि एक राज्य के नागरिक के यहां अन्य राज्य का लड़का दत्तक बनकर चला जाय तो 'दत्तक' नवीन राज्य का नागरिक बन जायगा।

(२) यदि एक राज्य का नागरिक किसी अन्य राज्य की स्त्री से विवाह कर ले तो उस स्त्री को अपने पुरुष के राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जायगी।

(३) यदि एक राज्य का नागरिक दूसरे राज्य में भूमि मोल ले ले तो वह उस राज्य का नागरिक हो जायगा जहाँ उसने भूमि मोल ली है।

संसार के भिन्न भिन्न देशों में देशीयकरण द्वारा नागरिकता के अधिकार प्राप्त करने के भिन्न भिन्न नियम हैं। सन् १८७० से पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल गौर वर्ण के लोगों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। सन् १८७० में वहाँ एक विधान बनाया गया जिसके द्वारा हब्शियों को भी नागरिकता का अधिकार दे दिया गया परन्तु ब्रह्मी, जापानी, चीनी और भारतवासियों को 'देशीयकरण' द्वारा नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि न तो ये लोग गौर वर्ण ही थे और न हब्शी ही। संयुक्त राज्य अमेरिका में देशीयकरण द्वारा नागरिक बनने के लिये बड़ी उच्च श्रेणी के नैतिक चरित्र की आवश्यकता है। वहां अराजकतावादी को, षड्यन्त्र रचने वाले को, सरकारी कर्मचारियों की हत्या करने वाले को तथा हत्या करनेवाले के पक्षपाती को, वेश्यापुत्र को, व्यवस्थित शासन में अविश्वास रखने वाले को, विदेशी शत्रु, आदि को देशीयकरण द्वारा नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। सन् १९०६ के विधान के अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिका के नागरिक को अंग्रेजी भाषा का साधारण ज्ञान भी आवश्यक है। मैक्सिको में डाकू, चोर, राजद्रोही, दास रखने वालों, हत्यारों, तथा किसी अपराध में दंड पाये हुओं को नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। वहाँ का नागरिक बनने के लिये मनुष्य को किसी न किसी व्यवसाय अथवा उद्योग धंधे में अवश्य लगा होना चाहिये क्योंकि बेकार पुरुष को नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता है। पोर्चुगाल और स्वेडन में देशीयकरण के लिये मनुष्य को इस बात का प्रमाण देना आवश्यक है कि उसके पास जीविका निर्वाह करने का साधन है। स्वेडन में सच्चरित्रता के लिये भी प्रतिभू (जमानत) ली जाती है। जर्मनी में नागरिक को इस बात का प्रमाण देना पड़ता है कि वह अपना, अपने कुटुम्ब का तथा अपने ऊपर आश्रित जनों का पालन-पोषण कर सकता है। पेरू में भी देशीयकरण के लिये जीविकोपार्जन का साधन होना अत्यन्त आवश्यक है। नार्वे में देशीयकरण के लिये नागरिक को अपराध न करने की प्रतिभू देनी पड़ती है।

भिन्न-भिन्न राज्यों में देशीयकरण के लिये एक निश्चित समय तक निवास करने की आवश्यकता है मैक्सिको, स्विट्जरलैण्ड, अर्जेनटाइन, और पोर्चुगाल में देशीयकरण के लिये दो वर्ष तक निवास करना आवश्यक है। स्वेडन में तीन वर्ष तक निवास करना आवश्यक है। परन्तु विद्वान् तथा

कलाकौशल में विशेष रूप से निपुण व्यक्ति अथवा आविष्कार कर्ता के लिये यह अवधि कम की जा सकती है। इटली में चार वर्ष तक निवास करने के पश्चात् नागरिकता प्राप्त होती है परन्तु सैनिकों तथा राजकर्मचारियों के लिये यह बंधन नहीं है। यदि इटालियन स्त्री का पति विदेशी हो तो उसके लिये तीन वर्ष इटली में निवास करने के पश्चात् नागरिकता प्राप्त होगी। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, नैदरलैंड्स, जापान और हंगरी में पाँच वर्ष के निवास की आवश्यकता है। साधारणतया देशीयकरण द्वारा इसी प्रकार नागरिकता के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है नागरिकता के लिये निवास की अवधि में कुछ रियायत भी की जा सकती है। जहाँ साधारणतया इंगलैंड में नागरिकता प्राप्त करने के पाँच वर्ष का निवास आवश्यक है वहाँ एक विदेशी को जो सम्राट् की नौकरी में है इतने समय तक निवास की आवश्यकता नहीं है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में सेना में नौकरी करने वाले विदेशी पुरुष को एक वर्ष निवास करने के पश्चात् नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाता है। फ्रांस में भी विद्वान् आविष्कारक अथवा अन्य प्रकार के विशेषज्ञ को एक वर्ष के निवास के पश्चात् नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाता है अन्यथा वहाँ देशीयकरण द्वारा नागरिकता प्राप्त करने के लिये दस वर्ष का निवास करना आवश्यक है।

देशीयकरण से बड़े लाभ हैं। इससे प्रत्येक विदेशी को राज्य के वे सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो इस राज्य के नागरिक को प्राप्त होते हैं। ब्रिटेन में जिस विदेशी को देशीयकरण द्वारा नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाता है उसे वहाँ के विधान के अनुसार अपने देश को छोड़ अन्य सब देशों में ब्रिटिश नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रथम यहायुद्ध से पूर्व टर्की और रूस में वहाँ के विधान के अनुसार इन राज्यों का कोई नागरिक अपनी सरकार की आज्ञा के विरुद्ध यदि किसी अन्य देश में देशीयकरण करा लेता था तो भी वह इन देशों में अन्य देश का नागरिक नहीं समझा जाता था बल्कि अपने ही देश का नागरिक समझा जाता था। सन् १९०१ में इंगलैंड में देशीयकरण जांच कमेटी ने यह सिफारिश की थी जहाँ तक हो सके इंगलैंड के माता पिता से उत्पन्न हुए नागरिक तथा देशीयकरण द्वारा बने हुए नागरिक में कोई भेद न माना जाय। दोनों प्रकार के नागरिक प्रत्येक स्थान पर ब्रिटिश नागरिक माने जायें। विदेशों में भी उनको नागरिकता के समान अधिकार प्राप्त हों। संयुक्त राज्य (अमेरिका) में

देशीयकरण द्वारा जो लोग नागरिकता प्राप्त करते हैं उनके तथा अन्य नागरिकों के अधिकारों में कुछ भेद है। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का नागरिक प्रैसीडेन्ट अथवा उसका सहायक बन सकता है परन्तु देशीयकरण द्वारा जो लोग वहाँ की नागरिकता प्राप्त करते हैं उन्हें यह अधिकार प्राप्त नहीं है। अर्थात् देशीयकरण द्वारा जो व्यक्ति अमेरिका के संयुक्त राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेगा वह वहाँ का प्रैसीडेन्ट अथवा उसका सहायक निर्वाचित नहीं हो सकता। अन्य सब बातों में दोनों प्रकार के नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं।

अब यह जानना आवश्यक है कि नागरिकता का अधिकार किस प्रकार नष्ट हो जाता है। विदेशी के साथ विवाह करने से स्त्री की नागरिकता का ह्रास हो जाता है विदेशों में सेना की नौकरी करने से भी स्वदेश की नागरिकता जाती रहती है। यूरोप के बहुत से देशों में यही नियम है। विदेश की सेना में नौकरी करने वाला विदेशी समझा जाता है। पोर्चुगाल और बवेरिया में यह नियम है कि जब वहाँ के नागरिक अपने राज्य की उपाधि अथवा पदक के अतिरिक्त किसी अन्य राज्य की उपाधि या पदक स्वीकार कर लेते हैं तो वह अपने देश की नागरिकता खो देते हैं। अधिकतर राज्यों में फौजदारी के अपराध में दंड पा जाने के कारण लोग नागरिकता के अधिकार खो देते हैं। कुछ राज्यों का यह नियम है कि वहाँ का कोई नागरिक यदि विशिष्ट लम्बी अवधि तक देश के बाहर रहता है तो वह नागरिकता के अधिकारों से वंचित हो जाता है।

(२) **दास**—प्राचीनकाल में यूनान में नगर के सब निवासियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। जो लोग शिल्प तथा कृषि का कार्य करते थे उन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे ये लोग हैलट्स (दास) कहलाते थे। इनको न्यायालयों में अपना न्याय करने का तो अधिकार प्राप्त था परन्तु शासन कार्य में ये लोग भाग नहीं ले सकते थे। रोम में भी आरम्भ काल में सब नगर निवासियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। रोम में दो प्रकार के नगर निवासी होते थे। एक पैट्रैशियन्स दूसरे प्लैवियन्स, पहले प्लैवियन्स को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे, परन्तु इन्होंने कुछ काल पश्चात् नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिये। मध्यकाल में दास प्रथा प्रचलित थी। दासों को किसी देश में भी नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सब देशों में दास प्रथा का अन्त हो गया

और दासों को स्वतन्त्र कर दिया गया। अब जहां जहां ये लोग हैं सब जगह इन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त हैं।

(३) **अदेशी** (Aliens)—प्राचीन यूनान में तीन प्रकार के लोग नगरों में रहा करते थे। एक नागरिक, दूसरे दास और तीसरे अदेशी। अदेशी वे लोग थे जो व्यापार करने के लिये रोम आदि अन्य देशों से आकर यूनान में बस गये थे और व्यापार किया करते थे। ये लोग यूनान के स्थायी निवासी न थे। केवल व्यापार के सम्बन्ध में वहां रहते थे और जब उनका उद्देश्य पूरा हो जाता था, तो अपने देश को लौट जाते थे। इन अदेशी लोगों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे परन्तु इन्हें यूनान के न्यायालयों में न्याय कराने का पूर्ण अधिकार था। इन लोगों का सम्मान होता था और साधारणतया ये लोग धनी होते थे। आधुनिक काल में दास तो होते ही नहीं हैं क्योंकि दासता की प्रथा का तो अन्त हो गया है, परन्तु अदेशी होते हैं। अपनी सुरक्षा के लिये इन्हें उन राज्य के शासनाधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ता है जिन राज्यों में ये लोग व्यापार के लिये बसते हैं। जिस देश में ये लोग निवास करते हैं उस देश का यदि इनके स्वदेश से युद्ध छिड़ जाता है तो इन लोगों को दूसरे देश में (जिसमें ये निवास करते हैं) संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। युद्ध छिड़ जाने की दशा में या तो इन्हें देश छोड़ने की आज्ञा दे दी जाती है और समय निश्चित कर दिया जाता है कि अमुक समय तक चले जाओ वरना इन्हें एकत्रित करके एक स्थान पर रख कर इन पर पहरा बैठा दिया जाता है और इन्हें बिना आज्ञा स्थान नहीं छोड़ने दिया जाता है। युद्ध काल तक इनकी यही दशा रहती है। या तो युद्ध के समय दोनों देश अपने अपने नागरिकों को बदल लेते हैं या युद्धकाल तक इन्हें नजरबन्द रखा जाता है और युद्ध के अन्त में इन पर से प्रतिबन्ध हटा लिया जाता है।

प्रतिनिधिक प्रणाली—आधुनिक काल के सभ्य और स्वतन्त्र देशों की शासन प्रणाली विशेष रूप से प्रतिनिधित्व पर ही चल रही है। राजशास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि जिस शासन प्रणाली में प्रतिनिधित्व का समावेश नहीं है वह सभ्य जनोचित शासन प्रणाली नहीं है। राज्य जनता से बनता है और जनता के चुने हुए प्रतिनिधि जनता के हिताहित को जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं उतनी अच्छी तरह अन्य कोई नहीं समझ सकता। मांटेस्क्यू (Montesquieu) का कथन है कि प्राचीन लोगों को विशुद्ध प्रतिनिधि की कल्पना ही नहीं थी। यह कल्पना आधुनिक है। प्राचीन काल के राज्यों में

विधान निर्माण की सत्ता लोक-प्रतिनिधियों के हाथ में नहीं थी। राजा अपनी बुद्धि से अथवा विद्वान परामर्शदाताओं से परामर्श लेकर विधानों का निर्माण करते थे। अति प्राचीन काल में जब प्रतिनिधिक संस्थाओं का अस्तित्व नहीं था, सब लोगों का समूह एकत्रित होकर अपनी वैयक्तिक हैसियत से विधान का निर्माण करता था। यह जनसमूह साधारण लोगों का होता था, लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों का नहीं। प्राचीन काल में यूनान में जो सभा विधान के प्रस्ताव करती थी या उन्हें स्वीकृति देती थी वह प्रतिनिधित्व के बहुत निकट पहुँच गई थी; परन्तु उसकी सीमा के भीतर पग न रख पाई थी। इस सभा में प्रायः स्वतंत्रत मनुष्य (free men) रहते थे और वे अपनी वैयक्तिक हैसियत से कार्य करते थे। रूसो का कथन है कि प्रतिनिधित्व की कल्पना आधुनिक है। इसकी उत्पत्ति उन सरकारों के कारण हुई जिनका कार्य मानव जाति के अधःपतन का कारण होता था, जिनके शासन में मनुष्य के साथ पशुवत् बर्ताव किया जाता था। मांटेस्क्यू के कहने का आशय यह है कि स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली से तंग आकर लोगों ने प्रतिनिधित्व की स्थापना की।

मध्य कालीन यूरोप में प्रतिनिधित्व भावना का बहुत कम विकास हुआ। पार्लियामैंट में इस समय जो सदस्य रहते थे वे सारे राष्ट्र के प्रतिनिधि होने की अपेक्षा कुछ समूह-विषेश के प्रतिनिधि हुआ करते थे। उस समय पार्लियामैंट में सरदारों, धर्माचार्यों और मध्यवर्ग के लोगों के प्रतिनिधि रहा करते थे। आजकल प्रतिनिधित्व की जो भावना है वह उस समय इङ्गलैण्ड में न थी। यूरोप के और भी कितने ही देशों की प्रतिनिधि संस्थाओं की यही दशा थी। यूरोप में प्रतिनिधिक संस्था का बहुत देर में विकास हुआ। मध्य-युग के महादेशीय नगरों के शासन में प्रतिनिधित्व का नियम काम में लाया जाता था परन्तु उसका रूप बहुत भद्दा और अपूर्ण था। प्रतिनिधित्व के वास्तविक सिद्धान्त को वह सार्थक नहीं करता था। कुछ काल पश्चात् यूरुप में ज्यों ज्यों नगरों का विकास होता गया त्यों त्यों प्रतिनिधित्व प्रणाली को विशेष प्रोत्साहन मिलता गया।

इङ्गलैण्ड में सोलहवीं शताब्दी के मध्य में प्रतिनिधिक प्रणाली में परिवर्तन हुआ। इस समय पार्लियामैन्ट में वादविवाद करते हुए हेलेन नामक एक सदस्य ने कहा था कि "एक बड़ी महत्वपूर्ण बात जो आजकल मानी जाती है वह यह है कि कामन्स सभा में जो लोग प्रतिनिधि बनकर जायँगे वे किसी दल अथवा समुदाय विशेष के ही प्रनिनिध न होंगे बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि समझे जायँगे"। फ्रांस में प्रतिनिधित्व की नवीन प्रथा का

आरम्भ फ्रांस की क्रान्ति तक नहीं हुआ था । १७६१ के फ्रांस के नवीन विधान में नवीन प्रतिनिधिक प्रणाली का वर्णन किया गया है । इस विधान में स्पष्ट लिखा गया है कि प्रतिनिधि किसी दल अथवा जाति विशेष का ही नहीं समझा जायगा, वह सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधि समझा जायगा, जर्मनी ने भी फ्रांस का अनुकरण किया। जर्मनी के विधान में लिखा है कि जर्मन राइस्टैग (Reichstag) के सदस्य केवल किसी समुदाय विशेष ही के नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं । यूरोप के अन्य देशों की राजपद्धतियों में आजकल प्रायः इसी सिद्धान्त द्वारा कार्य हो रहा है । अब संसार के प्रायः सभी सभ्य देशो में प्रतिनिधि किसी जाति विशेष का नही बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि समझा जाता है । औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व यूरुप में यह प्रथा थी कि चाहे प्रतिनिधि देश की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक बातों से ज्ञान रखता हो अथवा न रखता हो परन्तु उसे अपने उस दल के हितों की रक्षा करना आवश्यक था जिस दल का वह प्रतिनिधि होता था उस समय संख्या के परिमाण से प्रतिनिधि न चुनकर दल विशेष की ओर से चुने जाते थे । लार्ड बेरोहम का कथन है कि "प्रतिनिधियों की व्यवस्था में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि वे प्रत्येक दल का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा नहीं" डिग्विट (Digvit), डेग्रीफ़, बनाट आदि फ्रेंच लेखको ने तथा शेल्फे आदि राजशास्त्रवेत्ताओं ने इस प्रतिनिधिक प्रणाली का समर्थन किया है जिसमें दल अथवा समुदायों का प्रतिनिधित्व होता है । डिग्विट का मत है कि दलों के प्रतिनिधित्व द्वारा ही जनता के मत का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व हो सकता है क्योंकि दलों की सम्मिलित सम्मति ही सामान्य जनता की सम्मति है। विधान मंडल तभी सच्चा प्रतिनिधिक मंडल कहला सकता है जब कि उसमें राज्य के सब व्यक्तियों का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व हो । जिस प्रकार राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व होता है उसी प्रकार राज्य के उद्योग-धंधों, व्यापार, कलाकौशल आदि का प्रतिनिधित्व भी होना आवश्यक है ।

प्रसिद्ध फ्रैंच विद्वान् एसमिन का मत है कि यदि विधान मंडल में प्रतिनिधि सम्पूर्ण देश के सामुदायिक हितों की अवहेलना करके अपने अपने दलों के हितों की रक्षा का ध्यान रखेंगे तो विधान मंडल एक वादविवादीय क्लब बन जायगा और परिणाम यह होगा कि राज्य के हितों को हानि पहुँचेगी और लोग केवल व्यक्तिगत हितों की ओर ही ध्यान देंगे ।

प्रतिनिधि का कर्तव्य—अतः आधुनिक काल की प्रतिनिधिक प्रणाली का आधार राष्ट्रीय हित है । आधुनिक काल में प्रतिनिधि किसी दल, जाति,

वर्ग अथवा स्थानीय सरकार का ही प्रतिनिधि नहीं होता है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। वह किसी विशेष दल अथवा समुदाय के हितों का ध्यान नहीं रखता वह सम्पूर्ण राष्ट्र से हितों को ध्यान में रखता हुआ कार्य करता है। राष्ट्र की जनता एक निश्चित समय के लिये अपनी शक्ति अथवा अधिकार प्रतिनिधि को सौंप देती है। प्रतिनिधि अपने विवेक के अनुसार उस अधिकार का प्रयोग करता है। उसे अपने निर्वाचकों की मनोवृत्ति का ध्यान रखना पड़ता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रतिनिधि प्रत्येक विषय पर अपने निर्वाचकों की बार बार सम्मति ले। ब्लंशले नामक प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता का कथन है कि 'वर्तमान काल का प्रतिनिधि किसी व्यक्ति, संघ अथवा दल का प्रतिनिधि नहीं है, वह राज्य का प्रतिनिधि है और राज्य-कार्य ही उसका कर्तव्य है, वह अपने निर्वाचकों के आदेशों से बाध्य नहीं है और न अपने कार्यों के लिये वह निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी ही है'। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान एसमिन का मत भी वही है जो ब्लंशले का है। ब्लंशले का कथन है कि "प्रतिनिधि वह है जो अपने वैधानिक अधिकारों की सीमा में लोगों के बदले अपनी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति के अनुसार कार्य करने के लिये निर्वाचित किया गया है। उसे कार्य और निर्णय की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि कोई प्रतिनिधि अपने विवेक और विचार शक्ति से कार्य न लेकर केवल निर्वाचकों की सम्मति से कार्य करता है तो वह वास्तव में प्रतिनिधि नहीं है लोक हित के लिये उसे अपने विवेक से कार्य लेना चाहिये"। ब्रिस्टल में भाषण देते हुए ऐडमन्ड बर्क (Edmund Burke) ने कहा था कि "आजकल की पार्लियामेंट भिन्न भिन्न विरोधी स्वार्थ रखनेवाले दलों के वकीलों की सभा नहीं हैं। अब पार्लियामेंट एक राष्ट्र की विचारक संस्था है। आप सदस्य निर्वाचित करते हैं, निर्वाचित होने के पश्चात् वह केवल आप ही का नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि हो जायगा"। बर्क ने यह भी कहा है कि प्रतिनिधि का यह कर्तव्य नहीं है कि वह अपने निर्वाचिकों के मतों के लिये अपने मत का बलिदान कर दे। उसका यह कर्तव्य है कि वह लोकहित के लिये पूर्ण परिश्रम करे और अपने विवेक का पूर्ण उपयोग करे।

विधान मण्डल के निर्वाचित सदस्य को अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये, और उसे अपने निर्वाचकों के मतों को ज्यों का त्यों न सुना देना चाहिये। उसे लोकहित को ध्यान में रखकर अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये या अपने निर्वाचकों के आदेशों का पालन करना चाहिये, इन बातों का उसे निर्णय करना

पड़ता है। अधिकतर विद्वानों का यह मत है कि प्रतिनिधि अपना विवेक प्रयोग करने का अधिकारी है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनका मत इस सिद्धान्त के विपरीत है। उनका कथन है कि प्रतिनिधि जनता के मुखपात्र होते हैं। अतः उनका कर्तव्य है कि वे लोगों की इच्छा को ज्यों का त्यों प्रकट करें। यदि वे किसी कारण ऐसा करना अनुचित समझें तो वे अपना पद त्याग दें। उन्हें अपने निर्वाचकों के मत के विरुद्ध विचार प्रकट करने का अधिकार नहीं है।

आलोचना—प्रतिनिधि निर्वाचकों के मुखपात्र नहीं बन सकते। वे अपने प्रतिनिधियों के मत के अनुसार प्रत्येक विषय पर विचार प्रकट नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करें तो वे सफलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकते। विधान मण्डल में अनेक ऐसे ऐसे विषय उपस्थित होते हैं जिन पर तत्काल विचार प्रकट करना पड़ता है। इस दशा में प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की प्रत्येक विनय पर सम्मति कैसे ले सकता है? एक और बात यह है कि निर्वाचक प्रायः साधारण श्रेणी के लोग होते हैं, वे छोटी बातों पर उद्वेग में आजाते हैं। उनमें शान्तचित्त होकर निर्णय करने की शक्ति नहीं होती। ऐसी दशा में उनके हित के विषय में जितना अच्छा निर्णय उनके प्रतिनिधि कर सकते हैं उतना वे स्वयं नहीं कर सकते। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि निर्वाचकों के विचारों की अपेक्षा कर प्रतिनिधि अपने विवेकानुसार मनमाने विचार प्रकट करता है तो जनता को उस प्रतिनिधि को चुनने से लाभ ही क्या है? जनता के मत की अवहेलना करके वह जनता का प्रतिनिधि ही कैसे रह सकता है? अतः एक बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ ने इन दोनों मार्गों के बीच एक तीसरा ही मार्ग निकाला है। उसका कथन है कि प्रतिनिधि का कर्तव्य जनता के भावों की उपेक्षा करना नहीं हैं। जनता के भावों को पूर्ण रूप से समझते हुए तथा अपनी स्वतन्त्र विवेक शक्ति का उपयोग करते हुए परिस्थिति के अनुसार वह लोकहित के लिये प्रयत्न करता रहे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह बात बात में अपने निर्वाचकों से पूछ कर कार्य करे। जनता के हित की रक्षा करते हुए अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

साधारणतया जनता का प्रतिनिधि प्रायः अपने निर्वाचकों से अधिक बुद्धिमान होता है। उसे राजकार्य का अनुभव भी अधिक होता है। अतः निर्वाचकों का यह कर्तव्य है कि उसके विचारों तथा सम्मति का आदर करें। जनता अपना प्रतिनिधि इसलिये नियुक्त करती है कि वह उसके हित की

रक्षा करने की अधिक योग्यता रखता है। उसे लोक हित के लिये अपने विवेक का पूर्ण रूप से प्रयोग करना चाहिये और विचारों तथा निर्णय शक्ति की स्वतन्त्रता रखते हुए उसे लोकमत का ध्यान रखना चाहिये।

प्रतिनिधिक प्रणाली का आविष्कार—प्रतिनिधिक प्रणाली लोकतंत्र का विशुद्ध रूप कहा जा सकता है। लोकतंत्र शासन में ही इसका प्रयोग होता है अन्यत्र इसका कोई अर्थ ही नहीं। प्राचीन काल में यूनान में छोटे छोटे जनतन्त्र नगर-राज्य थे। नगर के सब लोग मिलकर विधान बनाते और शासकों को चुनते थे। यूनान में कई सौ वर्ष तक यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रणाली प्रचलित रही। परन्तु आधुनिक काल के बड़े बड़े साम्राज्यों में अब इस प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतंत्र सम्भव नहीं है। आधुनिक काल के बड़े बड़े नगरों की जन संख्या प्राचीन काल के साम्राज्यों के समान है। इतनी बड़ी संख्या के एकत्रित होने के लिये पहिले तो स्थान ही नहीं। यदि स्थान भी हो तो इतनी संख्या में एकत्रित हुये लोगों में विचारविमर्श होकर किसी मत का प्रकट होना या किसी भी विषय पर कोई निर्णय होना असम्भव है। इसके अतिरिक्त प्राचीन नगर राज्यों के समान आजकल के राज्यों में नागरिक अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित नहीं जो राजनीतिज्ञ या सैनिक हों। नगरों में व्यापारी, शिल्पकार कृषक, जमींदार सब को नागरिक समझा जाता था और वे राज्यकार्य में भाग लेने के अधिकारी थे। शासक-वर्ग और दासवर्ग जैसा जन-विभाजन आधुनिक नगरों में न था। इसलिये यदि सब नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लें, अर्थात् विधान बनावें, सरकारी आदेश निकालें और मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति करें तो न व्यापारी व्यापार कर सकता है न मजदूर मजदूरी। सबको अपना कार्य छोड़कर राज्य कार्य के लिये एकत्रित होना न सम्भव है न सामाजिक हित की दृष्टि से वांछनीय है। यदि आधुनिक राज्यों में इस प्रकार के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का प्रयोग भी किया जाय तो उसका परिणाम यही होगा कि शासनसत्ता उन थोड़े से लोगों के हाथ में आ जायगी जिनको अपनी जीविका उपार्जन के लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। ऐसा लोकतन्त्र अपने नाम को सार्थक नहीं कर सकता। इसी कठिनाई के कारण प्रतिनिधिक प्रणाली का आविष्कार हुआ। सारी जनता स्वयं एकत्रित होने के बजाय अपने में से ऐसे व्यक्तियों को थोड़ी सी संख्या में चुनती जो एक स्थान पर बैठ कर जनता की ओर से राज्य कार्य सम्पादन करें। यह मान लिया गया कि चुने हुये प्रतिनिधि ऐसे हैं जो अपने निर्वाचकों के हित को समझते हैं, उनके योगक्षेम के सम्बन्ध में निर्वाचक जनता और निर्वाचित

प्रतिनिधि में मतैक्य है और प्रतिनिधि निर्वाचकों का हितैषी, विश्वासपात्र एवं योग्यतम व्यक्ति है।

प्रतिनिधि प्रणाली से सुविधा—प्राचीन काल में यूनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों में सब नागरिक एक स्थान पर एकत्र हो जाया करते थे और शासन कार्य में भाग लेते थे। परन्तु आधुनिक काल के बड़े-बड़े राज्यों में सब नागरिकों का एक स्थान पर एकत्र होना असंभव है। न तो वे एक स्थान पर एकत्र ही हो सकते हैं और न सब नागरिक अपना कार्य छोड़ कर आ ही सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक और सुविधाजनक समझा गया कि लोग अपने अपने प्रतिनिधि चुनकर भेज दें और यही प्रतिनिधि विधान बनाएँ और शासनकार्य में भाग लें। अतः देश के प्रत्येक भाग से प्रतिनिधि आकर देश के विधान निर्माण में भाग लेते हैं। प्रादेशिक क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विशिष्ट वर्गों, हितों, संवासों तथा समुदायों के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि इन विशिष्ट जनसमूहों व संवासों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे सबके हितों की रक्षा होती है और प्रजा का कोई भाग प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं रहता। प्रतिनिधिक प्रणाली से लोकतंत्र आधुनिक युग में भी एक व्यावहारिक वस्तु बन गई है। यदि इस प्रणाली का प्रयोग न किया जाय तो लोकतंत्र को कार्यरूप देना असम्भव हो जाय। प्रतिनिधिक सिद्धान्त के आधार पर अब बड़े से बड़ा सामूहिक कार्य चाहे वह राज्य का शासन हो या किसी व्यापारिक कम्पनी का प्रबन्ध बड़ी सरलता से जनतंत्रात्मक ढंग पर किया जा सकता है। इस प्रणाली से लोकतंत्र कम खर्चीला और अधिक सुविधापूर्ण हो गया है, अन्यथा वह ऐसा न होता। प्रतिनिधियों द्वारा जनसमूह की इच्छा ही जानने की सुविधा नहीं होती किन्तु शासन की नीति क्या है और उसका उद्देश्य भी क्या है यह सब सरलता से जनता को प्रतिनिधियों द्वारा जता दिया जाता है। प्रतिनिधिक प्रणाली से लोकतंत्र में उत्तमता व व्यवस्था आती है। यह प्रणाली अब लोकतंत्र में अनिवार्य है। इसके बिना लोकतंत्र व्यवहार में नहीं लाया जा सकता।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की दो प्रणालियाँ हैं। यदि व्यवस्थापक मंडल के लिये जनता प्रतिनिधि निर्वाचित करे और जनता के चुने हुए प्रतिनिधि व्यवस्थापक मंडल के सदस्य बन जायें तो इस प्रकार से भेजे हुए प्रतिनिधियों के लिये कहा जायगा कि वे प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा विधान मंडल में भेजे गये हैं। यदि किसी राज्य में जनता के निर्वाचित किये हुए प्रतिनिधि राज्य के व्यवस्थापक मंडल के सदस्य

न हों वरन् इन प्रतिनिधियों को यह अधिकार हो कि वे विधानसभा के सदस्यों को चुनें तो इस प्रकार चुने हुये व्यवस्थापक लोग अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने समझे जाते हैं। सन् १९०९ के विधान के अनुसार भारतवर्ष में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की प्रथा प्रचलित थी। उस समय जनता म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के लिये सदस्य निर्वाचित किया करती थी और ये बोर्ड अपने सदस्यों में से प्रान्तीय कौन्सिलों के सदस्य निर्वाचित किया करते थे। सन् १९१९ के विधान के अनुसार भारतवर्ष में प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली प्रचलित की गई। इस विधान के अनुसार प्रान्तीय असेम्बलियों में प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा सदस्य भेजे जाते थे। प्रत्यक्ष निर्वाचन में केवल एक बार चनाव होता है और अप्रत्यक्ष निर्वाचन में दोबारा चुनाव होता है अर्थात् एक बार जनता प्रतिनिधि निर्वाचित करती है और यह निर्वाचित प्रतिनिधि अपने में से प्रतिनिधियों का पुनः निर्वाचन करते है। ये पुनः निर्वाचित प्रतिनिधि 'अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित' कहलाते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन सुगम और सरल है। इसमें व्यय भी कम होता है और इस प्रणाली द्वारा अधिक सदस्य चुने जाते हैं। प्रत्यक्ष निर्वाचन में यह लाभ है कि लोगों में राजनैतिक चेतना जाग्रत होती है और वे स्थानीय राजनीति में दिलचस्पी लेते हैं। जनसाधारण प्रत्येक राजनैतिक प्रश्न को समझने तथा उस पर अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करता है। अतः राजनैतिक चेतना जाग्रत करने के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली अधिक श्रेष्ठ समझी गई है।

निर्वाचक संघ—प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की कई प्रणालियाँ हैं। प्रतिनिधि प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं, उद्योग-व्यवसाय आदि संगठनों द्वारा चुने जाते हैं, जाति, सम्प्रदाय और धर्मों द्वारा चुने जाते हैं तथा अन्य आर्थिक, व्यापारिक, शिक्षण तथा अन्य संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। किसी प्रदेश की व्यवस्थापिका सभा के लिये सदस्य निर्वाचित करने के लिये प्रदेश को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। निर्वाचन क्षेत्र एक प्रतिनिधिक या बहुप्रतिनिधिक होते हैं। जिस क्षेत्र से केवल एक प्रतिनिधि चुना जा सकता है वह एक प्रतिनिधिक और एक से अधिक प्रतिनिधि को चुनने वाला क्षेत्र बहुप्रतिनिधिक क्षेत्र कहलाता है, प्रदेश की जनगणना के आधार पर निश्चित संख्या में चुने जाने वाले प्रतिनिधिकों की संख्या से भाग देने पर वह सख्या मालूम हो जाती है जो एक प्रतिनिधि चुन सकता है। इसी संख्या के अनुसार एक प्रतिनिधिक या बहुप्रतिनिधिक

निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते हैं। प्रत्येक क्षेत्र के निर्वाचक-समूह को निर्वाचन-संघ के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

निर्वाचक सङ्घ दो प्रकार के होते हैं एक साधारण निर्वाचक सङ्घ दूसरे विशेष निर्वाचक सङ्घ—

साधारण निर्वाचक संघ—व्यवस्थापिका सभा के लिये प्रदेश को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक अथवा एक से अधिक सदस्य निर्वाचित करने की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों में सब प्रकार के मतदाता निर्वाचन में भाग लेते हैं। किसी प्रकार का जाति, धर्म, संवास, समुदाय आदि का भेदभाव नहीं किया जाता। हाँ इतना अवश्य है कि ये निर्वाचन संघ दो प्रकार के होते हैं ग्राम निर्वाचक-संघ दूसरे नगर निर्वाचन-संघ।

विशेष निर्वाचक-संघ—जब प्रादेशिक क्षेत्रों से सदस्यों को न चुनकर किसी विशेष संस्था या वर्ग से उन्हें निर्वाचित किया जाता है तो ऐसी संस्था को विशेष निर्वाचक संघ कहा जाता हैं। इन सदस्यों का कार्य उन संस्थाओं के हितों पर दृष्टि रखना है जिन संस्थाओं से वे निर्वाचित किये जाते हैं, जैसे भारतवर्ष के व्यापार-संघ से सदस्य निर्वाचित करना अथवा विश्वविद्यालयों से निर्वाचित करना।

विशेष प्रतिनिधित्व—साधारणतया विशेष निर्वाचक संघों के निर्वाचक साधारण निर्वाचक संघों में अपना मत देने के अधिकारी तो होते ही हैं परन्तु विशेष संस्थाथों के सदस्य होने की दशा में वे विशेष संघों में मत देने के अधिकारी भी होते हैं। जैसे एक रजिस्टर्ड ग्रेजुएट साधारण निर्वाचन संघ में तो अपना मत देगा ही परन्तु रजिस्टर्ड ग्रेजुएट होने की हैसियत से वह विश्वविद्यालय से निर्वाचित होने वाले सदस्य को चुनने का भी अधिकारी होगा। इस प्रकार उसे दो प्रकार के सदस्य चुनने का अधिकार प्राप्त होगा। विशेष प्रतिनिधित्व के विषय में राजनीतिज्ञों के दो मत हैं। विशेष प्रतिनिधित्व के समर्थकों का कथन है कि जब तक समाज की स्थिति ऐसी है कि लोग सबके हित का विचार न करके अपने सामुदायिक हित का ही ध्यान रखते हैं तो ऐसी दशा में विशेष प्रतिनिधित्व प्रणाली से ही कार्य लेना उचित है। जो लोग इस प्रणाली के विरुद्ध हैं उनका कथन है कि विशेष प्रतिनिधित्व प्रणाली व्यर्थ तथा अन्यायपूर्ण है और देश के लिये हानिकारक है। वास्तव में विशेष प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ कोई वर्ग विशेष शिक्षा व आर्थिक दृष्टि से समाज का पिछड़ा हुआ अङ्ग हो और

बिना विशेष सुविधा दिये अपना उचित स्थान पाने में उसे कठिनाई हो।

गार्नर का मत है कि निर्वाचन क्षेत्रों के सम्बन्ध में दो प्रणालियाँ हैं। एक तो यह कि जितने सदस्यों का निर्वाचन करना होता है उतने ही भागों में प्रान्त को विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक विभाग से एक सदस्य निर्वाचित कर लिया जाता है। दूसरा यह कि बहुत से छोटे छोटे निर्वाचन क्षेत्र बना लिये जाते हैं और एक टिकट पर अनेक सदस्यों के लिये मत लिये जाते हैं। परन्तु आजकल अधिकतर पहली प्रणाली को ही अधिक अच्छा समझा जाता है। साधारण टिकट प्रणाली की प्रथा क्वीन्सलैन्ड के अतिरिक्त संपूर्ण आस्ट्रेलिया में प्रचलित है। यह प्रणाली उन देशों में भी प्रचलित है जहां आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रथा है। ऐसे देश विशेषकर बेल्जियम, डेन्मार्क, क्यूबा, नारवे, पोर्चुगाल, स्वेडन, ब्राजील के कुछ प्रान्त, इटली जापान स्पेन के कुछ प्रान्त, स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैंटन आइसलैण्ड तस्मानिया आदि हैं। डिस्ट्रिक्ट टिकट प्रणाली (अर्थात् एक निर्वाचन क्षेत्र से एक ही सदस्य निर्वाचित करने की प्रथा) अमेरिका के संयुक्त राज्य में अधिकतर प्रचलित है। इस प्रणाली में यह लाभ है कि निर्वाचन में सुविधा होती है और कार्य सरलता से होता है। "निर्वाचक निर्वाचित सदस्य से परिचित होते हैं निर्वाचित सदस्य निर्वाचकों के हित की बातें सोचते हैं" *। इस प्रणाली में दोष यह है कि "अपने क्षेत्र के न्यून योग्यता के सदस्यों को निर्वाचित करते हैं" यदि किसी क्षेत्र में बहुत योग्य पुरुष नहीं होते हैं तो जैसे होते हैं उन्हीं में से चुनते हैं। "अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि जिन नगरों में यह प्रथा प्रचलित है वहां न केवल कम योग्यता के ही लोग निर्वाचित किये जाते हैं बल्कि बहुधा भ्रष्टाचारी प्रतिनिधि निर्वाचित कर दिये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि इस प्रथा द्वारा निर्वाचित सदस्य स्थानीय हितों का ध्यान रखते हैं और देश के हित का नहीं। अतः उनके विचार लोकहित सम्बन्धी प्रश्नों पर संकीर्ण और परिमित होते हैं और उनके विचारों में राष्ट्रीयता नहीं होती"†।

संयुक्त निर्वाचक संघों की आवश्यकता—जाति अथवा संप्रदाय के आधार पर अभ्यर्थी (Candidate) का निर्वाचन करना लोकहित के लिये हानिकारक है। निर्वाचक संघ पृथक् पृथक् जाति अथवा सम्प्रदाय सम्बन्धी

---

* गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ४४५

† ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४४६

नहीं होने चाहिये। यदि एक जिले से एक हिन्दू और एक मुसलमान निर्वाचित करना हो तो ऐसी व्यवस्था न की जाय कि हिन्दू निर्वाचक हिन्दू सदस्य को चुने और मुसलमान निर्वाचक मुसलमान सदस्य को। बल्कि हिन्दू सदस्य को हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर चुनें और इसी प्रकार मुसलमान सदस्य को भी दोनों सम्प्रदाय के लोग मिलकर निर्वाचित करें। स्वतन्त्र भारतवर्ष के नवीन विधान में यही व्यवस्था की गई है। इसमें साम्प्रदायिक निर्वाचन का अन्त कर दिया गया है।

संयुक्त निर्वाचन से लाभ—संयुक्त निर्वाचन से राजनैतिक दृष्टिकोण संकुचित और साम्प्रदायिक न होकर उदार तथा राष्ट्रीय हो जाता है। जातिगत पक्षपात का अन्त होता है। इस प्रणाली से राष्ट्रीयता के भावों की वृद्धि होती है और राष्ट्र की उन्नति होती है। भारतवर्ष में साम्प्रदायिक निर्वाचन की प्रथा अंग्रेजों ने प्रचलित की थी इससे उन्हें भारतवर्ष पर शासन करने में सुविधा होती थी। उन्होंने आपस में साम्प्रदायिक फूट स्थापित करके अपने राज्य की जड़ पक्की कर रखी थी। अब स्वतन्त्र भारत में इस दोष को दूर कर दिया गया है।

संयुक्त निर्वाचन के दो भेद—संयुक्त निर्वाचन दो प्रकार का होता है एक तो वह जिसमें अल्प संख्यक जाति के प्रतिनिधियों के लिये स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं दूसरा वह जिसमें अल्प संख्यक जाति के प्रतिनिधियों के लिये स्थान सुरक्षित नहीं रखे जाते हैं।

मताधिकार के सिद्धान्त—अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व फ्रेंच राजनैतिक-दर्शन का सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक नागरिक को प्रतिनिधि निर्वाचित करने का नैसर्गिक तथा परम्परागत अधिकार है और लोकेच्छा ही सर्वोच्चसत्ता है। लोकेच्छा तभी ठीक प्रकार से प्रकट हो सकती है जब सब नागरिक अपने प्रतिनिधियों के चुनाव के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति में भाग लें। मान्टेस्क्यू का मत है कि जिन लोगों की अपनी इच्छा ही नहीं हैं उन्हें छोड़ कर सब लोगों को प्रतिनिधि निर्वाचित करने में भाग लेना चाहिये। रूसो का भी यही मत है। रोबेस्पीयर का मत है कि "सर्वोच्चसत्ता जनता में वास करती है और प्रत्येक नागरिक को प्रतिनिधि चुनने में भाग लेना चाहिये। प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि जिन विधानों की वह आज्ञा पालन करता है उनके निर्माण में वह उचित सहयोग दे"। कुछ फ्रेंच विद्वानों का मत है कि मताधिकार प्रकृति का दान है और प्रत्येक नागरिक को इसका प्रयोग करना चाहिये क्योंकि यह उसका नैसर्गिक अधिकार है। फ्रेंच राज-

शास्त्रवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त का समर्थन तो किया है परन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त को अपने विधान में कोई स्थान नहीं दिया है। यह सिद्धान्त उन लोगों के लिये कोरा सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को उन्होंने कार्य रूप में परिणत नहीं किया है। आधुनिक काल में भी केवल स्विटजरलैन्ड ही एक ऐसा देश है जिसमें साधारण मताधिकार का प्रयोग किया जा रहा है अन्य देशों में इसका प्रयोग नहीं किया जा रहा है। यूरोप और अमेरिका के भिन्न भिन्न देशों की शासन प्रणाली में कुछ विशेष नियमों के आधार पर मताधिकार स्थापित किया गया है। इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये भिन्न भिन्न देशों के मताधिकार का उल्लेख किया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इंगलैंड में पार्लियामेंट के सदस्य केवल वे लोग ही निर्वाचित कर सकते थे जिनके पास चालीस शिलिंग अथवा इसके अधिक की भूसम्पति थी। इसके पश्चात ज्यों ज्यों राजनैतिक विचारों का विकास होता गया त्यों त्यों वहाँ के मताधिकार में भी परिवर्तन होता गया। आधुनिक काल में इंगलैण्ड में लगभग सब वयस्क स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है। अब इंगलैण्ड में घरेलू नौकरों तथा उन लोगों को जो अपने माता पिता पर निर्भर रहते हैं मताधिकार प्राप्त नहीं है। आवारा घूमने वालों, विक्षिप्त, अपराधी, अत्यन्त दरिद्र तथा कारावास का दंड भोगे हुए लोगों को भी मताधिकार प्राप्त नहीं है।

जर्मनी में भी लगभग सब पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है परन्तु वहाँ निर्वाचकों की आयु इंगलैंड और फ्रांस के निर्वाचकों की आयु से अधिक रखी गई है। जर्मनी में पच्चीस वर्ष की आयु पूरी करने पर मताधिकार प्राप्त होता है। वहां भी विक्षिप्त, अत्यन्त दरिद्र, युद्ध में गये हुए सैनिकों तथा दिवालियों को मताधिकार प्राप्त नहीं हैं। फ्रांस में भी दण्डभोगी अवस्यक युद्ध में गये सैनिक तथा दिवालियों को छोड़ कर सब लोगों को मताधिकार प्राप्त है।

सन् १८९३ में बेल्जियम में बहुमत मताधिकार की प्रथा आरम्भ हुई थी। किसी विशेष मनुष्य को किसी विशेष स्थिति या गुण के कारण एक से अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त होना बहुमत मताधिकार कहलाता है। कुछ लोगों का मत है कि बहुमत मताधिकार की प्रथा उन दोषों को दूर करने के लिये प्रचलित की गई है जो व्यापक मताधिकार (universal suffrage) की प्रणाली से उत्पन्न होते हैं। बहुमत मताधिकार के समर्थकों का विचार है कि संसार में बुद्धिमानों और विद्वानों की अपेक्षा मूर्खों की संख्या अधिक होती

है इसका परिणाम यह होता है कि चुनाव करने में मूर्खों का बहुमत हो जाता है। इस कारण बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों को रोकने के लिये विशेष गुण अथवा स्थिति वाले मनुष्य को साधारण मनुष्य से अधिक मत देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इसका परिणाम यह होगा कि विशेष गुणसम्पन्न मनुष्य कम संख्या में होते हुए भी अधिक संख्या वाले अज्ञानियों के विरुद्ध खड़े होकर उन दोषों को संयमित करने में समर्थ हो सकेंगे जो सर्व मताधिकार में अज्ञानियों की अधिक संख्या होने के कारण उत्पन्न हुए हैं। बहुमत मताधिकार की पद्धति भी दोषरहित नहीं है। बहुमत मताधिकार देने के लिए जिन विशिष्ट गुणों और स्थितियों की आवश्यकता होती है उनकी ठीक ठीक परीक्षा करने के लिये कौन सी कसौटी होनी चाहिये। इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की अड़चनें भी उपस्थित होती हैं। यद्यपि वह बहुमत मताधिकार पद्धति ठीक कार्य करती है, परन्तु वर्तमान काल में अधिकतर लोग इसे नहीं पसन्द करते हैं। वे व्यापक मताधिकार को अधिक पसन्द करते हैं।

व्यापक मताधिकार—साधारणतया लोगों का यह विचार है कि प्रत्येक नागरिक का यह परम्परागत और स्वाभाविक अधिकार है कि वह प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग ले। प्रजा ही शासन का अवलम्ब है। प्रजा ही शासन की सम्पूर्ण शक्तियों का आधार है। ऐसी दशा में अनेक राजनीतिज्ञों के मतानुसार प्रजा का कोई भी समझदार मनुष्य मताधिकार से वंचित न रखा जाना चाहिये। अठारहवीं शताब्दी के फ्रेंच राजनीतिज्ञों का भी यही मत था। प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता जज स्टोरी का कथन है कि यह बात कभी संभव नहीं हो सकती कि सब के सब प्रजाजन मताधिकार प्राप्त कर सकें। विशुद्ध से विशुद्ध प्रजातन्त्र में भी कुछ लोग ऐसे रह जाते हैं जिन्हें मताधिकार नहीं रहता। विक्षिप्त, बच्चे, दुराचारी आदि कई प्रकार के मनुष्य विशुद्ध से विशुद्ध प्रजातन्त्र में भी मताधिकार से वंचित रखे जाते हैं। जज स्टोरी के कथनानुसार यदि किसी बात का भेद-भाव रखे बिना सबको बिना किसी अपवाद के मताधिकार दे दिया जाय तो राज्यकार्य एक प्रकार से असम्भव हो जायगा। अतः यह आवश्यक है कि मताधिकार जनता की योग्यता और बुद्धिमत्ता पर निर्भर रखा जाय। मताधिकार में शिक्षा सम्बन्धी उपाधियों का, बड़े पद का अथवा धन का प्रतिबन्ध न रखा जाय। हर्ष की बात है कि यह प्रतिबन्ध दिन पर दिन सभ्य देशों से उठता जा रहा है। मिल प्रभृति कुछ प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता यद्यपि

यह आवश्यक नहीं समझते कि मताधिकार के लिये अमुक शिक्षा सम्बन्धी उपाधियों की आवश्यकता है परन्तु वे इस बात पर बड़ा जोर देते हैं कि मत देने वालों को लिखना पढ़ना ही नहीं चाहिये बल्कि उन्हें कुछ अन्य प्रकार का भी व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये। मिल का कथन है कि "मैं इस बात को अनुचित समझता हूँ कि जिन लोगों को लिखना पढ़ना अथवा साधारण गणित का भी ज्ञान नहीं उन्हें मताधिकार दिया जाय। मताधिकार के लिये लोगों को न केवल लिखना पढ़ना और साधारण गणित ही जानना चाहिये बल्कि इसके अतिरिक्त उन्हें साधारण इतिहास और संसार की राजनैतिक अवस्था का थोड़ा बहुत ज्ञान होना चाहिये"।

प्रसिद्ध अंग्रेज राजशास्त्रवेत्ता लेकी ने अपनी 'डेमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी' नामक पुस्तक में उन दोषों को दिखलाया है जो अज्ञानियों के हाथ में शासन-सत्ता के चले जाने से उत्पन्न होते हैं। इसने साधारण मताधिकार को बुद्धि-मत्तापूर्ण और उपयोगी नहीं बतलाया है। उसका कथन है कि यदि शासन का अन्तिम अधिकार उन लोगों के हाथ में चला जायगा जो सब से अधिक दरिद्र, अज्ञानी और अयोग्य हैं (और इन्हीं की सब से अधिक संख्या भी रहती है) तो इस से मनुष्य जाति की बड़ी हानि होगी। संसार को योग्यतापूर्वक संचालित करने में बुद्धि जितनी सफल हो सकती है उतनी केवल संख्या की अधिकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार सर हेनरी मेन प्रभृति कितने ही विख्यात विद्वानों ने साधारण मताधिकार का विरोध किया है। उसने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि इसके लिये किसी न किसी प्रकार की सीमा अवश्य निर्धारित होनी चाहिये।

वास्तव में साधारण मताधिकार की ओर संसार की गति बड़ी तेजी से हो रही है। यूरोप में इसकी सबसे अधिक प्रगति हुई है। कई विद्वानों का कथन है कि संसार में शिक्षा का प्रचार दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। यूरोप और अमेरिका में प्रायः सर्वत्र अनिवार्य शिक्षा का प्रचार है। मनुष्य जाति की मानसिक और बौद्धिक स्थिति का विकास हो रहा है चारों ओर ज्ञानज्योति चमकने लगी है। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि साधारण मताधिकार में जितने दोष भूतकाल में थे उतने वर्तमान काल में नहीं हैं। और भविष्य में तो इनका बहुत कुछ मूलोच्छेदन हो जायगा। मिल ने ठीक कहा है कि साधारण मताधिकार से पहले साधारण शिक्षा की आवश्यकता है।

मताधिकार का महत्त्व—जो व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल, म्युनिसिपल बोर्ड

जिला बोर्डों के सदस्यों के निर्वाचन में मत देने के अधिकारी होते हैं, उन्हें मतदाता या निर्वाचक कहते हैं। उनका यह अधिकार 'मताधिकार' कहलाता है। इस अधिकार का वर्तमान समय में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि जो व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल आदि के सदस्य होते हैं, वे मतदाताओं के इस अधिकार के प्रयोग से ही चुने जाते हैं। जिस दल के अथवा जिन विचारों वाले आदमियों के पक्ष में मतदाताओं का बहुमत नहीं होता, वे व्यवस्थापक मंडल के सस्दस्य नहीं बन सकते। अतः देश का विधान-निर्माण-कार्य अप्रत्यक्षरूप से देश के निर्वाचकों अथवा मतदाताओं पर निर्भर है। जिन व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त होता है वे यह समझते हैं कि राज्यशासन में हम भी भागीदार हैं। चाहे यह अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हो। अतः यह आवश्यक है कि यह अधिकार देश के अधिक से अधिक व्यक्तियों को प्राप्त होना चाहिये और केवल किसी विशेष जाति, धर्म अथवा व्यवसाय वालों को ही प्राप्त न हो। इस प्रकार के मताधिकार में स्त्री, पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, निर्धन, धनी आदि का ध्यान नहीं रखना चाहिये।

मताधिकार के अधिकारी—अब विचार यह करना है कि मताधिकार के अधिकारी कौन हैं। मताधिकार सम्पूर्ण जनता को नहीं दिया जा सकता क्योंकि जनता में तो पागल, रोगी, बच्चे आदि लोग भी होते हैं। ऐसे मनुष्यों को मताधिकार देने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि वे मताधिकार को समझ ही नहीं सकते। अतः अच्छे प्रजातन्त्र में बालकों तथा विक्षिप्तों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि इनमें राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने का तथा उचित मत देने की योग्यता नहीं होती है। जो लोग कारावास का दंड पाये हुए होते हैं अथवा किसी फौजदारी के मुकद्दमे में अपराधी होते हैं उन्हें भी साधारणतया मताधिकर नहीं दिया जाता है। अदेशीय भी नागरिकता के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि वे अन्य राज्य के राजभक्त नहीं हो सकते। अतः एक देश में रहने वाले लोगों को दूसरे देश में नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं होता है परन्तु एक निश्चित काल तक दूसरे देश अथवा प्रान्त में निवास करने के पश्चात् उन्हें वहां की नागरिकता के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं।

स्त्रियों का मताधिकार—फ्रान्स की क्रान्ति के समय यूरोप में लोगों में पर्याप्त राजनैतिक चेतना हो गई थी। यूरोपीय देशों के लोगों को व्यापक-मताधिकार प्राप्त करने की प्रबल कामना हुई। उसी समय फ्रान्स की राष्ट्रीय सभा के सन्मुख एक प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया गया था जिसमें स्त्रियों को मताधिकार देने के लिये कहा गया था। उस समय फ्रान्स की राष्ट्रीय

सभा में कुछ सदस्यों ने कहा था कि मताधिकार प्रत्येक नागरिक का नैसर्गिक तथा जन्मजात अधिकार है और किसी भी व्यक्ति को इस अधिकार से वंचित रखना बड़ा भारी अन्याय है, स्त्रियां भी नागरिक हैं अतः इन्हें भी मताधिकार मिलना चाहिये। इसके पश्चात् इंग्लैण्ड में बेन्थम, सिजविक, जान स्टुआर्टमिल आदि ने भी स्त्रियों को मताधिकार दिलवाने का बड़ा प्रयत्न किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कुछ अंश में स्त्रियों को मताधिकार मिला था। तब से स्त्रियों को अधिकाधिक मताधिकार प्राप्त होता गया। और अब संसार के लगभग सब देशों में स्त्रियों को पूर्णरूप से मताधिकार प्राप्त है।

इङ्गलैण्ड में स्त्रियों को मताधिकार—इङ्गलैण्ड में सन् १९२८ से स्त्रियों को पूर्ण मताधिकार प्राप्त हुआ है। उससे पूर्व स्त्रियों को पार्लियामेंट के चुनाव के अतिरिक्त सर्वत्र मताधिकार के वे अधिकार प्राप्त थे जो पुरुषों को थे। इङ्गलैण्ड में मेयर, ऐल्डर मैन और म्युनिसिपल सदस्यता आदि के पद भी स्त्रियों को प्राप्त हैं। जब तक स्त्रियों को पार्लियामेंट के चुनाव का मताधिकार नहीं मिला था तब तक स्त्रियों तथा जनता ने स्त्रियों को यह अधिकार दिलाने का बड़ा प्रयत्न किया। कई बार अनुदार और उदार दल ने प्रस्ताव पास कर सब चुनावों में स्त्रियों को मताधिकार देने के प्रस्ताव पास किये। विलायत के मजदूर दल के आदर्शों में स्त्रियों को पुरुषों के समान सम्पूर्ण मताधिकार दिलवाने का भी एक आदर्श था। स्त्रियों ने भी इस अधिकार को प्राप्त करने के लिये बड़ा आन्दोलन किया। स्त्रियों ने पार्लियामेंट पर धावे तक किये। उस समय के प्रधानमंत्री एस्क्विथ पर बड़ी बुरी तरह से मार पड़ी थी। आस्ट्रेलिया में स्त्रियों को न केवल पुरुषों के समान मताधिकार ही प्राप्त हैं, यहाँ स्त्रियाँ पुरुषों के समान पार्लियामेंट की सदस्या भी हो सकती हैं तस्मानिया और न्यूजीलैण्ड में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त हैं। नार्वे और फिन्लैण्ड में भी स्त्रियों को समान मताधिकार प्राप्त हैं। कनाडा प्रभृति कई राज्यों में तो विवाहित, अविवाहित, विधवा, सधवा आदि सब वयस्क स्त्रियों को ठीक पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त हैं।

अमेरिका के संयुक्त राज्य में स्त्रियों को कहीं मनुष्यों के समान अधिकार प्राप्त थे और कहीं पर नहीं। क्लोरीडो, इडा आदि कुछ राज्यों में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त थे। अन्यत्र कहीं स्त्रियों को केवल स्कूल-चुनाव में और कहीं म्युनिसिपल चुनाव में मताधिकार प्राप्त थे। वहाँ

भी स्त्रियों ने मताधिकार प्राप्त करने के लिये बड़ा आन्दोलन किया और उसे प्राप्त करने में सफल हुई।

अधिकतर लोगों का नारी मताधिकार के विषय में यह मत है कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र उनका घर है, राजनैतिक झंझटों में पड़ने से वे अपने गृहस्थी के कर्तव्यों से विमुख हो जायेंगी। यह सत्य है कि स्त्रियों को पुरुषों की सहधर्मिणी, बच्चों की माता, तथा गृह-स्वामिनी के रूप में बहुत कुछ कार्य करना आवश्यक है, परन्तु उनमें राज्य-कार्य में भाग लेने की जितनी सुविधा और योग्यता हो, उसके उपयोग का अधिकार उन्हें मिलना चाहिये। जो लोग स्त्रियों को मताधिकार देने के विरोधी हैं उनका कथन है स्त्रियों को मताधिकार इसलिये नहीं मिलना चाहिये कि वे मताधिकार को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकेंगी। उनके पति का उनके मताधिकार पर पूर्ण अधिकार रहेगा। जिस व्यक्ति को वे चाहेंगे उसे अपनी स्त्रियों का मत दिलवायेंगे। स्त्रियां अपने पति के प्रभाव से प्रभावित होकर उन्हीं की इच्छानुसार अपना मत देंगी। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। स्त्रियां पुरुषों की दास नहीं हैं। अब स्त्रियों में बहुत जागृति हो गई है। अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व ऐसा संभव हो सकता था परन्तु अब स्त्रियों को न तो उनके पुरुष उन्हें बाध्य ही कर सकते हैं और न अन्य किसी प्रकार से उनकी इच्छा के विरुद्ध उनसे कोई कार्य करा सकते हैं। क्योंकि स्त्रियों में अब शिक्षा का प्रचार हो गया है और अधिकाधिक होता जा रहा है। नगर की स्त्रियाँ राजनैतिक क्षेत्रों में कार्य करने के लिये पूर्ण रूप से योग्य हो गई हैं। अभी ग्रामीण स्त्रियों में अधिक राजनैतिक चेतना नहीं फैली है। इसका कारण यह है कि अभी वहाँ शिक्षा की कमी है। परन्तु अब ग्रामों में भी शिक्षा की उन्नति हो रही है और कुछ काल पश्चात् वहाँ की स्त्रियाँ भी नगर की स्त्रियों की भाँति राजनैतिक क्षेत्र में पुरुषों की भाँति कार्य करने लगेंगी। स्त्रियां पुरुषों के समान बुद्धिमान होती हैं। उन्हें मताधिकार से वंचित रखना वास्तव में घोर अन्याय है। सिजविक का कथन है कि "मैं इस बात का कोई कारण नहीं देखता कि कोई आत्मावलम्बी व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मताधिकार से वंचित रखा जाय। केवल स्त्री होने के कारण मताधिकार से वंचित रखना अन्याय है"। जान स्टुआर्ट मिल का कथन है कि "प्रत्येक योग्य नागरिक को मताधिकार मिलना चाहिये, इस लिंग भेद का रखना ठीक नहीं है।

के अमुक अवयव को अन्य अवयवों की अपेक्षा शरीर पर विशेष अधिकार प्राप्त है"। आधुनिक काल में राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों को मनुष्य के पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये हैं और स्त्रियों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि वे इस क्षेत्र में मनुष्यों से किसी प्रकार पीछे नहीं हैं।

निर्वाचकों की योग्यता—प्रत्येक मनुष्य को राजनैतिक विषयों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है परन्तु यदि प्रत्येक मनुष्य शिक्षित हो तो वह समाचारपत्र, रेडियो आदि द्वारा इतना अवश्य समझ सकता है कि वर्तमान काल की राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति कैसी है। अतः यह आवश्यक है कि जनता में शिक्षा का प्रचार किया जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि जब तक जनता में शिक्षा का प्रचार न हो तब तक उन्हें मताधिकार न दिया जाय। अब भारतवर्ष में सब वयस्क पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है परन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण लोगों में शिक्षा प्रचार शीघ्रातिशीघ्र किया जाय। सौभाग्य से हमारी सरकार इस बात का पूर्ण प्रयत्न कर रही है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्ड भी इस बात का पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं।

श्रम और स्वावलम्बन—कुछ लोगों का मत है कि मताधिकार उन लोगों को नहीं मिलना चाहिये जो अपनी जीविका-उपार्जन नहीं करते हैं और स्वावलम्बी नहीं हैं। मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को मिलना चाहिये जो अपने देश के लिये कुछ उत्पादन कार्य करते हों और देश की आय में योग देते हों। अतः श्रमजीवी, स्वावलम्बी तथा ईमानदारी से जीविका उपार्जन करने वालों को मताधिकार मिलना चाहिये और जो लोग अपने व्यवसाय में भ्रष्टाचार करते हैं, घूस खाते हैं, ब्याज खाते हैं अथवा जो पूँजीपति जमींदार और महन्त हैं उन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिये। रूस में यह प्रथा प्रचलित है और वहाँ यह प्रथा सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। परन्तु वास्तव में किसी प्रकार के मनुष्य को मताधिकार से वंचित नहीं रखना चाहिये। स्त्री और पुरुषों को समान मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। हमारे नवीन विधान में यही बात रखी गई है। हाँ, जो लोग विक्षिप्त, अपराधी तथा अवयस्क हैं उन्हें इस अधिकार से वंचित रखना चाहिये क्योंकि उनमें इतनी बुद्धि ही नहीं होती कि वे राजनैतिक बातों को समझ सकें। संसार में सब देशों में ऐसे लोगों को मताधिकार प्राप्त नहीं है।

साम्पत्तिक योग्यता—मताधिकार के लिये साम्पत्तिक योग्यता का होना अनिवार्य नहीं होना चाहिये। अंग्रेजी शासनकाल में भारतवर्ष में इस

प्रथा का प्रचार था परन्तु जब से स्वराज्य मिला है तब से साम्पत्तिक योग्यता की रोक हटा दी गई है।

वयस्क मताधिकार—आधुनिक काल में सब सभ्य देशों में विक्षिप्त, अपराधी, दण्डप्राप्त तथा अवयस्क को छोड़ कर सब को मताधिकार प्राप्त हैं और वास्तव में यह बात न्यायसंगत भी है। निर्वाचन के लिये किसी प्रकार की साम्पत्तिक अथवा शिक्षा की शर्त रखना अनुचित है। जनतन्त्र राज्य में सब स्त्री पुरुषों को समान राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। किसी देश में इक्कीस वर्ष और किसी देश में २५ वर्ष की आयु हो जाने पर स्त्री पुरुष वयस्क समझे जाते हैं। जिन देशों में एक निश्चित आयु पर पहुँचने पर स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो जाता है उसे वयस्क मताधिकार कहते हैं। जहाँ वयस्क मताधिकार प्राप्त होता है वहाँ मताधिकार के लिये अन्य किसी प्रकार की शर्त नहीं होती है। यदि कोई और शर्त भी होती है तो वह ऐसी होती है कि उनके होते हुए लगभग ९० प्रतिशत लोगों को मताधिकार प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ यह शर्त कि मताधिकार प्राप्त होने के लिये थोड़ी सी शिक्षा की आवश्यकता है। थोड़ी सी शिक्षा का अभिप्राय है केवल इतना पढ़ा लिखा होना कि मतदाता समाचारपत्र पढ़ सके और थोड़ा सा लिखना जानता हो।

कुछ लोगों का मत है कि केवल शिक्षित लोग ही अपने मताधिकार का उचित प्रयोग कर सकते हैं और अशिक्षित नहीं। उनका कथन है कि म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और ग्राम पंचायतों में तो अशिक्षित लोग भी अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकते हैं परन्तु प्रान्तीय तथा संघीय विधान सभाओं के लिये सदस्यों का शिक्षित होना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि इन सभाओं में शिक्षित सदस्य ही भेजने चाहिये।

आजकल यह देखने में आता है कि जनतन्त्र राज्यों में वयस्क मताधिकार प्राप्त होने पर भी लोग निर्वाचनों में अधिक दिलचस्पी नहीं लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका आधुनिक काल का सबसे प्राचीन देश है जहाँ सबसे पहले पूर्ण जनतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। वहां के लोग जन्मजात-जनतन्त्र-प्रेमी कहलाते हैं। परन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि वहां भी जनता निर्वाचनों में अधिक दिलचस्पी नहीं लेती है। बहुत कम लोग निर्वाचन में भाग लेते हैं। अधिकतर लोग मत देने में उदासीन होते हैं। यद्यपि अमेरिका का संयुक्त राज्य बहुत उन्नत देश है और लोगों में राजनैतिक चेतना भी है परन्तु वहाँ भी बहुत कम लोग मत देने को जाते हैं। लोगों में इस बात का आन्दोलन करने

की आवश्यकता है कि उन्हें मताधिकार के लाभ बतलाये जायें और यह भी बतलाया जाय कि राज्य का शासन-प्रबन्ध मतदाताओं पर ही निर्भर है। यदि वे योग्य, ईमानदार और सच्चरित्र सदस्य विधान सभाओं में भेजेंगे तो देश का हित होगा और यदि अयोग्य पुरुष भेजे जायेंगे तो देश का अहित होगा। इस प्रकार की राजनैतिक चेतना का जागृत करना जनतन्त्र राज्य का परम कर्तव्य है।

निर्वाचकों का कर्तव्य—जिन देशों में जनतन्त्र राज्य है वहां वयस्क मताधिकार अनिवार्य होता है। वयस्क मताधिकार प्राप्त लोगों का कर्वतय है कि वे अपने मताधिकार का उचित प्रयोग करें। निर्वाचकों को विचारपूर्वक अपना मत देना चाहिये और अच्छे मतदाता के जो कर्तव्य हैं उनका पालन करना चाहिये। बहुधा ऐसा देखा गया है कि मतदाता प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रभाव में आकर अपने अधिकार का उचित प्रयोग नहीं करते हैं। कृषक लोग अपने जमींदारों के दबाव में आकर अपनी इच्छानुसार मत न देकर जमींदारों की इच्छानुसार अपना मत देते हैं क्योंकि उनको इस बात का भय होता है कि यदि वे जमींदारों की इच्छा के विरुद्ध अपना मत देंगे, तो वे उन्हें अपनी भूमि से पृथक् कर देगें, उनका जीविका उपार्जन करने का साधन जाता रहेगा और उनके बाल बच्चे भूखे मर जायेंगे। इसी प्रकार पूंजीपतियों का भी मतदाताओं पर बड़ा प्रभाव होता है। वे धन का लालच देकर अपनी इच्छानुसार मत प्राप्त कर लेते हैं। बहुधा यह देखा गया है कि जनतन्त्र राज्यों में निर्वाचनों में बहुत धन व्यय होता है अथवा यों कहना चाहिये कि धन का अपव्यय होता है। बहुत से लोग साम्प्रदायिक विचारों से प्रभावित हो जाते हैं। अभ्यर्थी धर्म अथवा जाति के नाम पर मत प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी 'धर्म संकट में है' यह नारे लगाकर जनता को उत्तेजित करके मत प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के बहुत से दोष वयस्क मताधिकार में पाये जाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये लोगों को उचित शिक्षा देने की आवश्यकता है और उन्हें यह भी बतलाने की आवश्यकता है कि अभ्यर्थी जिन जिन अनुचित दबावों की धमकी देते है वह व्यर्थ हैं और उन धमकियों में उनको नहीं आना चाहिये।

अभ्यर्थी के गुण—जिस प्रकार मतदाताओं में विशेष गुणों की आवश्यकता है उसी प्रकार अभ्यर्थी में भी कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता है। अभ्यर्थी को गंभीर, पर्याप्त आयु का, योग्य और निर्भीक होना आवश्यक है। अभ्यर्थी को अनुभवी होना चाहिये और वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो

लोभी न हो। सच्चरित्र होना चाहिये और उसे निस्वार्थ भाव से कार्य करना चाहिये। ऐसे ही अभ्यर्थी वास्तव में देश की भलाई कर सकते हैं। अभ्यर्थी ऐसा होना चाहिये जिसे जीविका उपार्जन-करने की चिन्ता न हो। जिस अभ्यर्थी को जीविका उपार्जन करने की चिन्ता लगी रहेगी वह सफलतापूर्वक अपने राजनैतिक कार्य को न कर सकेगा। डाक्टर भगवानदास जी का मत है कि अभ्यर्थी में निम्नलिखित गुण होने चाहिये—

(क) समाज के इन चार मुख्य धर्मों में से किसी एक का वह विशेषज्ञ हो—(१) ज्ञान-विज्ञान, (२) शासन कार्य (रक्षा और प्रबन्ध), (३) धनधान्योत्पादन अर्थात् कृषि, शिल्प, वाणिज्य-व्यापारादि, (४) शरीर श्रम (मजदूरी)।

(ख) सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र में उसने प्रशंसनीय कार्य किया हो, और सद्बुद्धि (ईमानदारी) और लोक हितैषिता का सुयश कमाया हो।

(ग) उसके पास इतना अवकाश हो कि धर्म सभा (व्यवस्थापिका सभा) के कार्य को भली प्रकार कर सके और जीविका साधन अथवा धन-संचय के कार्यों से निवृत्त हो चुका हो। परन्तु ऐसी निवृत्ति अनिवार्य न हो।

"धर्मसभा (व्यवस्थापिका सभा) के किसी सदस्य को कोई सपदि द्रव्य (नकदी) रूपी पुरस्कार या वेतन, सभा का कार्य करने के बदले में न दिया जाय, पर उस कार्य के लिये उसका जो कुछ विशेष व्यय हो, यथा, मार्ग व्यय, मकान का किराया आदि, वह सब उसको राजकीय निधि (राष्ट्र-कोष) से दिया जाय और विशेष सम्मान के चिन्ह भी उसको दिये जायें।"

हमारा आदर्श—म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, प्रान्तीय तथा संघीय व्यवस्थापक मंडलों में उच्च श्रेणी के नीतिपूर्ण आचरण वाले व्यक्तियों को ही जाना चाहिये। जो लोग इन संस्थाओं के सदस्य बनने के लिये खड़े होते हैं उन्हें जनता को झूठी प्रतिज्ञाएँ करके धोखा नहीं देना चाहिये और न अपने निर्वाचन के लिये झूठा प्रचार ही करना चाहिये। इन संस्थाओं का सदस्य निर्वाचित होने के लिये उन्हीं लोगों को खड़ा होना चाहिये जो वास्तव में जनता की सेवा कर सकें और अपने देश के हित के कार्य कर सकें। जनता का भी यह कर्तव्य है कि वह झूठे प्रचार से प्रभावित होकर चालाक, मक्कार, दुश्चरित्र और लोभी पुरुषों को सदस्य न निर्वाचित करे। यदि ऐसे पुरुष इन संस्थाओं के लिये निर्वाचित किये जायेंगे तो देश का अहित होगा, क्योंकि ऐसे लोग

निर्वाचित होने के पश्चात् अपने स्वार्थ की सिद्धि करेंगे अथवा अपने सम्बन्धी और इष्ट मित्रों का भला करेंगे। अतः हमारा यह कर्तव्य है कि अत्यन्त उच्च-श्रेणी के चरित्रवान् पुरुषों को इन संस्थाओं के लिये निर्वाचित करें और स्वार्थ की बातों पर ध्यान न देकर लोकहित की बातों पर ध्यान दें। जब इन बातों का ध्यान रखा जायगा तभी अच्छे सदस्य विधान सभाओं में पहुँचेंगे। जो लोग सदस्य बनने के लिये अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं और निर्वाचन के दिनों में निर्वाचन क्षेत्रों में जाकर प्रचार करते हैं वे लोग सदस्य बनने के योग्य नहीं हैं। जो लोग वास्तव में उच्च चरित्र के होते हैं उन्हें किसी बात की लालसा नहीं होती है। वास्तव में ऐसे ही उच्च चरित्र के व्यक्तियों को ढूँढ उनसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे इन संस्थाओं के सदस्य बनने के लिये खड़े हों ऐसे पुरुषों को आग्रह करके म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और व्यवस्थापक मण्डलों में भेजना चाहिये जिससे जनता तथा देश का हित हो और ऊँचे आदर्श स्थापित हों।

मतों का गुप्त रहना—जब तक लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक मत देने का अधिकार न हो तब तक मताधिकार व्यर्थ है। वास्तव में मतदाताओं को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक मत नहीं दे सकते। कभी ऐसा होता है कि जिस व्यक्ति को मत देना होता है वह मतदाता का मित्र, सम्बन्धी, जमींदार आदि ऐसा व्यक्ति होता है कि जिससे उसका लिहाज करना पड़ता है और उससे दबना पड़ता है और उसे मत देने के लिये बाध्य होना पड़ता है। मतदाता को स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसे व्यक्ति को मत देना चाहिये जो वास्तव में लोकहित का कार्य कर सके। अतः अनुचित अथवा अनाधिकारी को मत देने से बचने के लिये गुप्त मत देने की प्रथा का आविष्कार किया गया है। इस प्रथा के अनुसार यह पता नहीं चलता है कि मतदाता ने किसके लिये अपना मत दिया है। इस प्रकार गुप्त मत देने से मतदाता अपने जमींदार, मित्र अथवा सम्बन्धी के प्रकोप से बच जाता है और इन लोगों से उसका वैमनस्य भी नहीं होता है। मतदाता को स्वतन्त्रतापूर्वक मत देने का अवसर इसी गुप्त मत प्रणाली में ही मिलता है।

एकमत प्रणाली—जितने सदस्य प्रान्तीय-व्यवस्थापिका सभा में भेजने होते हैं साधारणतया प्रांत को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक एक सदस्य निर्वाचित कर लिया जाता है। यदि इन निर्वाचन क्षेत्रों से एक ही व्यक्ति निर्वाचित होने के लिये खड़ा हो तो उसे सदस्य चुन लिया जाता है और मत लेने की

आवश्यकता ही नहीं होती। मत लेने की आवश्यकता उस समय होती है जब एक निर्वाचन क्षेत्र में एक से अधिक अभ्यर्थी खड़े होते हैं। ऐसी दशा में निर्वाचन कराने की आवश्यकता होती है जिसमें यह पता चल जाय कि किस व्यक्ति के पक्ष में उस निर्वाचन क्षेत्र का बहुमत है। एकमत प्रणाली के अनुसार प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार होता है। वह अपनी इच्छानुसार जिस व्यक्ति को निर्वाचित करना चाहता है उसके पक्ष में एक मत देता है। जिस व्यक्ति के पक्ष में बहुसंख्यक व्यक्ति होते हैं उसी को निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

आलोचना—एकमत प्रणाली बड़ी सरल प्रणाली है परन्तु इस प्रणाली में एक दोष भी है। इस प्रणाली द्वारा यदि एक अभ्यर्थी चुना जाता है तो वह उन्हीं मतदाताओं का प्रतिनिधि होता है जो उसे अपना मत देते हैं। जिन मतदाताओं ने उसे अपना मत नहीं दिया है वे प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक अभ्यर्थी केवल दो-चार मतों से ही जीतता है। ऐसी दशा में वह लगभग आधे ही मतदाताओं का प्रतिनिधि होता है और अन्य आधे मतदाताओं का कोई प्रतिनिधि नहीं होता। उदाहरणार्थ लखनऊ के नगर निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल के लिये निर्वाचित करना है। इस क्षेत्र में दो व्यक्ति 'क' और 'ख' खड़े होते हैं। लखनऊ के नगर क्षेत्र में ५०००० मतदाताओं ने मत दिये। 'क' के पक्ष में २५००१ मत दिये गये और 'ख' के पक्ष में २४९९९, अतः 'क' को 'ख' से केवल दो मत अधिक मिले और वह निर्वाचित हो गया। इस प्रकार 'क' केवल २५००१ नागरिकों का ही प्रतिनिधि हुआ और अन्य २४९९९ मतदाता प्रतिनिधित्व से वंचित रह गये। उनका कोई प्रतिनिधि व्यवस्थापक मण्डल में न होगा। यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से दो से अधिक अभ्यर्थी खड़े होते हैं तो बड़ा अंधेर हो जाता है। मान लीजिये कि बिजनौर नगर के मतदाताओं की संख्या ३००० है। यहाँ से चार अभ्यर्थी खड़े होते हैं, 'क' को ६००, 'ख' को ७००, 'ग' को ८०० और 'घ' को ९०० मत मिलते हैं। इस प्रकार 'घ' को सब से अधिक अर्थात ९०० मत प्राप्त हुए हैं और 'घ' निर्वाचित हो जाता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ३००० मतदाताओं में से केवल ९०० मत 'घ' को मिले और वह निर्वाचित हो गया। ऐसी स्थिति में 'घ' को बिजनौर की जनता का प्रतिनिधि कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है। वहां के २१०० लोग प्रतिनिधित्व से वंचित रह गये। एक तिहाई से कम लोगों का प्रतिनिधित्व हुआ। यह कैसा प्रतिनिधित्व है ?

अनेकमत प्रणाली—जब प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कई कई प्रतिनिधि निर्वाचित करने होते हैं और प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हे तो इस प्रणाली को अनेकमत प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली के अनुसार मत देने के अनेक प्रकार हैं, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) एक अभ्यर्थी, एक मत-पद्धति।

(ख) एकत्रीभूत मत-पद्धति।

(ग) एकलसंक्राम्य मत-पद्धति।

(क) 'एक अभ्यर्थी, एकमत' पद्धति—इस पद्धति से यह लाभ है कि जहाँ अनेकमत पद्धति द्वारा निर्वाचित किया जाता है वहाँ बहुमत को ही प्रतिनिधित्व मिलता है और अल्पमत का प्रतिनिधित्व नहीं होता। उदाहरणार्थ एक निर्वाचन क्षेत्र से चार प्रतिनिधि लिये जायेंगे। यहाँ प्रत्येक निर्वाचक को चार मत देने का अधिकार होगा। मान लो, यहाँ तीन दल हैं—हिन्दू-सभा, समाजवादी और काँग्रेसी। हिन्दू-सभा के ८००, समाजवादी के १६०० और काँग्रेस के १८०० मतदाता हैं। प्रत्येक दल चार चार अभ्यर्थी खड़े करता है और यह चाहता है कि उसके सब अभ्यर्थी निर्वाचित हो जायं। निर्वाचन का परिणाम यह होता है कि हिन्दूसभा से प्रत्येक अभ्यर्थी को आठ सौ मत मिलते हैं, समाजवादी दल के अभ्यर्थी को सोलह-सोलह सौ और काँग्रेस दल के अभ्यर्थी को अठारह-अठारह सौ मत मिलते हैं। इस प्रकार काँग्रेस दल के चारों अभ्यर्थी सफल होते हैं और प्रतिनिधि घोषित किये जाते हैं। हिन्दू सभा और समाजवादी दलों के आठों अभ्यर्थी असफल होते हैं।

(ख) एकत्रीभूत मत पद्धति—इस पद्धति के लिये बहु-प्रतिनिधिक निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिये, और जितने प्रतिनिधि चुने जाने वाले होते हैं उतने ही मत देने का अधिकार होता है पर उसे इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने सब मत केवल एक ही अभ्यर्थी को दे दे या उन सबमें बांट दे। ऐसी दशा में जो दल अपने को अल्पमत समझता है वह अपने सब मत एक ही अभ्यर्थी को दे देता है और इस प्रकार कम से कम उसका एक प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा नें पहुँच जाता है। पिछले उदाहरण में कांग्रेस दल व्यवस्थापिका सभा में अपने चारों प्रतिनिधि भेजने के लिये अपने अभ्यर्थियों को अपने सब मतदाताओं का एक एक मत दिलाता है, उसके प्रत्येक अभ्यर्थी को अठारह अठारह सौ मत मिलते हैं। अब यदि हिन्दू सभा के मतदाताओं के सब मत उस दल के एक अभ्यर्थी को मिल जाते हैं तो उसके पक्ष में

८०० × ४ = ३२०० मत हो जाते हैं, इसी प्रकार समाजवादी दल के सब मत उस दल के एक ही अभ्यर्थी को मिलने से उसके पक्ष में १६०० × ४ = ६४०० मत हो जाते हैं, अब मतों की अधिकता के विचार से विजयी अभ्यर्थियों का क्रम इस प्रकार रहता है:—

(१) समाजवादी दल का अभ्यर्थी ६४००
(२) हिन्दू सभा " " " ३२००
(३) कांग्रेस " " " १८००
(४) " " " दूसरा अभ्यर्थी १८००

इस प्रकार इस प्रणाली में अल्पसंख्यक दल को भी अपना प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिलता है। इस पद्धति की यही विशेषता है।

इस प्रणाली में यह दोष है कि कुछ विशेष अभ्यर्थियों को आवश्यकता से अधिक मत मिल जाते हैं और अन्य अभ्यर्थियों को मतों की कमी हो जाती है और वे निर्वाचित नहीं हो पाते।

(ग) **एकल संक्राम्य-मत-पद्धति**—यह प्रणाली अनुपात प्रणाली की ही एक पद्धति है इस पद्धति में वर्तमान दो या अधिक एक-प्रतिनिधि क्षेत्रों को आपस में मिलाकर कुछ बड़े निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार बना दिये जाते हैं कि प्रत्येक बड़े निर्वाचन क्षेत्र से कम से कम तीन और अधिक से अधिक सात अभ्यर्थी चुने जा सकें। एक निर्वाचन क्षेत्र से कितने ही प्रतिनिधि चुने जायें पर प्रत्येक मत-दान-पत्र पर इस मत को देते समय यह स्पष्ट करने की भी स्वतंत्रता होगी कि वह सर्वप्रथम किस अभ्यर्थी को चाहता है और दूसरे नम्बर पर किसको। इसी प्रकार वह सब अभ्यर्थियों के नाम के सामने अपनी रुचि-सूचक १, २, ३, ४, आदि संख्या लिख देगा। यदि पहली पसन्द के अभ्यर्थी को उस मतदाता के मत की आवश्यकता न हुई और वह उसके मत पाने से पहले ही निश्चित मतों की संख्या पा चुकने से निर्वाचित हो गया या उसके निर्वाचित होने की आशा ही नहीं है तो वह मत दूसरी पसन्द वाले अभ्यर्थी को दे दिया जायगा। इसी प्रकार वह मत यदि आवश्यक हो तो तीसरी चौथी आदि पसन्द वाले अभ्यर्थियों को दिया जायगा। मतधारक का मत किसी प्रकार भी व्यर्थ नहीं जायगा। वह किसी न किसी अभ्यर्थी को निर्वाचित करने में उपयोगी सिद्ध होगा। इस प्रणाली की विशेषता यही है कि कोई भी मत व्यर्थ नहीं जाता, यदि कोई कठिनाई है तो वह गिनने की, पर उससे मतदाता को कोई कष्ट नहीं होता। गणना से पहले यह स्थिर करना पड़ता है कि निर्वाचित होने के लिये प्रत्येक अभ्यर्थी को कम से कम

कितने मत मिलने चाहिये। इसका निकालना बहुत सरल है। इस प्रणाली से लोकमत का अधिक सच्चा परिचय मिलता है जो अन्य प्रणालियों द्वारा नहीं मिल सकता। इससे प्रत्येक मतधारक को वास्तव में पसन्द करने का अवसर मिल सकता है।

उदाहरण—मान लीजिये कि एक ऐसे निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचन हो रहा है जिससे पांच सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में भेजने हैं। यह भी मान लीजिये कि इन पांच स्थानों के लिये उस क्षेत्र स नौ अभ्यर्थी खड़े किये गये हैं। बैलट पेपर पर उन नौ अभ्यर्थियों के नाम इस प्रकार हैं—

बैलट पेपर

निम्न स्थान में अपनी पसन्द का नं० डाल दो	अभ्यर्थियों के नाम
	मौलाना अबुलकलाम आजाद
	पं० गोविन्द वल्लभ पन्त
	श्री चन्द्रभान गुप्त
	श्री बी० जी० खेर
	सेठ दामोदर दास
	चौ० गिरधारीलाल
	श्री गोविन्दसहाय
	श्री सम्पूर्णानन्द
	श्रीमती सुचेता कृपलानी

मतदाताओं के लिये आदेश

(१) जिस अभ्यर्थी को आप चुनते हैं, उसके नाम के पहले, पसंद के खाने में १ बना दीजिए।

(२) जिस अभ्यर्थी को आप दूसरे नम्बर पर चुनना पसन्द करते हैं उसके नाम के पहले पसन्द के खाने में २ बना दीजिए।

(३) जिस अभ्यर्थी को तीसरे नम्बर पर चुनना पसन्द करते हैं उसके नाम के पहले ३ बना दीजिए

इसी प्रकार अपनी पसन्द के चिन्ह बना दीजिए।

निर्वाचन के परिणाम की व्याख्या—प्रथम गणना-पहले रिटर्निंग अफसर बैलट पेपरों में से उन सब नामों को छांटेगा जिनके आगे संख्या १ लिखी होगी। पृ ३४७ पर प्रथम गणना वाले खाने में दिखाया गया है कि किन किन अभ्यर्थियों के नाम के आगे पहली पसन्द की संख्या कितनी कितनी

थी। मौ० आज़ाद को ११ निर्वाचकों ने पहली पसन्द में रखा था, श्री पन्त को १६ ने श्री गुप्त को १२ ने इत्यादि।

रिटर्निंग अफसर तब कोटाज्ञात करेगा, अर्थात यह ज्ञात करेगा कि एक अभ्यर्थी के निर्वाचन के लिए कम से कम कितने मतों की आवश्यकता है। इस निर्वाचन सूची के अनुसार अभ्यर्थी के निर्वाचन के लिए कम से कम २० मतों को आवश्यकता है। इस संख्या को इस प्रकार ज्ञात करते हैं—जितने मत दिये जायें, उस संख्या में जितने स्थान हैं उसमें एक जोड़कर भाग दे दो और भागफल में १ और जोड़ दो। यहां ११५ मत दिये गए हैं। स्थानों की संख्या ५ है। इसमें १ जोड़ने से ६ हो गया ११५ में ६ का भाग दे दिया गया, निकटतम भागफल १९ हुआ १९ में १ जोड़ दिया। अतः कोटा २० हुआ। निर्वाचित होने के लिए प्रत्येक अभ्यर्थी को कम से कम २० मत प्राप्त करने चाहिए। अब प्रथम गणना से ज्ञात होता है कि चौ० गिरधारीलाल को ३०० मत प्राप्त हुए हैं। इसलिए चौ० गिरधारीलाल को निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

द्वितीय गणना—चौधरी गिरधारी लाल के अधिक मतों का हस्तान्तर इस प्रकार होगा—चौधरी गिरधारी लाल को १० मत अधिक मिले हैं। रिटर्निंग अफसर इन मतों को इस प्रकार हस्तान्तर करता है कि उन सब अभ्यर्थियों के साथ पूर्ण न्याय हो जाये जिनको चौधरी साहब के निर्वाचकों ने अपनी दूसरी पसन्द में दिखलाया है। चौधरी साहब के तीसों बैलट पेपरों का फिर निरीक्षण किया जाता है और वे नाम छाँटे जाते हैं जिनके आगे दूसरी पसन्द का चिन्ह बना हुआ है। छाँट का परिणाम पृष्ठ ३४७ के अनुसार निकाला:—चौ. गि. लाल बैलट पेपरों में ६ पर श्री पन्त के लिए दूसरी पसंद थी „ „ „ „ „ ३ „ श्री गुप्त „ „ „ „ „
„ „ „ „ „ २१ „ श्री खेर „ „ „ „ „ *

*चौधरी गिरधारीलाल के ३० बैलटपेपर

चौधरी गिरधारीलाल के ३० मतों में से १० मत लिये जा सकते हैं अर्थात् एक तिहाई मत लिये जा सकते हैं। अतः प्रत्येक अभ्यर्थी को चौधरी गिरधारीलाल के उन बैलट पेपरों का तिहाई भाग मिल सकता है जिनमें दूसरी पसन्द लिखी हुई है। इस प्रकार श्री पंत को दो पेपर (मत) और मिल जाते हैं क्योंकि ६ पेपरों पर इनके लिये दूसरी पसन्द दिखाई गई थी और ६ का तिहाई हुआ २। श्री गुप्त को एक मत और मिलता है क्योंकि तीन पेपरों में इनके लिये दूसरी पसन्द दिखाई गई थी और तीन का तिहाई हुआ १। श्री खेर को ७

निर्वाचन का परिणाम

जायज मतों की संख्या—११५

स्थानों की संख्या—५

कौटा $\frac{११५}{६}$ + १=२०

अभ्यर्थियों के नाम	प्रथम गणना	द्वितीय गणना		तृतीय गणना		चतुर्थ गणना		पंचम गणना		नम्बर के हिसाब से निर्वाचित सदस्य
		चौ गि. लाल के मतों का हस्तान्तर	परिणाम	श्री सं. नन्द के मतों का हस्तान्तर	परिणाम	सेठ दा. दास के मतों का हस्तान्तर	परिणाम	श्रीमती कृप० के मतों का हस्तान्तर	परिणाम	
मौलाना अ० क० आजाद	११		११	+३	१४		१४	+६	२०	मौलाना आजाद (४)
श्री० गो० ब० पन्त	१६	+२	१८		१८		१८	+२	२०	श्री पंत (३)
श्री० चं० भा० गुप्त	१२	+१	१३		१३		१३		१३	
श्री० बी० जी० खेर	१०	+७	१७		१७		१७		१७	श्री खेर (५)
सेठ दामोदर दास	७		७		७	—७	—		—	
चौ० गिरधारी लाल	३०	—१०	२०		२०		२०		२०	चौ० गि० लाल (१)
श्री० गोविन्दसहाय	१५		१५		१५	+५	२०		२०	श्री गो० सहाय (२)
श्री० सम्पूर्णानन्द	६		६	—६	—		—		—	
श्रीमती सु० कृपलानी	८		८	+१	९	+१	१०	—१०	—	
अहस्तान्तर योग्यमत				+२	२	+१	३	+२	५	
योग	११५	—	११५	—	११५	—	११५	—	११५	—

मत मिलते हैं क्योंकि २१ पेपरों में इनके लिये दूसरी पसंद दिखाई गई हैं।

तृतीय गणना—श्री सम्पूर्णानन्द के मतों का हस्तान्तर—सब अधिक मतों को हस्तान्तर करने के पश्चात सब से कम मत प्राप्त करने वालों को रिटर्निंग अफसर असफल घोषित करता है। यहाँ श्री सम्पूर्णानन्द असफल होते हैं और इनके ६ मतों को अन्य पसन्द किये हुये व्यक्तियों में बांट दिया जाता हैं। तीन मतदाताओं ने दूसरी पसन्द मौ० आजाद के लिये प्रकट की है और एक ने श्रीमती सुचेता कृपलानी के लिये। अतः इन मतों का हस्तान्तर कर दिया जाता है। दो मतदाता अपनी पसन्द नहीं दिखलाते हैं और केवल श्री सम्पूर्णानन्द को मत देते हैं। इस प्रकार सम्पूर्णानन्द तथा उनके दल को दो मतों की हानि होती है और ये दो मत अहस्तान्तरित समझे जाते हैं।

चतुर्थ गणना—श्री दामोदरदास के मतों का हस्तान्तर—इन्होंने भी कम मत प्राप्त किये हैं। इनके पेपर देखने से पता चलता है कि इनके पांच मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द श्री गोविन्दसहाय के लिये प्रकट की हैं और एक ने श्रीमती सुचेता कृपलानी के लिये। अतः इन मतों का इस प्रकार वितरण कर दिया जाता है। यद्यपि श्रीगोविन्दसहाय को निश्चित २० मत मिल जाते हैं और वह निर्वाचित हो जाते हैं परन्तु एक पेपर पर पसन्द नहीं प्रकट की गई है अतः उस पेपर को अहस्तान्तरित करके पृथक कर दिया जाता है।

पंचम गणना—श्रीमती सुचेता कृपलानी के मतों का हस्तान्तर—अब श्रीमती सुचेता कृपलानी के मत बहुत कम हैं। इनके १० पेपरों से पता चलता है कि उनमें से ६ में दूसरी पसन्द मौ० आजाद के लिये है, दो में श्री पन्त के लिये है। इन आठ मतों को पसन्द के अनुसार हस्तान्तरित कर दिया जाता है। दो पेपर और हैं जिनमें पसन्द प्रकट नहीं की गई हैं अतः ये दोनों पेपर बेकार हो जाते हैं। इनको अहस्तान्तरित कर के पृथक कर दिया जाता है।

अब मौलाना आजाद व श्री गोविन्द बल्लभ पंत को मतों का निश्चित कोटा प्राप्त हो जाता है और इन्हें भी निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। श्री गोविन्द बल्लभ पंत को प्रथम गणना में अधिक मत मिले थे इसलिये निर्वाचित सदस्यों के क्रम में इनका नाम मौलाना आजाद के नाम के ऊपर रहेगा। एक स्थान और भरना रह गया है। श्री गुप्त को श्री खेर से कम मत मिले हैं इसलिये श्री गुप्त असफल होते हैं। अन्तिम स्थान को भरने के लिये श्री खेर के मतों की संख्या अधिक होने के कारण इनको निर्वाचित घोषित किया जाता है यद्यपि इनको मतों का निश्चित कोटा प्राप्त नहीं हुआ

है। इसका कारण यह है कि एक स्थान खाली था और एक अभ्यर्थी की आवश्यकता थी इस लिये इनको ले लिया गया।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये

जे० डब्ल्यू० गार्नर —इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस

सिज्विक —ऐलीमेन्ट्स आफ पौलीटिक्स

ब्लंशली —थ्यौरी आफ दी स्टेट

मेन —पोपुलर गवर्नमैंट

मिल —रिप्रैजैन्टेटिव गवर्नमैंट

रूसो —सोशल कॉन्ट्रेक्ट

सुमनर —इक्वल सफ्रेज इन कोलोरैडो

लैकी —डैमोक्रेसी ऐन्ड लिबर्टी

अध्याय ११

विधान और सर्वोच्चसत्ता

'विधान' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है किन्तु उन सब का अभिप्राय होता है नियम जिसके अनुसार घटनायें घटती हैं चाहे वह नियम जड़, प्रकृति, मानव-स्वभाव या सामाजिक बलप्रयोग पर आधारित हो। जिस विधान से हमें यहां सरोकार है वह एक सामाजिक नियम है, उस समाज का विशेषकर वह नियम है जो राज्य के रूप में संगठित हो चुका हो। इस समाज में एक व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्तियों का समूह दूसरों को आदेश देने की निरपेक्ष शक्ति रखता है और दूसरे व्यक्ति इन आदेशों को प्रकृत्या मानते हैं। ऐसे समाज में शासक व्यक्ति जो आदेश पत्र प्रजा द्वारा मानने के लिये निकालते हैं वे विधान कहे जाते हैं।

विधान का स्वरूप—जिस विधान की हम इस अध्याय में व्याख्या करने जारहे हैं वह राजा, या शासक द्वारा नागरिकों के आचार व्यवहार का नियमन करने के लिये दिया हुआ आदेश है जिसके अनुसार पालन न करने से नागरिक राज्य द्वारा दण्ड पाने के अधिकारी हैं। राज्य के विधान की प्रमुख पहिचान यह है कि उसका पालन राज्यदण्ड द्वारा कराया जा सकता है। बिना राज्य दण्ड के भय के विधान राजविधान नहीं रहता। यह भय प्रत्यक्ष न हो और व्यक्ति सदा भय के कारण ही विधानों का पालन न करते हों किन्तु यह भय विधान पालन की पृष्ठभूमि में रहता अवश्य है। इस दण्ड के भय के बिना राज्य का आदेश अच्छी सलाह, राय या नसीहत भले ही हो वह विधान का रूप धारण नहीं करता।

विधान और नैतिकता—यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विधान नीतिपूर्ण हो। विधान अनीतिपूर्ण हो सकता है और वैसी दशा में उस विधान की अवज्ञा करना नीति और आचार की दृष्टि से प्रशंसनीय ही समझा जायगा। विधान के अस्तित्व के लिये उसकी नैतिकता की वैसी आवश्यकता नहीं जितनी कि उसकी इस विशेषता की वह सर्वोच्च सत्ता की प्रकट इच्छा हो जिसे न मानना

दण्डनीय हो सकता हो। नैतिक नियमों व विधान में बड़ा अन्तर है। नैतिक नियम व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के लिये, उसके चरित्र को ऊंचा बनाने के लिये और उसके सामूहिक जीवन में सुख व शान्ति भरने के लिये आवश्यक हों। इसी कारण वश इन नियमों का पालन वांछनीय हो किन्तु केवल इतने भर से ही वे विधान का रूप धारण नहीं कर लेते। जब तक नैतिक नियमों पर राजाज्ञा की छाप नहीं लगती तब तक ये विधान नहीं कहलाते। व्यक्ति का कोई कार्य नैतिक दृष्टि से बहुत ही हीन होने पर भी विधान द्वारा दण्डनीय न हो। झूठ बोलना नैतिक अवगुण है किन्तु विधान असत्य भाषण को तब तक दण्डनीय नहीं समझता जब तक कि उससे लोक यात्रा में अड़चन नहीं पड़ती। राज्य का ध्येय चाहे आध्यात्मिक उन्नति भले ही हो, जैसा कि आदर्शवादी कहते हैं, किन्तु राज्य के लिये यह सम्भव नहीं कि वह लोगों को नीतिपूर्ण बनाने के लिये शक्ति का प्रयोग करे। असल में नीति और बल प्रयोग विरोधी बातें हैं। नैतिकता स्वप्रेरित ही होती है बलपूर्वक बुद्धि को नीतिपूर्ण बनाना नैतिकता की जड़ काटना है। इसलिये विधान जिनका आधार राज्य-बल है नीति की सृष्टि नहीं कर सकते, वे यह निश्चय नहीं कर सकते कि नीति क्या है और उस नीति को बरबस लोगों पर लाद भी नहीं सकते। वे नीति का अनुकरण कर सकते हैं, मार्ग प्रदर्शन करना विधानों का काम नहीं है।

विधान और धर्म—मानव इतिहास के प्रारम्भ में जब धर्माचार्य ही राजा होता था, धार्मिक आज्ञायें ही विधान का रूप धारण कर लेती थीं। समय बीतने पर राजा और धर्मगुरु का अधिकार क्षेत्र अलग अलग हो गया। धर्मगुरु मनुष्यों के उस आचार-विचार पर दृष्टि रखता था जिसका सम्बन्ध उसके पारलौकिक जीवन से था और राजा इहलौकिक जीवन की बातों पर नियंत्रण रखने लगा। यह प्रथकीकरण स्पष्ट न होने से राजा और धर्मगुरु के अधिकारों में टक्कर होना अनिवार्य था। इस टक्कर का फल यह हुआ कि शताब्दियों के संघर्ष के बाद राजा विजयी हुआ। व्यक्ति के शरीर और सम्पत्ति पर राजा का पूरा अधिकार हो गया। इससे सम्बन्ध रखने वाले नियम लौकिक नियम कहलाने लगे और जिन नियमों को राज्य ने कार्यान्वित करना निश्चित किया वे विधान कहलाने लगे। धर्मगुरुओं की आज्ञायें साधारण जनता उतने ही भय से मानती थी किन्तु वह भय राज्यदण्ड का न था वह नरक का भय था। धर्माचार्य ईश्वर का भय दिखलाकर चाहे इन भक्तों से कुछ भी करा लेते किन्तु बलप्रयोग राज्य ही कर सकता था।

जनतंत्र प्रणाली में राज्य और धर्म बिलकुल पृथक् मानना ही श्रेयस्कर समझा गया है क्योंकि एक राज्य में कई विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहते हुये राज्य द्वारा किसी धर्म का अपनाया जाना मुसीबत से खाली नहीं हो सकता। अब विधानों का रूप धर्माज्ञाओं को कार्यान्वित करने का काम नहीं करते। उनका काम धर्मस्थापना नहीं, समाज संचालन है। वे यह नहीं कहते कि अमुक सम्प्रदाय को मानो, ईश्वर में विश्वास करो, उपासना करो, हाँ यह अवश्य कहते हैं कि यदि समाज व्यवस्था के अमुक नियम को तोड़ोगे तो दण्ड मिलेगा।

विधान के स्रोत—आधुनिक समय में सर्वोच्चसत्ता किसी प्रकार की व्यवस्था करने के लिये विचार-विमर्श द्वारा विधान बनाती है। ऐसा करते समय यह सत्ता विधान मण्डल का रूप धारण कर लेती है। विधान सभाओं के अतिरिक्त प्रैसीडेंट, गवर्नर आदि को भी अल्प-अस्थायी विधान बनाने का अधिकार रहता है। विधान सभायें विधान बनाने के अधिकार को अन्य छोटी संस्थाओं को भी दे देती हैं। म्यूनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि शासन विभागों को भी मूल विधान के अन्तर्गत नियम व उपनियम बनाने का अधिकार दे दिया जाता है। आधुनिक विधान प्रायः लिखित होते हैं। यहाँ हमें दो बातें जानना आवश्यक है। एक तो यह कि लिखित विधान कितनी ही सूक्ष्मबुद्धि से बनाया गया हो वह मानवजीवन में होनेवाला, परिवर्तनों व नई समस्यायों को सुलझाने में सर्वदा सफल नहीं हो पाता। कुछ बातें विधान निर्माताओं की दृष्टि के बाहर रह ही जाती हैं। दूसरे भाषा कितनी ही नपी तुली हो वह विधान-निर्माताओं के मन्तव्य को असंदिग्ध-रूप से व्यक्त करने में पूरी सफल नहीं हो पाती। इन दो बातों के कारण लिखित विधान के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्रोत हैं जहाँ से विधान का रूप परिवर्तित और विवर्धित होता है। इनका वर्णन नीचे किया जाता है।

रीति-रिवाज—जिस समाज में पूर्वजों पर श्रद्धा होती है परम्परा के प्रति आदर होता है वहीं रीति-रिवाज बनते हैं और उनको उचित महत्व दिया जाता है। तर्कबुद्धि और नवीनता के प्यासे युग में रीति-रिवाजों का महत्व कम हो गया है किन्तु प्राचीन काल में रीति-रिवाजों को ही न्यायकर्ता राजा अथवा अफसर लागू करता था। प्राचीन काल में आजकल जैसी कानून बनाने की प्रथा न थी जिसमें एक स्थान पर बैठ कर कुछ व्यक्ति सोचविचार के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार व अधिकारों का रूप निश्चित करते हैं। उस समय श्रेष्ठ, वयोवृद्ध विद्वान् व्यक्ति ही किसी व्यवहार की रूप रेखा निश्चित

कर देते थे और उसका साधारण प्रचलन होने पर कुछ समय के पश्चात् वह रीति रिवाज का रूप धारण कर लेता था। झगड़ा होने पर इन रीति रिवाजों का सहारा लेकर न्याय का निर्णय होता था। इससे स्पष्ट है कि नैतिक बुद्धि और मानव स्वभाव ही यद्यपि रीति-रिवाजों का मूल रही होगी किन्तु किसी बात की व्यावहारिक उपादेयता तथा सर्वमान्यता रीति-रिवाज को जन्म देती है। आधुनिक काल में लिखित विधानों ने रीति-रिवाज के क्षेत्र को बहुत संकीर्ण कर दिया है। आधुनिक विधान स्वयं कहीं कहीं रीति-रिवाजों का लिखित रूप हैं इस युग में भी ऐसे अवसर आते हैं जब वकील या जज को रीति-रिवाज का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि लिखित विधान उन्हें अपूर्ण प्रतीत होता है।

प्राचीन विधान और उन पर टीकायें—संसार की प्रमुख जातियों के प्राचीन लिखित कुछ विधान रहे हैं जिनके आधार पर उनके आधुनिक विधानों का निर्माण हुआ है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि स्मृतियां हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथ हैं जिन पर आधुनिक हिन्दू वैयक्तिक विधान आधारित है इसी प्रकार मौजैइक ला इसाइयों में, सोलन के विधान यहूदियों में रोमन लोगों के बारहे विधान आदि प्रसिद्ध हैं। ये ग्रंथ प्राचीन हैं। समय-परिवर्तन के साथ साथ इनमें दिये हुये नियमों को अन्य लोगों ने टीकायें करके समय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। हिन्दू वैयक्तिक विधान (Hindu Law) को समझने के लिये विद्यार्थी को मनुस्मृति अन्य स्मृतियां और उन पर की गई टीकाओं को देखना पड़ेगा जिनमें मूल लेख के मन्तव्य का भिन्न भिन्न रूप निश्चित किया है।

आधुनिक विधानों पर टीकायें—आधुनिक विधानों पर भी प्रमुख वकील, विधि विधान के ज्ञाता तथा न्याय विशारद अपनी टीकायें प्रकाशित करते हैं। न्यायाधीश न्याय करते समय इन टीकाओं को कभी कभी बड़ा महत्व देते हैं।

न्यायाधीशों के निर्णय—विधान सभा द्वारा बने हुये विधानों में न्यायाधीश कभी कभी अपने निर्णयों से कमी पूरी करते हैं, किसी समय वे विधान को अधिक स्पष्ट करने में सहायता करते हैं और कभी उसके क्षेत्र को अधिक व्यापक बना देते हैं। प्रमुख न्यायाधीशों के निर्णय सब न्यायालयों में वैसा ही आदर पाते हैं जैसा मूल-विधान के प्रावधान पाते हैं। यदि न्यायकर्ता ऐसा न करें तो विधान प्रगति में बाधक सिद्ध हो सकता है। विधान के शब्दों की, मूलमन्तव्य के अनुकूल परिवर्तित परिस्थिति में, व्याख्या करना एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है जिसे करना न्यायकर्ता अपना धर्म समझता है। न्यायकर्ता

रीति-रिवाज को भी ध्यान में रख कर विधान को लागू करता है। इस प्रकार वह रीति-रिवाज द्वारा विधान को बढ़ाता और घटाता रहता है।

उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त जहां विधान किसी विषय पर कुछ नहीं कहता वहां न्यायाधीश को यह विचार करना पड़ता है कि शुद्ध न्याय या नीति उस विषय में क्या करने को कहती है और उसके अनुसार ही वह अपना निर्णय देता है। इंगलैंड में ऐसे मुकदमे जिनमें केवल शुद्ध न्याय और नीति के सहारे निर्णय देना हो एक विशेष न्यायालय में सुने जाते हैं। ऐसे मुकदमों का निर्णय करने में न्यायाधीश को बड़े संयम तथा समझबूझ कर कार्य करना पड़ता है। उसकी नैतिक भावना तथा चरित्र की ऐसे निर्णयों में कड़ी परीक्षा होती है।

आधुनिक विधानों का विकास—पश्चिमी यूरोप में आजकल जो विधानों का रूप है उसका आधार रोमन विधान है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जो नये राज्य उत्पन्न हुये उन्होंने अपने काम के लिये रोमन विधानों को ही अपना लिया। जहाँ कहीं भी कोई विशेष रीति रिवाज या लिखित विधान सहायता नहीं देता वहां इन देशों के न्यायालय रोमन-विधान-सिद्धान्तों का अनुकरण करते हैं। रोमन विधान का पश्चिमी यूरोप के विधानों में कैसे समावेश हुआ उसका इतिहास संक्षेप मे बतलाना ठीक होगा।

यूरोप में पांचवीं शताब्दी में रोमन तथा ट्यूटानिक राजनीति का परस्पर सम्मिलन होने से आधुनिक विधानों का प्रादुर्भाव हुआ। आरम्भ में ट्यूटन लोगों के विधान रोमन लोगों के विधानों से सर्वथा भिन्न थे। रोमन लोग शासकों की आज्ञाओं को ही विधान समझते थे परन्तु ट्यूटन लोगों में यह बात न थी, उनमें भारतीयों के सदृश देश-प्रथा तथा रीति-रिवाज की ही प्रधानता थी। रोमन विधान राष्ट्रीय थे परन्तु ट्यूटानिक विधान व्यक्तिगत थे यही कारण है कि रोमन विधान राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक दल के लिये समान थे परन्तु ट्यूटानिक विधान भिन्न भिन्न दलों के लिये भिन्न भिन्न थे। ट्यूटन लोग जहाँ गये वहाँ अपने विधानों को भी साथ लेते गये।

रोमन और ट्यूटन लोगों के परस्पर मिलने से बड़ी गड़बड़ हुई। एक ही राष्ट्र में परस्पर विरोधी नियम प्रचलित हुए। उनके शिल्पसंघ (Guild) तथा पादरी लोग अपने अपने विधानों के द्वारा ही अपना शासन तथा निर्णय करते थे। परन्तु रोमन लोगों में यह बात न थी। वहाँ भिन्न-भिन्न दलों तथा श्रेणियों के लिये भी एक ही सदृश नियम थे। शनैः शनैः ट्यूटानिक विधानों पर रोमन लोगों का प्रभाव पड़ा। सैकड़ों साधनों के सहारे

रोमन विधान यूरोप में प्रचलित किये गये। असभ्य लोगों के शासकों ने बहुत समय पहले ही रोमन सिद्धान्तों पर अपने विधानों का निर्माण किया और एकत्र किया। विसिगाथ्स के विधान इसी के उदाहरण हैं। यही संग्रह ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोप के शासन का आधार था।

इटैलियन नगरों ने ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में बहुत उन्नति की थी उनका व्यापार दूर दूर तक फैल गया था। व्यवसाय ने भी विशेष उन्नति की व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि के साथ ही साथ उनमें लोकतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। भिन्न भिन्न सभ्यता वाले देशों पर साम्राज्य के होने से और एक नवीन परिस्थिति में कार्य करने से प्रचलित विधानों में परिवर्तन करना उनके लिये आवश्यक हो गया। बालोगना (Bologna) विश्वविद्यालय में ही सब से पहले रोमन विधानों का अध्ययन आरम्भ हुआ। यहां से अन्य इटैलियन नगरों में और फिर स्पेन पोर्चुगाल तथा हालैण्ड में इसका प्रचार हुआ। इंगलैंड में भी इसका प्रचार हुआ। रोम में पढ़ने के लिये अंग्रेज लोग रोमन विधानों तथा उनके आधारभूत सिद्धान्तों को अपने साथ लाने लगे। आँग्ल राजाओं ने भी उनको सहारा दिया क्योंकि रोमन सिद्धान्तों के अनुसार विधानों का संशोधन करने में राजा की शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ जाती थी। इन्हीं दिनों चर्च के प्रभाव को भी न भूलना चाहिये। चर्च के अपने ही विधान तथा अपने ही न्यायाधीश थे। जन शिक्षण में एकमात्र एकाधिकार होने से, शासकों के परामर्शदाता तथा तथा विधानों के ज्ञाता इन्हीं के प्रभाव में होते थे। लैटिन के प्रचार ने भी रोमन विधानों तथा रोमन सिद्धांतों को इंगलैंड में विशेष रूप से प्रचलित किया।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सामन्तवाद (feudalism) से छुटकारा पाते ही रोमन विधानों का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई भी संगठन की रीति यूरोपीय राष्ट्रों को न सूझी। राजा का सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति को अपने हाथों में करने, अपनी ही आज्ञा को विधानों का रूप देने और वकीलों बैरिस्टरों पर रोमन सभ्यता का भरपूर प्रभाव होने का भी यह परिणाम हुआ कि रोमन विधान तथा रोमन सिद्धान्त ही यूरोप के संगठन के आधार बने। सन् १८०४ के नैपोलियन के कोड को भी न भूलना चाहिये। रोमन विधान, फ्रांसीसी रीति-रिवाज, और फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति के विधान तथा सिद्धांतों को मिलाकर यह कोड बनाया गया था। सारे यूरोप और स्पेनिश अमेरिका में यही कोड प्रचलित हुआ।

इंगलैण्ड ने नवीन प्रणाली का अनुकरण किया। इंगलैण्ड के विधानों

का आधार ट्यूटानिक रीति-रिवाज ही हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इंगलैंड रोमन विधानों तथा सिद्धान्तों से सर्वथा ही बचा रहा। पूरी चार शताब्दियों तक इंगलैण्ड रोम का ही एक प्रान्त था। उसके शासन तथा न्याय का आधार रोमन विधान थे। मध्यकाल में इंगलैण्ड के पादरी रोम में पढ़ने के लिये जाते थे और वहां से रोमन विचारों को अपने साथ ले आते थे। यह सब होते हुए भी इंगलैंड के विधानों में ट्यूटानिक रीति-रिवाजों का मुख्य भाग है। संयुक्त-राज्य अमेरिका इंगलैंड का ही एक उपनिवेश था, यद्यपि आजकल वह स्वतन्त्र है तो भी उसकी सभ्यता अंग्रेजों की ही सभ्यता है। वहां का विधान इंगलैण्ड के विधान का ही प्रतिबिम्ब है। उस पर ट्यूटन जाति की छाप लगी हुई है।

इंगलैण्ड के विधानों में दो समय विशेष परिवर्तन हुए। एक तो उस समय जबकि चर्च-राज्य पृथक् न रहकर राष्ट्रीय राज्य में ही मिल गया और दूसरा उस समय जबकि प्यूरिटन लोगों ने अपने विचारों को विधानों के परिवर्तन में आधार बनाया। इन सब परिवर्तनों के होते हुए भी इंगलैण्ड के विधानों का आधार ट्यूटानिक रीति-रिवाज ही बने रहे। सारांश यह है कि राष्ट्रीय विधानों में ट्यूटानिक सिद्धांत और साधारण विधानों में रोमन सिद्धान्त ही मुख्य रहे। स्थानीय स्वराज्य तथा पंचायती राज्य यूरोप में न आरम्भ होता यदि ट्यूटन लोग अपना सब कुछ खो देते और रोमन रंग में पूर्णरूप से रंग जाते, परन्तु उन्होंने ऐसा न किया। उन्होंने अपनी राजनीति तथा शासन प्रणाली को रोमन सिद्धान्तों के सहारे उन्नत किया। अपनी ही नींव पर अपनी ही ईंटों को रोमन सीमेन्ट से जोड़कर अत्यन्त सुन्दर भवन का निर्माण हुआ। नागरिक प्रबन्ध तथा औपनिवेशिक शासन की उन्नति भी रोमन सिद्धान्तों के सहारे ही की गई। ट्यूटन लोग इन्हीं बातों में रोमन लोगों से बहुत पीछे थे। नगर के प्रबन्ध में रोमन लोग बहुत आगे बढ़ चुके थे। मध्य-काल में ज्यों ही यूरोपियन नगरों ने अपना सिर ऊपर उठाया, रोमन शासन प्रणाली उनमें प्रचलित हो गई। उपनिवेशों के बढ़ने पर यूरोपीय राष्ट्रों को पुनः रोम की शासन प्रणाली का सहारा लेना पड़ा।

अधिकार—विधान राष्ट्रीय इच्छाओं के ही प्रतिबिम्ब हैं। राष्ट्र स्पष्ट रूप से यह प्रकट कर देता है कि वह किन किन वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा करेगा। और किन किन नियमों पर चलने के लिये उनको बाधित करेगा। इस विषय पर विचार करने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(क) कौन कौन मनुष्य राज्य के अधिकारों से लाभ उठा रहे हैं ? और किन किन मनुष्यों को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं ?

(ख) कहाँ कहाँ राज्याधिकारों का मुख्यतः प्रयोग किया जाता है ?

(ग) किस प्रकार के मनुष्य क्षमा के योग्य हैं ?

(घ) अपराध क्षमा करना किसका कर्तव्य है ?

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह ज्ञात होता ह कि—

(१) **व्यक्ति**—मनुष्य, मनुष्य-संघ तथा संचित सम्पत्ति उस समय कृत्रिम-पुरुष (Artificial persons) के नाम से सम्बोधित की जाती हैं जबकि उनको राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। या राज्य के द्वारा विशेष रूप से उनकी रक्षा की जाती है।

(२) **वस्तु**—स्थिर सम्पत्ति तथा वैयक्तिक जायदादों को ही पदार्थ समझना चाहिये। राज्य ऐसे ही पदार्थों की रक्षा करता है। इनकी रक्षा में वह अपने राज्याधिकार को काम में लाता है।

(३) विशेष विशेष दशाओं में राज्य अपराधों को क्षमा कर देता है। विक्षिप्तों तथा रोगियों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की बातें साधारणतया की जाती हैं।

विधानों का विभाग—विधानों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न लेखकों ने भिन्न भिन्न आधार पर किया है। निम्नलिखित वर्गीकरण सब से श्रेष्ठ हैं:—

(१) विधानों का स्वरूप—आजकल के विधानों पर यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय तो निम्नलिखित बातें सामने आती हैं:—

(क) व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा जो प्रस्ताव पास किये जा चुके हैं वे संविधि (Statues) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

(ख) जो विधान कुछ ही समय के लिये बनाये जाते हैं वे समयादेश अथवा सामयिक विधि (Ordinance) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

(ग) वे रीति-रिवाज तथा प्राचीन काल से चले आने वाले नियम जिनके अनुसार न्यायालय मुकदमों का निर्णय करता है और जो व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा नियमपूर्वक पास नहीं किये गये हैं वे दैनिक नियम या साधारण विधि (Common law) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

(घ) आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्रों में कुछ ऐसे भी नियम प्रचलित हैं जो कि बहुत कुछ स्थिर हैं और जिनमें राज्य, शासन-प्रणाली तथा

राज्यांगों के अधिकारों का विशेष रूप से वर्णन है। ऐसे विधानों को शासन पद्धतीय नियम अथवा संविधान (Constitutonal law) के नाम से संबोधित किया जाता है।

(२) **विधानों का संबंध**—विधानों का संबंध किससे है इस विचार से विधानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) **राष्ट्रीय विधान**—राष्ट्रीय विधान वे विधान हैं जो व्यक्ति तथा राष्ट्र के संबंध को नियमित करते हैं।

(ख) **वैयक्तिक विधान**—वैयक्तिक विधान वे विधान हैं जो व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध को प्रकट करते हैं।

राष्ट्रीय विधानों को राष्ट्र ही बनाता है। राष्ट्र उन व्यक्तियों को दण्ड देता है जो उसके विधानों को तोड़ते हैं। परन्तु यदि राष्ट्र स्वयं वैयक्तिक स्वतन्त्रता को पैरों तले कुचले तो व्यक्ति राष्ट्र की स्वीकृति से ही अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सकते हैं। राष्ट्र के विरुद्ध व्यक्तियों का कुछ भी अधिकार नहीं है। राष्ट्रीय विधानों के अत्यन्त प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण उपभेद निम्नलिखित हैं—

(१) **संविधान**—राष्ट्र के संगठन तथा राज्य की शक्तियों का निर्देश संविधान (Constitutional law) द्वारा ही होता है। इन्हीं विधानों से सर्वोच्चसत्ता का स्थान नियत किया जाता है। यदि ये विधान न हों तो सर्वोच्चसत्ता का स्थान पूर्ण रूप से तथा स्पष्ट रूप से न जाना जा सके।

(२) **प्रशासन सम्बन्धी विधान**—संविधान शास्त्र का प्रयोग राज्य किस प्रकार करे और किस प्रकार न करे इसका निर्णय प्रशासन सम्बन्धी नियम (Administrative law) ही करते हैं। गुडनाऊ ने ठीक लिखा है कि "संगठन तथा शासकों के लिये कार्य-क्षेत्र नियत करने वाले और व्यक्तियों को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा का मार्ग दिखलाने वाले यदि कोई विधान हैं तो वे प्रशासन संबंधी नियम ही हैं"।

(३) **दण्ड सम्बन्धी विधान**—शान्ति तथा व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये राज्य भिन्न भिन्न अपराधियों को दण्ड देता है। दण्ड सम्बन्धी विधान आजकल 'फौजदारी कानून' के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। दण्ड सम्बन्धी विधानों का आविष्कार यूरोप में बहुत प्राचीन नहीं है। आरम्भ में वहाँ विशेष विशेष नियमों के द्वारा ही राज्यापराधियों को दण्ड दिया जाता था। व्यक्तियों के प्रति जो लोग अपराध करते थे उनके सम्बन्ध में विधान

बहुत कुछ उदासीन थे । न्यायाधीश लोग रुपये दिलवाकर अथवा अन्य किसी प्रकार से वादी प्रतिवादी का पारस्परिक समझौता करा देते थे । कभी द्वन्द्व युद्ध भी कराया जाता था और जो जीतता था वही सच्चा समझा जाता था । शनैः शनैः यूरोप में बहुत से विधान बने जिनके आधार पर आजकल अपराधियों के दण्ड का निर्णय किया जाता है । भारतवर्ष में बहुत समय पूर्व ही दण्ड सम्बन्धी विधान बन चुके थे । इन दण्ड सम्बधी विधानों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं । निस्सन्देह भारतवर्ष में भी एक समय था जब कि व्यक्तियों का निर्णय द्वन्द्व युद्ध के द्वारा होता था और अपराधियों के अपराध की पहचान अग्नि शुद्धि या गरम लोहे से की जाती थी । महाभारत के युद्ध के पश्चात् भारतीय समाज में स्थिरता तथा शांति के बढ़ने से दण्ड संबंधी विधान बने जो भिन्न भिन्न स्मृति ग्रन्थों तथा धर्मसूत्रों में पाये जाते हैं । वास्तव में मनुस्मृति, शुक्रनीति आदि विधान संबंधी ग्रन्थ महाभारत से बहुत पहले बन चुके थे क्योंकि इनका वर्णन महाभारत में आता है । अन्य ग्रंथों की रचना महाभारत के पश्चात् हुई ।

ऊपर लिखे वैयक्तिक विधानों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । आजकल ये ही हिन्दी में दीवानी विधानों के नाम से संबोधित किये जाते हैं । व्यापार, व्यवसाय, उद्योग धंधे, साझा, ठेका, धन का बटवारा आदि के विषय में होने वाले झगड़ों का निर्णय इन्हीं विधानों के आधार पर किया जाता है ।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय विधान**—एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ किस प्रकार व्यवहार करे और किन किन बातों में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की आन्तरिक बातों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, इत्यादि बातों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधानों (International law) द्वारा किया जाता है । यूरोपीय राजनीतिज्ञ इनको विधानों की श्रेणी में नहीं रखते हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि वे राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता को अपरिमित तथा निर्बाध समझते हैं । राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता बाह्य तथा आन्तरिक विषयों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है । प्रजा का यदि कोई भी व्यक्ति राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता की शक्ति को कम करना चाहे तो वह उसे कम नहीं कर सकता है । इसी प्रकार देश के बाहर का कोई व्यक्ति अथवा कोई विदेशी राष्ट्र भी राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता की शक्ति को किसी प्रकार के भी विधान से बाधित नहीं कर सकता है । इस दशा में आधुनिक राजनीतिज्ञों का अन्तर्राष्ट्रीय विधानों को राष्ट्रीय अथवा राज्य का विधान न समझना ठीक ही प्रतीत होता है । परन्तु आधुनिक काल में नवीन नवीन अविष्कारों के कारण परिस्थिति ऐसी होती जा रही है कि अब प्रत्येक

व्यक्ति का संबंध संसार के अन्य व्यक्तियों के साथ घनिष्ट होता जा रहा है। अतः भविष्य में व्यक्तियों और राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का पालन भी उसी प्रकार करना पड़ेगा जिस प्रकार आजकल राज्य के विधानों का पालन किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान वे विधान हैं जिन के द्वारा स्वतंत्र राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय किया जाता है। संसार में बहुत से स्वतंत्र राष्ट्र हैं कभी कभी इन स्वतंत्र राष्ट्रों को अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आना पड़ता है। आधुनिक आविष्कारों के कारण भी एक राष्ट्र के साथ सम्बन्ध रखना अनिवार्य हो गया है। कभी-कभी दो राष्ट्रों में युद्ध भी होता है। युद्ध के समय कुछ राष्ट्र एक की ओर कुछ दूसरे की सहायता करते हैं। कुछ राष्ट्र किसी का पक्ष न लेकर युद्ध से पृथक् रहते हैं। कुछ राष्ट्र युद्ध में भाग न लेते हुए भी युद्ध करने वाले राष्ट्रों में से किसी एक के साथ सहानुभूति रखते हैं और गुप्त रूप से सहायता करते हैं। इस प्रकार दो राष्ट्रों के पारस्परिक मित्र अथवा द्वेष भाव के सम्बन्ध से अन्य राष्ट्रों पर भी प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में जिन विधानों द्वारा कार्य किया जाता है अथवा निर्णय किया जाता है उनको अन्तर्राष्ट्रीय विधान कहा जाता है। भिन्न भिन्न स्थितियों को सामने रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधान तीन प्रकार के हैं—

(१) एक तो वे हैं जो शान्ति के समय में राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थिर रखते हैं।

(२) दूसरे वे हैं जो युद्ध के समय में यह बतलाते हैं कि किन किन बातों का उल्लंघन युद्ध के समय नहीं करना चाहिये।

(३) तीसरे वे हैं जो उदासीन राष्ट्रों के साथ क्या सम्बन्ध हो इसको प्रकट करते हैं। अशान्ति के समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का आधार निम्नलिखित है—

(१) स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में	साधारण विधान
(२) समानता के सम्बन्ध में	
(३) सम्पत्ति के सम्बन्ध में	
(४) अपराध निर्णय के संबंध में	
(५) राजनीति के सम्बन्ध में	

युद्ध तथा उदासीनता के विषय में जो अन्तर्राष्ट्रीय विधान हैं वे **असाधारण** विधान के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

दृष्टान्त स्वरूप—

(६) युद्ध के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान
(७) उदासीनता के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान
(८) व्यापार सम्बन्धी विषय में ,,
} असाधारण विधान

(१) **स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में**—राष्ट्रों की सर्वोच्चसत्ता अपरिमित तथा निर्बाध है। इसी से यह परिणाम भी निकला कि प्रत्येक राष्ट्र का यह नैसर्गिक अधिकार है कि यह स्वतन्त्र रहे। सभ्य संसार से वैयक्तिक दासता दूर की गई। इस दशा में राष्ट्रीय दासता कैसे उचित समझी जा सकती है? यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने आन्तरिक प्रबन्ध तथा शासन में पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। हस्तक्षेप न करने की नीति पर ही प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे से सम्बन्ध रखना चाहिये।

बहुत बार यह देखा गया है कि विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्रों को मनमाने ढंग पर लूटने का प्रयत्न करते हैं। टर्की के साथ प्रथम महायुद्ध में जो व्यवहार किया गया था वह अत्यन्त घृणित तथा शोकप्रद था। टर्की की संधि की शर्तें एक प्रकार से उक्त राष्ट्र को नष्ट करने वाली थी। भारतीयों पर अंग्रेजी शासन काल में मनमाने ढंग से शासन करना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता था। पंजाब का हत्याकाण्ड और आंग्ल जनता का उसको उचित ठहराना इस बात का साक्षी था कि मनुष्य समाज लोभ तथा स्वार्थ से कहां तक गिर सकता है। सारांश यह है कि युद्ध में चाहे कोई राष्ट्र जीते और चाहे कोई हारे, यह किसी भी राष्ट्र का अधिकार नहीं है कि वह किसी भी परांजित राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करे अथवा उसका अंग भंग करे। परन्तु यूरोपीय राष्ट्रों ने एशिया के राष्ट्रों पर बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। भारत की विजय, शत्रु का निःशस्त्रीकरण, मिश्र को चुपके चुपके हड़प कर जाना, टर्की का अंग भंग करना इसी के उदाहरण हैं। इस प्रकार के अन्यायपूर्ण कार्यों को राजशास्त्रवेत्ता 'हस्तक्षेप' (Intervention) के नाम से सम्बोधित करते हैं। हम इस शब्द को 'अधिकार-अपहरण' कहेंगे। अधिकार अपहरण सम्बन्धी निम्नलिखित विधान आधुनिक काल में प्रचलित हैं।

(क) **आत्मरक्षण सम्बन्धी विधान**—प्रत्येक राष्ट्र का जीवित रहना आवश्यक है। यदि कोई राष्ट्रकिसी राष्ट्र के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप करे और वह हस्तक्षेप इस पराकाष्ठा तक पहुँच जाय कि इससे राष्ट्र की सर्वोच्च-सत्ता का तिरस्कार होता हो तो उस दशा में युद्ध न्याय-युक्त है।

(ख) **सन्धि की शर्तों पर चलना**—यदि कोई राष्ट्र सन्धि की शर्तों को तोड़े तो युद्ध आवश्यक हो जाता है। शोक की बात है कि आधुनिक काल के राजननीतिज्ञ इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वे शर्तें न्याय-युक्त हैं अथवा नहीं? कोई राष्ट्र कितने वर्षों तक पराधीन रखा जा सकता है? वास्तविक बात तो यह है कि राष्ट्रों में वही पाशविक शक्ति सिद्धान्त प्रचलित है।

(ग) **परराष्ट्र का अनुचित हस्तक्षेप**—आत्मरक्षण के सदृश ही मित्र राष्ट्र के संरक्षण के लिये कोई भी राष्ट्र अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। आधुनिक राष्ट्र इस बात में अपना अधिकार समझते हैं। कभी २ तो यह अधिकार इस सीमा तक काम में लाया जाता है कि वह कभी भी न्यायानुकूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। इंगलैण्ड का यूरोप में शक्ति संतुलन सिद्धान्त के अनुसार भिन्न २ युद्धों में भाग लेना और अपना स्वार्थ सिद्ध करना कभी भी यूरोप के लिये हितकर सिद्ध नहीं हुआ। इंगलैण्ड के स्वार्थमय कूट उद्देश्यों का यही फल है कि यूरोप आज तक एक राष्ट्र न बन सका।

(२) **समानता के सम्बन्ध में**—आधुनिक स्वतंत्र राष्ट्रों के अधिकार सब बातों में समान हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के अनुसार कोई भी राष्ट्र किसी स्वतंत्र राष्ट्र को दबा नहीं सकता और न अपनी इच्छा के अनुसार चलने पर ही बाध्य कर सकता है। यह सब होते हुए भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया तथा इटली ने आपस में मिलकर एशियाटिक स्वतंत्र राष्ट्रों की स्वतंत्रता को नष्ट करने की चालों को नहीं छोड़ा था। पराधीन राष्ट्रों के साथ इनका कैसा व्यवहार था उसको देखने वाला कोई भी नहीं था। पंजाब के हत्याकांड को आंग्ल प्रजा का उचित ठहराना और डायर के लिये सहायतार्थ फंड खोलना इस बात का साक्षी था कि यूरोपीय राष्ट्रपराधीन राष्ट्रों को क्या समझते थे। ईरान को रूस तथा ग्रेट ब्रिटेन ने चुपके चुपके ही बांट लिया था। इसके पश्चात् स्वतंत्र ईरान को पराधीन करने का तथा दासता में जकड़ने का प्रयत्न किया गया था। ये सब घटनायें इस बात का उदाहरण हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान की पुस्तकों में चाहे कुछ भी लिखा हो परन्तु कार्य रूप में सब राष्ट्रों के अधिकार समान नहीं हैं।

संयुक्त-राज्य अमेरिका सम्पूर्ण अमेरिका महाद्वीप का भाग्य निर्णायक है। अपनी इच्छा के अनुसार ही वह अमेरिकन राष्ट्रों को चलाता है। परन्तु कोई भी सभ्य राष्ट्र इसमें हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सकता।

(३) **सम्पत्ति के सम्बन्ध में**—आधुनिक राष्ट्रों के पास बहुत ही

अधिक सम्पत्ति है। राष्ट्रीय गृह, युद्ध-सामग्री, जहाज आदि का प्रबन्ध उनको करना पड़ता है। साधारणतया तो उनका प्रयोग राष्ट्रीय विधानों द्वारा ही होता है। युद्धकाल में उनको अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का ध्यान रखना पड़ता है। शान्ति के समय में राष्ट्रों की विशेष विशेष प्रकार की अचल सम्पत्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय विधान ही लागू होता है। दृष्टान्तस्वरूप भूमि तथा समुद्र ही लीजिये। यह बतलाया जा चुका है कि भौमिक सम्पत्ति या भूमि राष्ट्र का प्रधान अंग है। आजकल कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है जिसके पास भूमि न हो। यहाँ पर जो कुछ प्रश्न उठता है वह यही है कि (क) राष्ट्र की भूमि में क्या क्या सम्मिलित है? (ख) भूमि किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? (ग) राष्ट्र भूमि पर किस प्रकार नियन्त्रण रख सकता है?

(क) राष्ट्रीय भूमि (१)—राष्ट्रीय भूमि में निम्नलिखित पदार्थ सम्मिलित हैं:—

(१) राष्ट्र के अन्तर्गत जो भूमि तथा जल हो वह सब राष्ट्र की सम्पत्ति है। यदि दो राष्ट्रों के बीच में झील या नदी पड़ती हो तो राष्ट्रों की सीमा नदी या झील के बीच तक समझी जायगी। विशेष विशेष प्रकार की संधियों के द्वारा यह बात हटाई जा सकती है। एक राष्ट्र की सीमा संधि के द्वारा नदी तथा झील के पार तक पहुँच सकती है।

(२) पहले किनारे से तीन मील दूर तक का समुद्र राष्ट्र की सीमा में समझा जाता था परन्तु अब बारह मील तक का समुद्र राष्ट्र की सीमा समझा जाता है। कहीं कहीं इससे अधिक दूरी तक भी समुद्र राष्ट्र की सीमा माना गया है। प्राचीन तथा मध्यकाल में तोपों की मार बहुत दूर तक न थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह मार केवल तीन मील तक थी। उसी के आधार पर पहले राष्ट्र की सीमा समुद्र में तीन मीलतक निर्धारित की गई थी। तोप की मार बढ़ जाने के कारण यह सीमा अब बढ़ादी गई है।

(३) समुद्र में तटवर्ती खड़िया भी राष्ट्र की सम्पत्ति है। खाड़ियों का विस्तार नियत न होने से कई राष्ट्रों ने दूर तक फैली हुई खाड़ियों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है।

(४) समुद्र के आस पास के द्वीप समूहों पर भी राष्ट्र का ही स्वत्व है। इस स्वत्व में भिन्न भिन्न राष्ट्र यह युक्ति पेश करते हैं कि उनके आत्मसंरक्षण के लिये यह आवश्यक है कि द्वीप समूहों पर उन्हीं राष्ट्रों का स्वत्व हो जो उनके पास हों।

(ख) राष्ट्रभूमि को निम्न प्रकार से प्राप्त करते हैं—

(१) **समायोग (कब्जा)**—जिस भूमि पर किसी का भी अधिकार न हो वह राष्ट्र की भूमि है। अफ्रीका के जंगलों में यूरोपी लोग बस गये उन्होंने वहाँ अपना कब्जा कर लिया अब वह भूमि उन्हीं की समझी जाती है।

(२) **प्रदान**—सन्धि के द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपनी भूमि प्रदान कर सकता है।

(३) **विजय**—विजय भूमि प्राप्त करने की साधारण रीति है। साधारणतया जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को विजय करता है तो उसकी बहुत सी भूमि छीन लेता है। यूरोपीय राष्ट्रों ने विशेषतः ग्रेटब्रिटेन ने टर्की के साथ यही व्यवहार किया था।

(४) **नवीन भूमि की उत्पत्ति**—समुद्र तथा नदियों के द्वारा प्रायः नयी नयी भूमियां बनती हैं कई राष्ट्रों को बहुत से द्वीप इसी प्रकार प्राप्त हुए हैं।

(ग) राष्ट्र अपनी भूमि पर निम्नलिखित प्रकार से नियंत्रण करता है।

(१) जिन भूमियों पर राष्ट्र का प्रभुत्व है राष्ट्र सीधे ही उन पर शासन करता है। इसमें संदेह भी नहीं है कि वह प्रायः अपना प्रभुत्व शक्तियों को कई भागों में विभक्त कर देता है स्थनीय तथा औपनिवेशिक राज्यों का विभाग इसी का उदाहरण है।

(२) प्रबल राज्य निर्बल राज्यों का संरक्षण सन्धि के द्वारा तथा अपने प्रतिनिधि के द्वारा करते हैं। नैपाल के साथ भारत सरकार का संबंध अंग्रेजी राज्य में इसी प्रकार का था। ऐसे राज्य आन्तरिक प्रबन्ध में पूर्णरूप से स्वतंत्र होते हैं।

(३) जिन देशों में असभ्य जंगली लोगों का निवास है उन पर यूरोपीय राष्ट्रों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। भिन्न भिन्न सन्धियों के द्वारा उन्होंने ऐसी सम्पूर्ण भूमि को आपस में बांट लिया था। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया का बंटवारा इसी का उदाहरण है।

(४) **अपराध निर्णय के संबंध में**—भिन्न भिन्न अपराधियों के अपराध का निर्णय करना विशेष कर राज्य का ही कार्य है। राज्य के इस अधिकार की सीमा अपनी भूमि के साथ ही सम्बद्ध है। विदेशियों अथवा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के नागरिकों के अपराध का निर्णय राज्य नहीं कर सकता। उसके अपने प्रदेश में जो लोग रहते हैं उन्हीं के झगड़ों का निर्णय वह कर सकता है दृष्टांत स्वरूप

(क) **स्वदेशोत्पन्न नागरिक**—व्यक्ति को नागरिक बनाने का अधिकार राष्ट्रों के पास ही है। प्रत्येक राष्ट्र इस विषय में स्वतंत्रतापूर्वक विधान बनाता है। उत्पत्ति तो नागरिक बनाने का आधार है ही। जो मनुष्य जिस राष्ट्र में उत्पन्न हुआ वह उसी का नागरिक होता है। पिता माता की जातीयता भी नागरिक बनाते समय ध्यान में रखी जाती है।

(ख) **विदेशी नागरिकता**—विदेशी लोग किन किन दशाओं में नागरिक बनाये जा सकते हैं, इसके लिए भिन्न भिन्न राष्ट्रों के भिन्न भिन्न नियम हैं। जब कि कोई विदेशी किसी एक भिन्न राष्ट्र का नागरिक बन कर पुन: स्वदेश में लौट आना चाहता है उस समय बड़ा झगड़ा उत्पन्न हो जाता है।

(ग) **विदेशी निवासी तथा यात्री**—विदेशी निवासियों तथा विदेशी यात्रियों का शासन स्वराष्ट्र के नियमों के अनुसार ही होता है। प्राय: वे सैनिक कार्यो से मुक्त रखे जाते हैं। विदेशी की स्थिर सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय वही राष्ट्र करता है जिसमें वह सम्पत्ति विद्यमान है। पौरुषेय सम्पत्ति के साथ यह बात नहीं है, पौरुषेय सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय स्वराष्ट्र ही करता है। सामुद्रिक डाकुओं का निर्णय सभी राष्ट्र एक सदृश कर सकते हैं क्योंकि वे सभी राष्ट्रों के शत्रु समझे जाते हैं।

विदेश में बसे हुए लोगों पर राज्य का निर्णायिक अधिकार आधा ही रह जाता है। राजद्रोही लोग विदेश में स्वतन्त्रता पूर्वक रहते हैं। स्वदेश में आते ही उनको पुन: दंड दिया जा सकता है। यह भी प्राय: देखा गया है कि एक राष्ट्र के बहुत कहने पर दूसरा राष्ट्र राजनैतिक अपराधियों को अपनी शरण नहीं देता है और कभी कभी उस अपराधी को उसी राष्ट्र को सौंप भी देता है जिसका उसने अपराध किया है। जिस समय एक राष्ट्र का नागरिक किसी अन्य राष्ट्र में अपराध करता है और वहाँ से भाग कर किसी दूसरे राष्ट्र की शरण लेता है उस समय इस विषय में बहुत जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया ऐसे अपराधियों का निर्णय भिन्न भिन्न राष्ट्र भिन्न भिन्न ढङ्ग पर ही करते हैं। बहुधा ये लोग दण्ड न पाकर स्वच्छन्द विचरते हैं। अपराध निर्णय के विषय में बहुत स्थानों पर राष्ट्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दृष्टान्त स्वरूप:—

(क) भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं तथा शासकों को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों

में स्वतन्त्रतापूर्वक यात्रा करने का अधिकार है। उन पर उस राष्ट्र के विधानों के अनुसार मुकदमा आदि नहीं चलाया जा सकता है।

(ख) स्वराष्ट्र की सेनाएँ जब किसी दूसरे राष्ट्र में होती हैं तो वे उस राष्ट्र के नियमों के अनुसार चलने के लिये बाध्य नहीं की जा सकती हैं। इसमें सन्देह भी नहीं कि बिना आज्ञा के किसी भी राष्ट्र की सेना किसी दूसरे राष्ट्र के भीतर से नहीं जा सकती है।

(ग) विदेशी राजदूतों पर कोई भी राष्ट्र अपने विधानों के अनुसार मुकदमा आदि नहीं चला सकता है।

(घ) विशेष विशेष सन्धियों के द्वारा यूरोपीय राष्ट्र के लोगों ने ऐशियाटिक राष्ट्र में रहते हुए उनके शासन मे अपने आपको बचा लिया था। टर्की, चीन, तथा स्याम में देशी रियासतें यूरोपीय लोगों के अपराध का निर्णय नहीं कर सकती थीं। आजकल ऐसा नहीं है।

५—राजनीति के सम्बन्ध में—भिन्न भिन्न राज्यों में अपने राजदूतों का रखना अति प्राचीन काल से प्रचलित है। यूनान, मिश्र तथा भारत के दूत भिन्न-भिन्न राज्यों में रहते थे। मेगस्थनीज का चन्द्रगुप्त के दरबार में रहना और भारत का विस्तृत वर्णन एक पुस्तक में करना एक प्रसिद्ध घटना है। मध्यकाल में यूरोप में दूसरे राष्ट्रों के दूत जाते थे परन्तु चिरकाल तक न रहते थे। आजकल राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट हो गया है। व्यापार व्यवसाय सम्बन्धी झगड़े भिन्न भिन्न राष्ट्रों में सदा ही होते रहते हैं। यही कारण है कि आजकल सभ्यराष्ट्र अपने राजदूतों को भिन्न भिन्न राष्ट्रों में स्थायी रूप से रखते हैं। परस्पर बातचीत की भाषा आरम्भ में लैटिन थी, फिर उसके स्थान पर फ्रेंच हो गई थी। आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्र अपनी ही भाषा को काम में लाते हैं।

राजदूत अपने राष्ट्र को परराष्ट्र के राजनैतिक विचारों तथा राजनैतिक घटनाओं की सूचना देते हैं। अपने राष्ट्र के नागरिकों तथा यात्रियों के अधिकारों का ध्यान रखते हैं और समय समय पर उनके अपराधों का निर्णय भी करते हैं। राजदूतों को हटा कर दूसरे राजदूतों को बुलाने का प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिकार है। जिस राष्ट्र के राजदूत हटाये जाते हैं वे इसमें अपना अपमान भी नहीं समझते हैं क्योंकि इस प्रकार की घटना का यही अर्थ लिया जाता है कि जिस राष्ट्र ने राजदूत हटाया है वह सम्बन्ध तोड़ना

इसलिये किया है कि अनुकूल राजदूत के होने से वह सम्बन्ध दृढ़ रह सके। परन्तु यदि कोई राष्ट्र राजदूत को अपने यहाँ से हटाये और दूसरे राजदूत को न आने दे तो इसका तात्पर्य 'युद्ध' से लिया जाता है। युद्ध की सम्भावना से पूर्व प्रायः राष्ट्र अपने अपने राजदूतों को स्वयं ही बुला लेते हैं। युद्ध समाप्त होने पर भिन्न भिन्न राष्ट्र एक दूसरे से सन्धि करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट की शक्ति अपूर्व है। सीनेट ही सन्धियों को स्वीकृत करती है। सन्धि के अनेक भेद हैं। भूमि का अपहरण, अधिकार का अपहरण, सीमा-निश्चय आदि भिन्न भिन्न प्रकार की सन्धियों के मुख्य आधार होते हैं।

सन्धि विषयक बातों का निर्णय करने के लिये भिन्न भिन्न राष्ट्र योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करते हैं। कभी विदेशी मंत्री भी इसी कार्य के लिये भेज दिया जाता है। साधारणतया उदासीन राष्ट्रों में भी सन्धियाँ होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में प्रायः राष्ट्रों को अपनी शिकायतों का कारण स्पष्ट रूप से देना पड़ता है। यदि इस पर भी झगड़े का निर्णय न हो तो पुनः युद्ध आरम्भ हो जाता है। साधारण झगड़े तो किसी उदासीन राष्ट्र को मध्यस्थ बनाकर निर्णय कर लिये जाते हैं। मध्यस्थ राष्ट्र का निर्णय राष्ट्रों को मानना पड़ता है।

(६) **युद्ध के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान**—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्थिर रखना तथा राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को शान्त करना किसी भी संगठन के हाथ में न होने से राष्ट्रों का पारस्परिक युद्ध अनिवार्य हो जाता है। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व शत्रु राष्ट्र एक दूसरे राष्ट्र के नागरिकों को विशेष अधिकारों से वंचित कर देते हैं। घेरा डाल कर व्यापार को धक्का पहुँचाना और अन्न आदि भोज्य पदार्थों को न पहुँचने देना इत्यादि कार्य अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र करता है शत्रु राष्ट्र के जहाजों को पकड़ कर और शत्रु राष्ट्र निवासियों को कैदकर एक दूसरे को हानि पहुँचने का यत्न किया जाता है। इन सब साधनों से भी यदि राष्ट्र की क्रोधाग्नि न शान्त हो तो अपनी सेनाओं के द्वारा एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं। घरेलू झगड़ों में भी वर्तमान राज्य युद्ध के नियमों ही को काम में लाते हैं।

जिन जिन देशों में जनता राज्य के भयंकर अत्याचारों से अपने आपको छुड़ाने के लिये विद्रोह अथवा क्रान्ति कर देती है और क्रान्ति में सफल होकर एक नवीन राज्य स्थापित करती है उसको भिन्न भिन्न राज्यों से अपने राज्य को स्वीकृत करवाना पड़ता है। बहुधा इसमें बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी

पड़ती हैं। पूर्व राज्य के मित्रराष्ट्र नवीन राज्य को स्वीकृत नहीं करते हैं और उनके सन्मुख नयी नयी समस्याएँ पेश करते हैं। युद्ध घोषित करने का अधिकार भिन्न भिन्न राष्ट्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से काम में लाया जाता है। संरक्षण से सम्बद्ध युद्धों में प्रायः शासक विभाग स्वतन्त्र हैं, आक्रमण करते समय उनको विधान निर्माण विभाग की स्वीकृति लेनी पड़ती है। मध्यकाल में दूरस्थ राष्ट्रों के साथ युद्ध या सन्धि करने का अधिकार भिन्न भिन्न कम्पनियों तथा औपनिवेशिक राज्यों को प्राप्त था। आजकल यह बात नहीं रही है। युद्ध छिड़ते ही राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है। शत्रु राष्ट्र के नागरिक एक दूसरे को शत्रु समझने लगते हैं। व्यापार बन्द हो जाता है। अनुबन्ध सम्बन्धी कार्य जहां के तहां रुक जाते हैं युद्धों के नियम युद्धों की रीति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। बहुधा बंदियों के साथ अनुचित व्यवहार नहीं किया जाता। अमानुषिकता तथा क्रूरता को दूर रखकर काम किया जाता है। यह होते हुए भी मानुषी हृदय शत्रुता तथा क्रोध में जो न करे वही थोड़ा है। युद्ध की प्रणाली पर राजनीतिज्ञों में बड़ा मतभेद है। यह होते हुए भी सन् १८७४ की ब्रुसल्स कान्फ्रेंस में गुरिल्ला सैनिकों को रखना और प्रत्येक नागरिक का युद्ध के लिये उद्यत रहना राष्ट्रों के लिये अनुचित ठहराया गया था। बंदियों को मारडालना, विषैली गोलियों को छोड़ना तथा शत्रु राष्ट्र की भूमि उजाड़ना वर्तमान-युद्ध-प्रणाली के अनुसार अनुचित है सन् १८६४ की जिनोआ समिति ने घायलों की सेवा करने वाली तथा इलाज करने वाली समितियों के लोगों पर प्रत्येक प्रकार का आक्रमण तथा प्रहार रोक दिया। युद्ध के समय में सम्पत्ति सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय नियम निम्नलिखित हैं—

(१) **भूमि विषयक**—सैनिक कार्यों में आने के योग्य राष्ट्रीय सम्पत्ति को शत्रु लोग नष्ट कर सकते हैं। शिक्षा, धार्मिक कृत्य तथा राष्ट्रीय कार्यों से संबंध रखन वाली सम्पत्ति का संरक्षण आवश्यक है। कोई भी शत्रु उसे नहीं छू सकता।

(२) **वैयक्तिक सम्पत्ति विषयक**—वैयक्तिक सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो स्थिर और दूसरी पौरुषेय। स्थिर सम्पत्ति युद्ध के समय में नहीं छीनी जा सकती है। पौरुषेय सम्पत्ति आवश्यकता के अनुसार ली जा सकती है परन्तु उसके बदले में धन आदि का देना आवश्यक है। लूट सर्वथा बन्द है।

(३) **समुद्र विषयक**—प्रत्येक प्रकार का जहाज पकड़ा जा सकता है। जहाज के मामलों में व्यक्तियों या कम्पनियों का विचार नहीं किया जा सकता

इसमें सन्देह भी नहीं है कि उदासीन राष्ट्रों के समुद्र में किसी के भी जहाज को कोई भी हाथ नहीं लगा सकता है। पकड़े हुए जहाजों की सम्पत्ति पर उसी राष्ट्र का अधिकार होता है जो उसको पकड़ता है वह उसको चाहे बेचे, चाहे जलाये। कोई भी इस विषय में कुछ बोल नहीं सकता है। सन् १८०६ में लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय सभा हुई थी जिसमें समुद्र सम्बन्धी विषयों पर कुछ नियम बनाये गये थे।

(७) उदासीनता के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधान—भिन्न भिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध में जो राष्ट्र कुछ भी भाग नहीं लेते हैं वे उदासीन राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। बहुत बार पारस्परिक युद्ध से बचने के लिये राष्ट्र उदासीन बनाये भी जाते हैं। प्रथम महायुद्ध से पूर्व बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड की यही स्थिति थी। द्वितीय युद्ध में और उसके पश्चात् भी स्विटजरलैण्ड की स्थिति वही रही। जिन जिन वस्तुओं अथवा स्थानों पर संसार के भिन्न राष्ट्रों का स्वार्थ समान रूप से होता है, वे 'उदासीन' कर दिये जाते हैं। स्वेज नहर सभी राष्ट्रों के लिये एक सदृश खुली हुई है।

मध्यकाल में यूरोप में 'उदासीनता' विषयक कुछ भी विधान प्रचलित न थे। व्यापार के बढ़ाने पर और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के घनिष्ठ होने पर इस बात की विशेष रूप से आवश्यकता हुई। इङ्गलैण्ड की द्वैपी स्थिति और संयुक्त राज्य अमेरिका के यूरोपीय युद्धों से पृथक रहने आदि बातों ने यूरोप में उदासीनता विषयक विधानों को प्रचलित किया। लड़ाकू राष्ट्रों को उदासीन राष्ट्रों के साथ व्यवहार करते हुए आजकल निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं—

(१) उदासीन राष्ट्रों की भूमि, समुद्र तथा आकाश में युद्ध न करना।

(२) उदासीन राष्ट्रों की भूमि में युद्ध की तैयारी न करना। उदासीन राष्ट्रों के समुद्र में से जहाजों को ले जा सकते हैं और आकाश में से विमानों को उड़ा सकते हैं। परन्तु किसी प्रकार का भी युद्ध नहीं किया जा सकता। विमानों को उड़ाने के लिये पहले स्वीकृति लेना आवश्यक है।

(३) उदासीन राष्ट्रों के उन नियमों को मानने के लिये लड़ाकू राष्ट्र बाध्य हैं जो वे अपने देश की रक्षा के लिये बनायें। उदासीन राष्ट्र अपने बन्दरगाहों को लड़ाकू राष्ट्रों के लिये बन्द कर सकते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनको लड़ाकू राष्ट्रों के साथ एक सदृश व्यवहार करना चाहिये।

निम्नलिखित विषयों में उदासीन राष्ट्रों को लड़ाकू राष्ट्रों का ध्यान रखना पड़ता है—

(१) किसी भी लड़ाकू राष्ट्र को युद्ध सामग्री सम्बन्धी सहायता न देना।

(२) किसी भी शत्रु राष्ट्र को विशेष अधिकार न देना जो कि दूसरे शत्रु राष्ट्र को प्राप्त न हों।

(३) लड़ाकू राष्ट्रों को धन सम्बन्धी सहायता न देना।

(४) लड़ाकू राष्ट्रों के गुप्तचरों तथा दूतों को अपने देश में न आने देना।

(५) अपने देश के रहने वालों को किसी भी लड़ाकू राष्ट्र की सहायता के लिये न जाने देना। एक दो व्यक्ति युद्ध में जा सकते हैं परन्तु सहस्त्रों की संख्या में ऐसा नहीं किया जा सकता।

(६) उदासीनता सम्बन्धी विधानों के टूटने से यदि किसी शत्रुराष्ट्र को हानि पहुँची हो तो उस हानि को पूरा करना।

व्यापार सम्बन्धी उदासीनता के विषय में—युद्ध के समय में व्यापार में बहुत कुछ स्वतन्त्रता रखी जाती है। जहाँ तक होता है इस में बहुत रुकावट नहीं डाली जाती है परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि घेरे की दशा प्रत्येक जहाज के पदार्थों का, जहाज सम्बन्धी सम्पत्ति का तथा अन्य बहुत सी बातों का ज्ञान जब शत्रु प्राप्त कर लेता है तभी उसको स्वतंत्र रूप से पदार्थ ले जाने की आज्ञा देता है।

मध्यकाल में समुद्र द्वारा व्यापार करना सुगम कार्य न था। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के जहाजों को लूट सकता था। यही कारण था कि उस समय में दूरस्थ देशों के साथ व्यापार करने के लिये बड़ी २ कम्पनियाँ बनाई जाती थीं और उन्हें युद्ध घोषित करने का भी अधिकार दिया जाता था। हालैण्ड ने इस प्रकार की लूट मार को रोका और सामुद्रिक व्यापार को उन्नत किया। सन् १८५६ में पैरिस में जो अन्तर्राष्ट्रीय सभा हुई उसमें निम्नलिखित बातें निश्चित की गईं—

(१) युद्ध सम्बन्धी सामग्री को ले जाने वाले जहाजों को छोड़कर युद्धकाल में उदासीन राष्ट्रों के जहाजों को कोई भी नहीं पकड़ सकता है।

(२) जिस जहाज पर उदासीन राष्ट्र का झण्डा होगा वह न पकड़ा जायगा।

हेग की द्वितीय सभा में "युद्ध के अन्दर वैयक्तिक सम्पत्ति को ले जाने वाले जहाजों को न पकड़ा जाय" यह प्रस्ताव पेश हुआ परन्तु इंगलैण्ड के स्वीकार न करने के कारण पास न हो सका। आजकल विशेष वाद

विवाद इसी बात पर है कि युद्ध की 'सामग्री' में कौन कौन से पदार्थ समझे जायें और कौन कौन से पदार्थ न समझें जायें इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जो कि युद्ध के कार्य में भी आते हैं और अन्य साधारण कार्यों में भी प्रयोग होते हैं। पिछले द्वितीय महायुद्ध में किसी भी पदार्थ के जहाज को नहीं छोड़ा गया। अब तो युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं की सूची इतनी विस्तृत हो गई है कि लगभग सब वस्तुएँ 'युद्ध में सहायता देने वाली समझी जाती हैं। इसलिये पिछले द्वितीय महायुद्ध में लगभग सब प्रकार के जहाजों पर आक्रमण किया गया था।

सर्वोच्चसत्ता की परिभाषा—भिन्न भिन्न राजशास्त्रवेत्ताओं ने सर्वोच्चसत्ता की परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से की है। बोदाँ ने "नागरिक तथा प्रजाजनों पर विधान से निर्बाध सर्वोच्चशक्ति" को सर्वोच्चसत्ता बतलाया है ग्रोशस का कथन है कि "सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति उन लोगों में विराजमान है जो किसी पर निर्भर नहीं है और जिन को प्रप्यादेश नहीं किया जा सकता वह नैतिक कार्य शक्ति है"। डूग्विट (Dugvit) का मत है कि "हमारे देश में इस (सर्वोच्चसत्ता) का अर्थ समझा जाता है राज्य की आदेश करने वाली शक्ति। वह राज्य में संगठित राष्ट्र की इच्छा है। वह राज्य के भूभाग में व्यक्तियों को निर्बाध आदेश करने वाला अधिकार है।

बर्गेस का विचार है कि सर्वोच्चसत्ता "प्रजा के व्यक्तियों तथा सम्पूर्ण संवासों पर मौलिक, निरकुंश तथा असीमित शक्ति है" एक और स्थान पर वह लिखता है कि सर्वोच्चसत्ता "अप्राप्त तथा आदेश करने वाली स्वतंत्र शक्ति है वह शक्ति आज्ञा पालन करने के लिये बाध्य करती है"।

फ़ैड्रिकपौलक कहता है कि "सर्वोच्चसत्ता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी है और न प्रदत्त। न तो वह शक्ति किसी विशेष नियम पर निर्भर हैं और न नियम उसमें कोई परिवर्तन ही कर सकते हैं।"* विलोबी का कथन है कि "राज्य की सर्वोच्च इच्छा का नाम ही सर्वोच्चसत्ता है"।†

आधुनिक समाज नाना प्रकार के संगठनों से परिपूर्ण है। श्रम, मुद्रा उद्योग, व्यापार व्यवसाय से लेकर शिक्षण मुद्रण आदि सभी व्यवसायिक समिति मुद्रणसंघ, ट्रस्ट, पूल, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, आदि इसी के उदाहरण हैं। इन्हीं संगठनों की भांति राज्य भी एक संगठन है। अब प्रश्न यह उठता है

---

* सरफ्रेड्रिक पौलक हिस्ट्री आफ दी साइंस आफ पौलिटिक्स पृष्ठ ४३

† विलोबी, नेचर आफ दी स्टेट, पृष्ठ २८०।

कि इन संगठनों में और राज्य रूपी संगठन में क्या भेद है। इस प्रश्न को हल करने से पूर्व सर्वोच्चसत्ता का निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है। इस निरूपण से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि नागरिकों का स्वराष्ट्र से, राष्ट्रीय सर्वोच्चसत्ता का वैयक्तिक स्वतंत्रता से और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से क्या सम्बंध है। विधानों का सर्वोच्चसत्ता से घनिष्ठ संबन्ध है।

सर्वोच्चसत्ता नव्य राजनीति शास्त्र का प्राण है। इसी पर विधानों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रचलित रहना निर्भर है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि स्थान विशेष के संगठित समाज का नाम राज्य है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब कि समाज में इतना संगठन हो कि वह राज्य स्थापित कर सके, विधान बना सके, उन्हें प्रचलित कर सके, और अपने संगठन को देर तक स्थिर रख सके। पराधीन समाज में राज्य की स्थिति सम्भव नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि समाज में ऐसे पुरुष होने चाहिए जो कि नागरिकों को अपनी आज्ञा पर चलने के लिए बाध्य कर सकें। यही लोग राज्य के शासक और राज्य के प्रभु अथवा सर्वोच्चसत्ता हैं। इन्हीं की आज्ञा विधान है। इनकी सर्वोच्चसत्ता अपरिमित तथा निर्बाध होती है। यदि कोई संस्था इनकी सर्वोच्चसत्ता में बाधक होती है। तो वस्तुतः राज्य की सर्वोच्चसत्ता उसी संस्था को समझना चाहिए। सर्वोच्चसत्ता के विचार से राज्य का स्वरूप निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है *।

(क) राज्य का आन्तरिक स्वरूप—राज्य की सर्वोच्चसत्ता संपूर्ण नागरिकों के सब संगठनों पर अपरिमित तथा निर्बाध होती है। अधिकारों तथा अनुबन्धों का स्रोत राज्य ही है। यही कारण है कि राज्य के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों तथा अनुबन्धों की कुछ भी सत्ता नहीं है। यदि एक नागरिक दूसरे नागरिक की बातों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता तो इसका मुख्य कारण राज्य की सर्वोच्चसत्ता को ही समझना चाहिए। 'विधान अच्छा है या बुरा' यह विचार विधान के प्रतिपालन में बाधक नहीं हो सकता। राज्य की इच्छा पर चलने के लिए प्रत्येक नागरिक बाध्य है। अनन्त शक्ति होते हुए भी राज्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग नही करता है। अपनी बहुत सी शक्ति यह दूसरों को भी दे देता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग राज्य

*** गैटिल—इंट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ ६३-६४।**
लीकॉक—ऐलीमेंट्स आफ पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ ५२-५३।

द्वारा प्रदान की हुई शक्ति पर अपना किसी प्रकार का भी अधिकार प्रकट कर सकते हैं। जब कभी राज्य अपनी शक्तियाँ दे देता है तो उसको विधानों के अनुसार ही उन शक्तियों को लौटाना पड़ता है। राज्य शासकों के ऊपर है। शासक वही कार्य कर सकते हैं जो कि राज्य चाहता है राज्य द्वारा दिये गये वैयक्तिक अधिकारों में जब किसी प्रकार का परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है तो शासक लोग राज्य ही को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आन्तरिक विषयों में राज्य की शक्ति अपरिमित तथा पूर्ण स्वतंत्र है *।

(ख) **राज्य का वाह्य स्वरूप**—अन्य राज्यों के हस्तक्षेप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का सुरक्षित रहना आवश्यक है। जहाँ यह बात नहीं है वहाँ राज्य को पराधीन समझना चाहिये। बहुतसी बातों में अन्तर्राष्ट्रीय विधानों तथा सन्धियों के अनुसार राज्यों को कार्य करना पड़ता है। परन्तु इस से उनकी सर्वोच्चसत्ता पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। क्योंकि उन के मानने या न मानने का राज्यों को पूर्ण अधिकार है। राज्य उपनिवेशों को पूर्ण स्वराज्य दे सकते हैं और आन्तरिक विषयों में अमेरिका के समान राज्यों को पूर्ण स्वतंत्र कर सकते हैं। ऐसा करने में उनकी सर्वोच्चसत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है। वाह्य कार्यों में एक राज्य का दूसरे राज्य से सम्बन्ध होने से उनकी सर्वोच्चसत्ता में कोई बाधा नहीं पड़ती है। राज्य की सर्वोच्चसत्ता विभक्त नहीं की जा सकती है सर्वोच्चसत्ता के कामों में लाने के अधिकार को भिन्न भिन्न राजकीय विभागों में बांटते हुए भी राज्य के ही सदृश सर्वोच्चसत्ता का ह्रास नहीं हो सकता। राज्य की सत्ता वहीं है जहाँ सर्वोच्च सत्ता पूर्ण रूप से विद्यमान है। यदि भिन्न भिन्न राज्यों में सर्वोच्चसत्ता विभाजित हो तो वहाँ एक के स्थान पर अनेक राज्य समझने चाहिये। विधानों के अनुसार राज्य की सर्वोच्चसत्ता पूर्ण अपरिमित तथा अभेद्य है †।

सर्वोच्चसत्ता तथा विधान—राज्य की सर्वोच्चसत्ता भी एक बड़ी जटिल समस्या है। चिरकाल से इस विषय पर बड़ा वाद विवाद होता चला आरहा है प्रोफेसर बर्गेस के इस विचार को कि "मैं व्यक्ति या व्यक्ति संघ पर राज्य की सर्वोच्चसत्ता को अपरिमित, स्वेच्छा पूर्ण तथा निर्बाध समझता हूँ" प्राय: राजनीतिज्ञ सहसा ही स्वीकार करने से हिचकते हैं। परन्तु इस

---

* गैटिल-इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ६४-६५
विलोबी—नेचर आफ दी स्टेट पृष्ठ १८१:१८३

† लीकॉक ऐलीमेंट्स आफ पौलीटिकल साइंस पृ० ५२–५५

में हिचकने की कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती है। क्योंकि समाज के संगठन पर ही राज्य का आधार है। यह संगठन तभी संभव है जब कि राज्य का नियंत्रण तथा व्यक्तियों द्वारा राज्य की आज्ञा का प्रतिपालन यह दोनों बातें पूर्ण रूप से विद्यमान हों। यदि व्यक्ति राज्य की आज्ञा पर न चलते हों, तो राज्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती। राज्य तभी तक स्थिर है जब तक कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा पर चलते हैं। बहुत से स्थानों में राज्य की सर्वोच्चसत्ता ही काम में लाते हैं। उनके नियंत्रण, न्याययुक्त अथवा अन्याय-युक्त, लोग सर्वसम्मति से अथवा दल विशेष के बहुमत से चुने गये हों, यदि उनकी आज्ञा का प्रतिपालन होता है तो राज्य की स्थिति का अपलाप नहीं किया जा सकता उनकी आज्ञा का नाम ही विधान है।

यह बतलाया जा चुका है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता का कोई भी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। आजकल प्रायः राज्य की नियामक सभा ही सम्मिलित रूप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का आधार है। वह प्रत्येक प्रतिबंध तथा बाधा को हटा सकती है। आस्टिन (Austin) के विधान सम्बन्धी लक्षण से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उसका कथन है कि "यदि कोई अपूर्व शक्ति-सम्पन्न पुरुष स्वयं किसी के भी बिना अधीन हुए, अपनी आज्ञाओं पर किसी मनुष्य समाज को चलाता है तो वही पुरुष राजा अथवा सर्वोच्चसत्ता और वही मनुष्य-समाज राजनैतिक स्वतंत्र समाज हुआ"। इस से स्पष्ट है कि 'विधान तथा प्रतिपालन' यह दो ही राज्य की कसौटी हैं। आज्ञा प्रतिपालन के लिये निर्दिष्ट वाक्य ही विधान है। राज्य ने व्यक्तियों को जो जो स्वतंत्रता तथा अधिकार दिये हैं उनकी वही वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा उनके पद्य वैयक्तिक अधिकार समझने चाहिये। विधानों के अनुसार इन से भिन्न राज्य के विरुद्ध वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा वैयक्तिक अधिकार कोई वस्तु नहीं।†

सर्वोच्चसत्ता के चिन्ह तथा गुण—समाज में राज्य रूपी संगठन से बढ़ कर कोई संगठन नहीं। अन्य साधारण संगठनों से इसकी सत्ता बहुत बढ़ी चढ़ी है। सब से बड़ी बात तो यह है कि समाज के सम्पूर्ण संगठनों की सत्ता का स्रोत राज्य की सर्वोच्चसत्ता है। राजशास्त्रवेत्ता इसके निम्नलिखित चिन्ह तथा गुण प्रकट करते हैं—

(क) महत्व—संगठित समाज अथवा जातियाँ अपने महत्व का

---

† गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ६५।

विशेष ध्यान रखती हैं। वह अपनी सर्वोच्चसत्ता का अपमान सहन नहीं कर सकतीं। राज्य की सर्वोच्चसत्ता, सम्मान, तथा आज्ञा के विरुद्ध कार्यों को रोम में बड़ा भारी अपराध समझते थे।

(ख) **स्वातन्त्र्य**—विदेशी राज्यों से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का स्वतन्त्र होना आवश्यक है। यदि किसी राज्य को दूसरों की सर्वोच्चसत्ता के सामने नतमस्तक होना पड़े तो उसकी सर्वोच्चसत्ता को नष्ट और उस राज्य को पराधीन समझना चाहिये।

(ग) **राज्य संशोधन**—प्रतिनिधितन्त्र राज्यों में सर्वोच्चसत्ता का स्रोत जनता होती है। यही कारण है कि राज्य संशोधन में जनता की सर्वोच्चसत्ता का प्रतिबन्धरहित होना आवश्यक है। इस प्रकार का अधिकार किसी एक व्यक्ति या दल के पास न रह कर सम्पूर्ण संगठित समाज के पास रहता है। इच्छा न होते हुए और आत्महनन की आशंका रखते हुए भी बुरे से बुरे विधान का प्रतिपालन व्यक्तियों के लिये आवश्यक है। यदि लोग ऐसा न करें तो राज्य की शान्ति, स्थिरता तथा एकता का स्थापित रहना असम्भव है। राज्य-संशोधन तथा राज्य-क्रान्ति में बड़ा भेद है। राज्य-संशोधन तभी तक है जब तक कि (१) सम्पूर्ण परिवर्तन प्रचलित विधानों तथा शासन पद्धति की धाराओं के अनुसार ही किये जायँ और (२) प्राचीन शासनपद्धित की आकृति तथा आधार को सर्वथा ही न पलट दें। यदि यह बात न हो और शासनपद्धति की आकृति तथा आधार ही कुछ संशोधनों के कारण पलटा जाय तो इसको राज्य-क्रान्ति समझना चाहिये। यदि परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार राज्य का संशोधन निरन्तर न होता रहे तो राज्य का जीवन तथा प्राण सुरक्षित नहीं रह सकता। यदि किसी राज्य की जनता को इस नैसर्गिक अधिकार से वंचित रखा जाय तो इसका अभिप्राय यह है कि राज्य उन्नति का विरोधी है और राज्य-क्रान्ति का बीज बो रहा है। जनता को राज्य-क्रान्ति का अधिकार है या नहीं यह एक विलक्षण प्रश्न है क्योंकि प्रचलित विधानों के साथ 'राज्य क्रान्ति के अधिकार का नैसर्गिक विरोध है। राजशास्त्रवेत्ता राज्य-क्रान्ति करने में जनता का अधिकार न मानते हुए भी इसको अवश्यम्भावी ऐतिहासिक घटना समझते हैं, जो कि संशोधन या परिवर्तन के विरोधी राज्यों के समूल नाश करने के लिये उत्पन्न होती है और राज्य का जीवन स्थास्थ्यप्रद परिस्थिति में रखने का यत्न करती है। शासकों का कर्तव्य है कि जनता की इच्छाओं के अनुसार राज्य में उचित परिवर्तन करते हुए राज्य-क्रान्ति को उत्पन्न न होने दें।

राज्य की स्थिति के नाश का ही यदि सन्देह हो तो जनता को यह

अधिकार है कि राज्य-क्रान्ति करदे। राज्य तो राष्ट्र का एक अंग है। यदि राष्ट्ररूपी शरीर के नाश की ही सम्भावना हो तो राज्यरूपी अंग को काट कर संशोधन करना आवश्यक है। सारांश यह कि राज्य-क्रान्ति आपद्धर्म है। विधान तथा राज्य शान्ति के लिये हैं न कि आपत्ति के लिये। नीबूर (Niebuhr) ने ठीक कहा है कि "आपद्धर्म की सत्ता का अपमान करना भयंकर अत्याचारों के लिये द्वार खोलना है। जब एक जाति पैरों तले रौंदी जा रही हो और अमानुषिक अत्याचारों से पीड़ित हो, स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों का जहाँ कोई ध्यान न हो, ऐसी भयंकर आपत्ति में अत्याचारी राज्य के विरुद्ध राज्य-क्रान्ति करने से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और जो इस सिद्धान्त को नहीं मानता उससे बढ़कर कोई पापी नहीं।"

(घ) विधान-निर्माण—साधारणतया राज्य की सर्वोच्चसत्ता का मुख्य चिन्ह नियामक (विधान-निर्माण) शक्ति ही है। जो विधान बनाता है, प्राय: राज्य की सर्वोच्चसत्ता उसी के पास रहती है।

(ङ) मुख्य शक्ति—सर्वोच्चसत्ता राज्य की सम्पूर्ण शक्तियों में मुख्य शक्ति है। शासन पद्धति तथा विधान निर्माण में ही आजकल सर्वोच्चसत्ता मुख्यत: काम में आती है। एकतन्त्र राज्य में राजा ही इस सत्ता का प्रयोग करता है। जाति का इसमें कुछ भी भाग नहीं होता।

(च) अनुत्तरदायित्व—प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी है। प्राकृतिक घटनाओं के सम्मुख प्रत्येक को नतमस्तक होना पड़ता है। यह होते हुए भी ऐसा कोई न्यायाधीश नहीं नियत किया जा सकता जिसके सम्मुख राज्य को अपने कार्यों का उत्तर देने के लिये उपस्थित होना पड़े। यदि किसी एक राज्य को दूसरे राज्य की अनुमति के अनुसार अपनी सर्वोच्चसत्ता का प्रयोग करना पड़े तो उसको पराधीन ही समझना चाहिये। सारांश यह है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता पूर्ण स्वतन्त्र है। वह किसी भी कार्य के लिये किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का उदय—सर्वोच्चसत्ता का स्वरूप गुण तथा चिन्ह दिखाया जा चुका है। इसी को सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का नाम भी दिया जाता है। इस सिद्धान्त का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है क्योंकि इसी समय प्राचीन राजनैतिक संस्थाओं का ह्रास और जातीय राष्ट्रों तथा जातीय विचारों का उदय आरम्भ हुआ था। राज्य का वर्तमान प्रचलित विचार सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में राज्यों की सत्ता विद्यमान न थी। क्योंकि परिवार पर आश्रित

एकता उस समय लुप्त हो चुकी थी और जातीय आधार पर नवीन संगठन गर्भावस्था में था। वैयक्तिक पराधीनता तथा पारस्परिक अनुबंध ही संगठन का आधार था। रोमन साम्राज्य को सार्वभौम मानने से और गृह तथा धार्मिक जीवन में पोप का प्रभुत्व स्वीकार करने से यूरोप में मध्यकाल में स्वाधीन तथा समान अधिकार-युक्त राष्ट्रों का उदय न हुआ। इसी के साथ ही साथ सामन्तवाद के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विभक्त राजनैतिक अधिकार और जनता तथा राजनीतिज्ञों का किसी एक अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रकृति के जटिल सार्वभौम विधानों में विश्वास सर्वोच्चसत्ता की अपरिमित शक्तियुत्त सर्व बाधाओं से स्वतन्त्र, अनुत्तरदायी नवीन दिव्य प्रतिमा को चिरकाल तक लोगों के सामने न रख सका।

मध्यकाल के अन्त में यूरोपीय समाज गर्भावस्था से निकलकर नवीन रूप में प्रकट हुआ। धार्मिक युद्ध (Crusades) तथा पारस्परिक संघर्ष से कुलीन लोग निःशक्त हो गये। व्यापार तथा नगरों के बढ़ने से अन्य बहुत से लोग ताल्लुकदारों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो गये। कुलीनों तथा ताल्लुकेदारों की दुर्बलता से भिन्न-भिन्न राजाओं ने लाभ उठाकर अपूर्व शक्ति प्राप्त की परन्तु कुछ ही समय के पश्चात् यूरोपीय जनता ने यह रहस्य जान लिया कि राजा प्रजा का स्वामी नहीं है। राष्ट्र ही शक्ति का स्रोत है। राष्ट्र की कृपा से ही राजा शक्तिसम्पन्न है। फ्रान्स में एकतन्त्र राज्य ने नवीन रूप धारण किया उसको न्यायसंगत तथा स्वभाविक सिद्ध करने के लिये बोदाँ (Bodin) ने सब से पहले सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसने लिखा है कि राज्य ही नागरिकों का स्वामी है। उसकी सर्वोच्च-सत्ता अपरिमित, पूर्ण, अभेद्य तथा स्वतन्त्र है। बोदाँ के पश्चात् राज्यों की पृथक् सत्ता मानी जाने लगी। ग्रोशस (Grotius) ने अपनी पुस्तक में राज्य का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया और प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता तथा समान अधिकार वाला माना। इसी समय से अन्तर्राष्ट्रीय विधानों ने अपना रूप प्रकट किया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जॉन आस्टिन (Jhon Austin) ने अपने राजनैतिक विचारों तथा अध्ययन के कारण विशेष महत्व प्राप्त किया। इंगलैंड तथा अमेरिका के अधिकांश विचारकों पर उसकी छाप लगी। प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक विधानों पर से विचारकों की श्रद्धा उठ गई। सर्वोच्चसत्ता ने अपना नवीन दिव्य रूप दिखाया †।

† ब्लंशली—थ्यौरी आफ दी स्टेट, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४६३-४६६।

सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त की आलोचना—सर्वोच्चसत्ता के उपर्युक्त स्वरूप तथा चिन्ह को बहुत से राजशास्त्रवेत्ता स्वीकार नहीं करते। उन का विचार है कि राज्य का यह अधिकार नहीं कि वह वैयक्तिक धर्म तथा वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करे। वास्तव में उनका विचार सत्य है। परन्तु सब से बड़ी कठिनाई तो यह है कि वैयक्तिक धर्म्म तथा वैयक्तिक जीवन का क्षेत्र इतना स्पष्ट नहीं है कि कि आँख बन्द करके राज्य की सर्वोच्चसत्ता कुंठित की जासके। वैयक्तिक धर्म तथा वैयक्तिक जीवन का तात्पर्य क्या है इसका निर्णय कौन करे? यदि इसके निर्णय में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र किया जाय और उसी निर्णय के अनुसार सर्वोच्चसत्ता परिमित की जाय तो राज्य की शान्ति, स्थिरता, तथा सत्ता ही लुप्त हो सकती है। व्यक्तियों की इच्छाओं तथा विचारों को पृथक रूप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता का प्रतिबन्ध या बाधक मानने से राज्य तथा विधान का अभाव होना और अराजकता का फैलाना स्वाभाविक है। यदि इसका निर्णय जनता के बहुमत पर छोड़ दिया जाय और जो निर्णय हो उसी पर व्यक्तियों को चलने के लिये बाध्य किया जाय तो राज्य की सर्वोच्चसत्ता का अपरिमित तथा प्रतिबन्धरहित होना सिद्ध ही होगया। इस प्रकार उपर्युक्त आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रहता।

विधानों के अनुसार राज्य की सर्वोच्चसत्ता अपरिमित तथा अबाध्य है। वह कहाँ हस्तक्षेप करे और कहाँ न करे, किन किन विषयों में नागरिकों को स्वतन्त्रता दे, यह सर्वोच्चसत्ता के प्रयोग करने वालों पर निर्भर है। ब्लंशली का मत है कि "राज्य सर्वशक्तिमान नहीं, क्योंकि बाह्यरूप से अन्य राज्यों के सम्बन्ध से उसकी शक्ति प्रतिबद्ध है और आन्तरिक रूप से उसकी आकृति ही ऐसी है और उसके अगरूप व्यक्तियों के अधिकार ही ऐसे हैं कि उसकी सर्वोच्चसत्ता अपरिमित नहीं कही जा सकती"। यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि विधानों के अनुसार राज्य की सर्वोच्चसत्ता अपरिमित ही है। वातस्व में क्या होता है यह दूसरी बात है। बेन्थम ने यह कहकर कि "विदेशी राज्य की सन्धियों के द्वारा प्रत्येक राज्य की सर्वोच्चसत्ता प्रतिबद्ध है" ब्लंशली के समान भूल की है। वास्तव में बात तो यह है कि जिस प्रकार रेखागणित में बिन्दु को लम्बाई चौड़ाई से शून्य माना है यद्यपि प्रयोगस्थल में ऐसा नहीं

गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस, पृष्ठ ६५-६७।
आस्टिन—लैक्चर्स आन जूरिस्प्रूडेंस।

होता, उसी प्रकार राजशास्त्र में सर्वोच्चसत्ता अपरिमित, स्वतन्त्र तथा प्रतिबन्ध रहित मानी गई है।

सर्वोच्चसत्ता-सिद्धान्त पर सबसे अधिक विचारपूर्ण आक्षेप सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) का है। मेन सात वर्ष तक लगातार भारतवर्ष में रहा। नियामक सभा का सदस्य होने से उसको भारत की प्राचीन शासनपद्धति का पूर्ण रूप से ज्ञान होगया था। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ब्रिटिश राज्य पर्य्यन्त विधान नहीं बनाये जाते थे। देशप्रथा तथा प्राचीन विधान ही शासन के आधार थे। स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी भारतीय राजा नवीन नवीन मनमाने ढङ्ग के प्रबल विधान बनाकर जनता पर अत्याचार करना नहीं जनते थे। रणजीतसिंह जैसे निरंकुश स्वेच्छाचारी राजा के विषय में मेन ने लिखा है कि वह छोटे से छोटे अपराध पर लोगों को मृत्युदण्ड देता था। यह होते हुए भी उसने एक भी ऐसी आज्ञा नहीं निकाली जिसे हम विधान कह सकें। जो विधान चिरकाल से पंजाब में प्रचलित थे उन्हीं के अनुसार न्यायाधीश अपना निर्णय करते थे। सारांश यह है कि भारतवर्ष में राज्य की सर्वोसच्चसत्ता इस सीमा तक स्वेच्छापूर्ण तथा अपरिमित कभी नहीं हुई कि वह प्राचीन प्रथाओं तथा प्राचीन विधानों का उल्लंघन कर सके। अधिक क्या यूरोपीय राज्यों में अभी तक प्राचीन प्रथायें, प्राचीन विधान तथा अधिकारपत्र राज्य की सर्वोच्चसत्ता को परिमित कर रहे हैं। इन सब बातों को देखते हुए मेन का विचार है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता को अपरिमित, प्रतिबन्ध रहित तथा स्वतन्त्र मानना सत्य का अपलाप करना है।

मेन के आक्षेप की प्रबलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है। आस्टिन तक को यह करना पड़ा कि "जो जो बातें प्राचीन काल से अब तक प्रचलित हैं और न्यायाधीशों को जिनका ध्यान रखकर निर्णय करना पड़ता है, वे सब प्रकार से राज्य की सर्वोच्चसत्ता के विरुद्ध न होने से प्रचलित हैं। राज्य उनको पसन्द करता है इसलिये उनका अस्तित्व है। प्राचीन काल के नियमों का प्रचलित होना पार्लियामेंट की सर्वोच्चसत्ता को परिमित या प्रतिबंधयुक्त नहीं बना सकता। क्योंकि पार्लियामेंट इनमें यथेच्छ परिवर्तन कर सकती है और अब तक करती भी रही है"। पंजाब के महराज रणजीतसिंह का दृष्टान्त सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त के खण्डन में असमर्थ है। क्योंकि रणजीतसिंह पञ्जाब के प्राचीन नियमों तथा देश प्रथाओं में स्वेच्छानुसार परिवर्तन कर सकता था। यदि वह ऐसा करने से डरता था तो इसका मूल कारण उसका धार्मिक विश्वास ही था।

बहुत से राजशास्त्रवेत्ताओं का विचार है कि आस्टिन का उपर्युक्त सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त वर्तमान राज्यों के लिये ही सत्य है। प्राचीन तथा मध्यकालीन राज्यों के लिये वह ठीक नहीं है। इस विचार को सर जेम्स स्टीफेन (Sir James Stephen) ने यहां तक बढ़ाया है कि सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त को रेखा तथा बिन्दु के लक्षण के सदृश ही कल्पित माना है। उसका कथन है कि "जिस प्रकार पूर्ण परिधि बाधा रहित गति, या लम्बाई चौड़ाई रहित बिन्दु, विचार की सुगमता के लिये मान लिये गये हैं उसी प्रकार सर्वोच्चसत्ता की कल्पना अपरिमित स्वतन्त्र तथा प्रतिबन्ध रहित की गई है"। वास्तविक जगत् में सर्वोच्चसत्ता अपने सम्पूर्ण गुणों तथा चिन्हों के साथ कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ती है। इस संसार में न कोई पूर्णस्वतन्त्र, प्रतिबन्ध रहित, अपरिमित शक्तिसम्पन्न स्वेच्छाचारी प्रभुत्व और न कोई ऐसी सर्वोच्चसत्ता ही है जो निर्बाध तथा अपरिमित हो।

कुछ लेखकों ने मेन के आक्षेप से बचने के लिये राज्य तथा विधान के लक्षण का परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रधान वुडरो विल्सन (President Woodrow Wilson) ने लिखा है कि "स्थिर विचारों तथा स्थिर स्वभावों का वह भाग विधान है जिसको राजकीय शक्ति तथा राजनैतिक अधिकार से प्रचलित किया गया हो। नवीन विधानों को बनाना इसी क्रम का एक भाग है। 'विधान' संगठित समाज की इच्छा के ही परिणाम हैं। विधानों को एकमात्र राजकीय अथवा नियामक शक्ति का चिन्ह समझना भूल करना होगा क्योंकि सदाचार के नियम तथा न्यायाधीशों के द्वारा विधानों की व्याख्या भी विधान का रूप धारण कर सकती है। राज्य की आज्ञा ही विधान है"। यह सूत्र पूर्णरूप से सभ्य राज्यों में लागू हो सकता है। हमारी समझ में विल्सन के लक्षण भी इसी के अन्तर्गत हो जाते हैं, क्योंकि जो बातें वह अपने नवीन लक्षण से सिद्ध करना चाहता है वह इस लक्षण से भी सिद्ध हो जाती हैं।

सामयिक राज्यों में राज्य की सर्वोच्चसत्ता का स्थान—सामयिक राज्यों की शासन पद्धतियों से भिन्न भिन्न राज्यों की सर्वोच्चसत्ता का स्थान सुगमता से जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ ब्रिटिश साम्राज्य को लीजिये। उसकी सर्वोच्चसत्ता का केन्द्र पार्लियामेंट है (राजा, लार्ड्स तथा कामन्स के सम्मिलित रूप का नाम ही पार्लियामेंट है)।

आंग्ल पार्लियामेन्ट की शक्ति अपरिमित तथा प्रतिबन्धरहित है। यह प्रत्येक प्रकार का विधान बना सकती है। कोई भी ब्रिटिश न्यायालय पार्लिया-

मेन्ट द्वारा पास किये गये विधान को रद्द नहीं कर सकता है। देशप्रथा, प्राक्कालीन विधान, लिखित स्वाधिकार-पत्र (Magna carta) आदि कोई भी पार्लियामेन्ट की अपरिमित शक्ति को कम नहीं कर सकते। पर्लियामेन्ट के सन्मुख वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पृथक् अस्तित्व नहीं। किसी भी उपनिवेश अथवा स्थानीय राज्य का ऐसा स्वराज्य नहीं, जिसको कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट मिटा न सकती हो।

ब्रिटिश शासनपद्धति सरल है। अतः वहां सर्वोच्चसत्ता का प्रश्न बहुत टेढ़ा है। परन्तु अमेरिकन शासनपद्धति में यह बात नहीं है। उसमें सर्वोच्चसत्ता का स्थान गुप्त है। अमेरिकन संघीय शासनपद्धति (Federal Government) में संगठित राज्यों की नियामक तथा शासन शक्तियां परिमित हैं। क्योंकि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के सदृश अमेरिकन कांग्रेस मनमाना विधान नहीं बना सकती। अमेरिकन न्यायालय प्रत्येक विधान पर विचार कर सकते हैं और यदि वह अमेरिकन शासनपद्धति की नियत धाराओं के विपरीत हो तो उसको रद्द भी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, मुख्य राज्य का नियत कर सम्बन्धी विधान अपने अनुसार चलने के लिये किसी भी अमेरिकन को बाध्य नहीं कर सकता। सारांश यह है कि अमेरिका में प्रधान, कांग्रेस तथा राष्ट्रीय राज्यों में से किसी के पास भी पूर्ण रूप से राज्य की सर्वोच्चसत्ता नहीं है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अमेरिका की सर्वोच्चसत्ता का गुप्त स्थान भी जाना जा सकता है।

वास्तविक बात तो यह है कि अमेरिका की सर्वोच्चसत्ता उस सभा के पास है जो कि अमेरिकन शासनपद्धति की नियत स्थिर धाराओं को परिवर्तित कर सकती हैं। यद्यपि इस सभा की सत्ता पूर्णरूप से प्रत्यक्ष नहीं है तथापि इसकी सर्वोच्चसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। कांग्रेस के दोतिहाई सदस्य या तीनचौथाई नियामकों द्वारा किये गये विशेष सभा के सदस्य अमेरिकन शासन-पद्धति की नियत धाराओं का परिवर्तन कर सकते हैं। और अमेरिकन न्यायालय उनकी सम्मतियों पर किसी प्रकार की भी बाधा नहीं डाल सकते। इस विशेष सभा में अमेरिका की सर्वोच्चसत्ता है और वह अपरिमित है। इसी प्रकार फ्रांस में प्रधान, सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा में से किसी के पास भी राज्य की सर्वोच्चसत्ता नहीं है। फ्रांस की शासनपद्धति की नियत धाराओं के अनुसार इन सभाओं की शक्ति परिमित है। वस्तुतः फ्रांस की सर्वोच्चसत्ता सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा की सम्मिलित बैठक में (जो कि जातीय सभा के नाम सम्बोधित की जाती है) यही

जातीय सभा फ्रांस की सर्वोच्चसत्ता का केन्द्र है। इसकी शक्ति अपरिमित है।

राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता का सिद्धान्त—सर्वोच्चसत्ता का स्वरूप तथा स्थान विधान के अनुसार क्या है? इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब यह बतलाया जायगा कि आधुनिक राज्यों में वस्तुतः सर्वोच्चसत्ता किस के पास रहती है। स्वेच्छाचारी राज्यों में राजा ही सर्वशक्तिमान तथा राज्य का प्रभु होता है। परन्तु प्रायः यह देखने में आया है कि राजा भोगविलास में मस्त होकर अपना कार्य मंत्रियों पर छोड़ देता है और इस प्रकार मन्त्री ही राज्य का प्रभु तथा संचालक बन जाता है। कभी कभी पुरोहित लोग भी अपनी धार्मिक शक्ति के बल पर राजा को कठपुतला बना देते हैं और राज्य की सर्वोच्चसत्ता स्वयं बन जाते हैं। प्रतिनिधितंत्र राज्यों में देखने में तो प्रतिनिधियों का राज्य होता है, परन्तु वास्तव में उनके पास निर्वाचित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है। निर्वाचित होने के पश्चात् प्रतिनिधि स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और प्रायः मनमाने ढंग पर चलने लगते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि प्रतिनिधि निर्वाचन में धनशक्ति का प्रयोग होने से धनिक या कुलीन लोग ही प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इससे राष्ट्र की सर्वोच्चसत्ता चिरकाल तक एक ही दल या एक हो श्रेणी के लोगों के हाथ में रहती है। आधुनिक राज्यों में पूँजीपतियों को विशेष शक्ति प्राप्त है। इससे राज्य की सर्वोच्चसत्ता श्रमिकों के हित में न प्रयुक्त होकर राष्ट्र के धन शोषण में प्रयोग की जाती है। साम्राज्यवाद की ओर राज्यों का झुकाव इसीलिये है। डाइसी (Dicey) का कथन है कि "विधानों के अनुसार जो राजा समझा जाता है प्रायः वह किसी दूसरे का कठपुतला होता है। जैसे दूसरा उसको नचाये वैसे ही उसको नाचना पड़ता है"*। सिजविक ने ऐसे राजा के पता लगाने का यत्न किया है जो कि विधानों के द्वारा राजा होते हुए भी वास्तव में भी राजा हो। उसका कथन है कि "वह स्वेच्छाचारी तानाशाह (Irresponsible Dictator) जो कि जन सभा से निर्वाचित हो और पुनर्निर्वाचन का अनिच्छुक हो, उसी को विधान का प्रतिपादक तथा वास्तविक राजा या प्रभु समझना चाहिये। परन्तु यदि वह पुनर्निर्वाचन का इच्छुक हो तो उसको जन सभा की इच्छा का विशेष रूप से ध्यान रखना

---

* ए० वी० डायसी—ला आफ दी कान्स्टीट्यूशन।

पड़ेगा। इस दशा में उसको मुख्य शासक व प्रभु समझना भूल होगी"*। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधानों के अनुसार एक व्यक्ति या सभा के पास सर्वोच्चसत्ता के होते हुए भी वास्तव में वह राज्य का प्रभु नहीं होता। कहीं पुरोहित, कहीं सेनापति या पूँजीपति, कहीं कुलीन या दरबारी और कहीं राजधानी के लोग ही राज्य के वास्तविक प्रभु होते हैं, जब कि विधानों के अनुसार कोई दूसरा ही व्यक्ति प्रभु पद पर विराजमान होता है †। पिछली शताब्दी से यूरोपीय राज्य प्रतिनिधितन्त्र राज्य पद्धति में दिन प्रति दिन प्रविष्ट होते गये। रूसो तथा फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के पश्चात् यह विचार लोगों में फैल गया कि राजनैतिक प्रभुत्व वस्तुतः जनता के पास रहता है ‡। उसका कथन है कि प्रभुत्व उसी का होता है जो कि शक्तिशाली है। जो आज्ञा का प्रतिपालन करा सके और राष्ट्र को नियंत्रित रखे उसी को राष्ट्र का प्रभु समझना चाहिये"। अति प्राचीनकाल में राजा ही राष्ट्र का प्रभु था। कालान्तर में संगठन, चातुर्य तथा सैनिक बल से कुछ लोग राष्ट्र-स्वामी बन बैठे। आजकल सर्वसाधारण में राजनैतिक जीवन तथा धन के बढ़ने से जनता का अधिक भाग ही राष्ट्र का स्वामी है। यह निर्वाचन के द्वारा ही काम में लाया जाता है। सारांश यह है कि सर्वोच्चसत्ता का वास्तविक स्रोत तथा आगार जनता है।×

परन्तु यह विचार सुगमता से नहीं माना जा सकता। प्रश्न यह है कि जनता का क्या तात्पर्य है? यदि इसका अर्थ राष्ट्र के अङ्गभूत व्यक्तियों से लिया जाता हो तो इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि राष्ट्र शरीर की शक्ति राष्ट्र शरीर के चूर्णीभूत पृथक पृथक अराज्यों में रहती है। इससे तो राष्ट्र का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। सभी राष्ट्रों में सभायें हैं जो कि राष्ट्रीय शक्ति कीं अधिष्ठात्री हैं। व्यक्तियों के पास पृथक-पृथक रूप से कुछ भी राष्ट्रीय शक्ति नहीं। जिस प्रकार जीवित शरीर से पृथक किये अंग निर्जीव तथा निःशक्त हो जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र शरीर

---

* सिजविक—ऐलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस अध्याय ३१

† लीकाक—ऐलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस—पृष्ठ ६३—६७।

‡ ब्लंशली— थ्यौरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण—पृष्ठ ४६७।

× गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ६६।

के अंग भूतव्य व्यक्ति का पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं। उसमें शक्ति तथा जीवन का मानना भयंकर भूल करना होगा * ।

"प्रभुत्व उसी का होता है जो कि शक्तिशाली है । जो आज्ञा का प्रतिपालन करा सके और राष्ट्र को नियंत्रित रखे, उसीं को राष्ट्र का प्रभु समझना चाहिये" इस आधार पर जनता का राजनैतिक प्रभुत्व सिद्ध करना निरर्थक है । इससे यह पता नहीं चलता कि कौन कौन से तथा कितने मनुष्यों के पास किसी राष्ट्र में राजनैतिक प्रभुत्व रहता है । कौन शक्तियुक्त हैं, यदि यह जानने का यत्न किया जावे तो हो सकता है कि जनता शक्तियुक्त न निकले । स्त्री तथा बालक युद्ध में असमर्थ हैं । मनुष्यों में भी संगठित दल अधिक शक्तिशाली होता है, क्योंकि युद्ध में वही विजयी होता है जो किसी सेनापति के नीचे काम करने को तत्पर रहता है और आंख बन्द करके उसी की आज्ञा पर चलता है । नियंत्रण रहित जनता संगठित दल के संमुख निःशक्त होती है । यही कारण है कि 'शक्ति' राजनैतिक प्रभुत्व का आधार नहीं हो सकती † ।

यदि जनता के राजनैतिक प्रभुत्व का चिन्ह निर्वाचक ही समझा जावे तो भी समस्या हल नहीं होती । क्योंकि निर्वाचक लोग प्रायः सम्पूर्ण जनसंख्या का $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{10}$ भाग तक होते हैं । इन लोगों को जनता की इच्छा का सूचक समझना भयंकर भूल है । सबसे बड़ी बात यह है कि निर्वाचक लोग प्रतिनिधि चुनने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकते । प्रतिनिधिगण निर्वाचित होते ही उनके प्रभुत्व से निकल कर स्वतन्त्र हो जाते हैं । केवल उन्हीं देशों में निर्वाचकों का राजनैतिक प्रभुत्व माना जा सकता है जहां कि जनमत विधि (Initiative and referendum) का प्रचार है । साधारणतया यह देखा गया है कि पुरोहितों, पादरियों, कुलीनों, पूँजीपतियों आदि से प्रभावित होकर निर्वाचक का कार्य करते हैं । इससे निर्वाचकों का प्रभुत्व नाममात्र का ही रह जाता है । कभी कभी निर्वाचक साधारण जनता के विचारों से प्रभावित होकर भी लोगों को निर्वाचित करते हैं । सारांश यह है कि प्रतिनिधितन्त्र राज्यों में राजनैतिक प्रभुत्व निर्वाचकों के पास सदैव नहीं रहता । इसलिये उन्हें राजनैतिक प्रभुत्व का आधार मानना बड़ी भूल करना है ।‡

---

* ब्लंश्ली–थ्यौरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण पृष्ठ ४९७

† ब्लंश्ली–थ्यौरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण पृष्ठ ४९७

‡ लीकाक–ऐलीमेन्ट्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ६५–६६

जनता में भी राजनैतिक प्रभुत्व न मानने का एक यह कारण है कि इनमें विधान के अनुकूल राजनैतिक प्रभुत्व का होना कठिन है "राज्य द्वारा संगठित समाज ही राष्ट्र है। राज्य ही राष्ट्र के लिये विधान बनाता है और चलाता है" इस विचार से यह परिणाम निकलता है कि विधानों का उल्लंघन कर सर्वोच्चसत्ता को काम में लाना 'विद्रोह या क्रान्ति' है। विधानों के अनुसार चलते हुए ही जनता सर्वोच्चसत्ता का प्रयोग कर सकती है। परन्तु इससे जनता में राजनैतिक प्रभुत्व कहाँ रहा? जब जनता को भी विधानों का ध्यान रखना पड़ा तो उसका राजनैतिक प्रभुत्व पूर्णरूप से कैसे माना जा सकता है? यही कारण है कि राजनीतिज्ञ जनता की सर्वोच्चसत्ता का अर्थ यही लेते हैं कि राज्य शान्तिकाल में जनता की सम्मति के अनुसार ही कार्य करने का यत्न करे। यदि जनता का राजा से मतभेद हो और राजा अपने ढंग पर ही कार्य करने पर उतारू हो तो 'राज्यक्रान्ति की शक्ति' ही जनता की सर्वोच्चसत्ता है।*

प्रौफेसर रिशी (Ritchie) तथा अन्य राजशास्त्रवेत्ताओं ने इसी 'राज्यक्रान्ति की शक्ति' को आधार बनाकर जनता की सर्वोच्चसत्ता को पुष्ट किया है। रिशी एक स्थान पर लिखता है कि जनता की सम्मतियों तथा विचारों में ही राष्ट्र का प्रभुत्व है। रूस पर यदि जार का राज्य था तो केवल इसलिये कि लोगों का बहुमत उसको ईश्वर का अवतार मानता था। जन-सम्मति रूस के जार के शासन में उसी प्रकार कारण थी जिस प्रकार कि स्विस राष्ट्रात्मक राज्य के शासन में कारण है।† इसी प्रकार मैकैकनी (M.' kechnie) ने लिखा है कि जनता में ही राष्ट्र की वास्तविक सर्वोच्चसत्ता है। शासन का ढंग तथा शासक का स्वरूप इसमें बाधक नहीं।‡

'राज्यक्रान्ति की शक्ति' भी जनता के पास यदि होती तो उसका राजनैतिक प्रभुत्व किसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता। भारतवर्ष तथा रूस की जनता चिरकाल से प्रतिनिधितन्त्र तथा उत्तरदायी राज्य चाहती थी। बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् इन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। स्वेच्छाचारी राज्य सैकड़ों प्रकार के क्रूर तथा कठोर विधान बना कर

---

* गैटिल–इट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ १००

† डी० जी० रिशी—प्रिंस्पिल्स आफ स्टेट इन्टरफियरेंस।

‡ मैकैकनी—स्टेट ऐन्ड दी इन्डिविजुअल।

स्वतंत्रता-प्रिय लोगों को नष्ट करते हैं और जनता को 'राज्यक्रान्ति' करने से रोकते हैं। इसी कारण जनता में राजनैतिक प्रभुत्व नहीं माना जा सकता। जो संगठित हैं और शक्तिशाली हैं उन्हीं का राजनैतिक प्रभुत्व है अन्य का नहीं।

जनता में राजनैतिक प्रभुत्व क्यों माना गया है? इसका इतिहास रहस्यपूर्ण है। स्वेच्छाचारी राज्यों के अत्याचार तथा क्रूर व्यवहार ही इसका कारण हैं। राज्य के संशोधन अथवा पलटने के लिये जनता को साधन बनाना आवश्यक है। राज्यों के स्वेच्छाचार तथा अत्याचार तभी तक हैं जब तक कि जनता संगठित होकर राज्य-क्रान्ति नहीं करती। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति में जनता के सर्वोच्चसत्ता विषयक विचार ने अपूर्व चमत्कार दिखाया। फ्रेन्च राष्ट्रीय सभा ने राज्य पलटने के लिये (२० अप्रैल १७६२) रूसो के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा कि 'प्रत्येक जाति को अपने अपने विधान बनाने तथा उसमें परिवर्तन करने का अधिकार है। सम्पूर्ण जनता के अतिरिक्त और किसी का यह अधिकार नहीं'। 'सन् १८४८ में फ्रान्स की जनता ने परिमित शक्ति युक्त एकतन्त्र राज्य को पलट कर प्रतिनिधितन्त्र राज्य की स्थापना की। उस समय जो घोषणा की गई, उसके शब्द ये हैं— "प्रत्येक युवा फ्रेन्च फ्रान्स का नागरिक है। प्रत्येक नागरिक निर्वाचक और प्रत्येक निर्वाचक राज्य का राजा या प्रभु है। सब नागरिकों का अधिकार समान है। कोई एक नागरिक दूसरे नागरिक को यह नहीं कह सकता कि 'तुम्हारी अपेक्षा राज्य पर मेरा अधिक प्रभुत्व है'। अपनी शक्ति को समझो और काम में लाओ। अपनी सर्वोच्चसत्ता के उचित अधिकारी बनो"।* जबसे राजनीतिज्ञों ने जनता में सर्वोच्चसत्ता को मान कर राज्यक्रान्ति करवाना आरम्भ किया तब से राज्यों का स्वेच्छाचार नष्ट हो गया है। जनता की सम्मतियों के अनुसार ही विधान बनाना तथा शासन करना आजकल राज्यों का मुख्य उद्देश्य है। स्थानीय स्वराज्य, जनमतविधि, निर्वाचन का सबको अधिकार देना, प्रतिनिधियों द्वारा काम कराना इत्यादि अनेकों रीतियां हैं जिनसे यूरोपीय राज्य राज्यक्रान्तियों से अपने को बचाते हैं।† विधानों के अनुसार जनता के पास राजनैतिक प्रभुत्व हो चाहे न हो, परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि राजनीतिज्ञों ने 'जनता में सर्वोच्चसत्ता'

* ब्लंश्ली—थ्योरी आफ दी स्टेट तृतीय संस्करण।

† विलोबी—नेचर आफ दी स्टेट पृष्ठ ३०१।

मानकर बहुत काम किया। जनता में राजनैतिक जीवन का जागृत होना भी बहुत कुछ इसी से सम्बद्ध है। आजकल सर्वोच्चसत्ता तथा जनता की सम्मति में पूर्ववत् भेद नहीं रहा है। यही कारण है कि दोनों की विभिन्नता का पता लगाना दिन पर दिन कठिन होता जाता है।*

आस्टिन का सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त—आस्टिन ने सर्वोच्चसत्ता की वैधानिक रीति से इस प्रकार व्याख्या की है—

(१) प्रत्येक राज्य में एक "निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष होता है जो अधिकांश नागरिकों द्वारा आज्ञा पालन कराने में अभ्यस्त है"।

(२) जो आदेश यह श्रेष्ठ पुरुष करता है वही विधान है। इस (श्रेष्ठ पुरुष) के बिना विधान का उदय नहीं हो सकता।

(३) इस श्रेष्ठ पुरुष की शक्ति अविभाज्य है और इस शक्ति का नाम सर्वोच्चसत्ता है।

(४) यह सर्वोच्चशक्ति निरंकुश है। और उसको सीमित नहीं किया जा सकता।

आलोचकों ने इन चारों प्रमेयों की तीव्र आलोचना की है। परन्तु लार्ड (Lord) का मत है कि इनमें से प्रत्येक प्रमेय में थोड़ी बहुत सच्चाई है और वह बहुत महत्वपूर्ण है।

(क) प्रथम प्रमेय का सर हेनरीमेन ने अपनी 'अर्ली इन्स्टीटचूशन्स' नामक पुस्तक में खंडन किया है। वह लिखता है कि "प्राच्य के साम्राज्यों में आस्टिन के मत के समान कोई निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष नहीं दिखाई देता। उसने महाराजा रणजीतसिंह का उदाहरण देकर बतलाया है कि रणजीतसिंह का अपनी प्रजा पर स्वेच्छाचारी शासक था और जो कोई उसकी आज्ञा का तनिक भी उल्लंघन करता था उसको मृत्यु दण्ड दिया जाता था। वह भी परम्परागत रीति रिवाजों के अनुसार शासन करता था। उसने कोई ऐसा आदेश प्रचलित नहीं किया जो आस्टिन के मतानुसार विधान कहा जा सके। रीति रिवाज तो परम्परागत हैं, ये किसी 'श्रेष्ठ पुरुष' द्वारा प्रचलित नहीं किये जाते, अतः आस्टिन का 'श्रेष्ठ पुरुष' राज्य के लिये अनिवार्य नहीं है और यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता नहीं है वहाँ अराजकता अथवा नैसर्गिक दशा विद्यमान है।" †

---

* गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पौलीटिकल साइंस पृष्ठ १०१।

† ए० आर० लार्ड—प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिक्स पृष्ठ ८८।

(ख) ग्रेटब्रिटेन में निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष को ज्ञात करना सापेक्षतया सरल है। परन्तु इस सिद्धान्त को प्राच्य के साम्राज्यों तथा अमेरिका के संयुक्त राज्यों पर लागू किया जाय तो यह निरर्थक सिद्ध होगा। परन्तु फिर भी लार्ड के मतानुसार यह माना जा सकता है कि यद्यपि किसी राज्य में सर्वोच्चशक्ति का पता चलाना कठिन है तथापि यह बात मान्य है कि प्रत्येक राज्य में कहीं न कहीं यह सर्वोच्चशक्ति होती है। "सैद्धान्तिक तथा वास्तविक रूप से यह ज्ञात करना सदैव संभव है कि एक अन्तिम सर्वोच्चशक्ति है जिससे ऊपर कोई पुनरावेद अथवा पुनर्विचार-प्रार्थना (appeal) नहीं की जा सकती"।*

(ग) यह सिद्धान्त कोरा और वैधानिक है और इसमें सर्वोच्चसत्ता के दार्शनिक पहलू का विचार नहीं किया गया है। आधुनिक काल में जनतंत्र राज्यों का आधार 'लोकेच्छा' समझी जाती है। गार्नर का कथन है कि "यह श्रेष्ठ पुरुष (आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता) रूसो-कथित लोकेच्छा नहीं समझा जा सकता, न यह जनसाधारण ही है न यह निर्वाचक ही है, न यह सम्मति ही है, न यह नैतिक भावना ही है, न यह सर्वसामान्य विचार-शक्ति ही है, और न ईश्वरेच्छा ही है। यह तो केवल निश्चयात्मक शक्तिशाली पुरुष है जो किसी प्रकार के वैधानिक बंधनों से बाध्य नहीं है।" †

(घ) यदि सर्वोच्चसत्ता का अधिकार केवल 'अभ्यस्त आज्ञापालन' प्राप्त करना है तो उसे 'सीमारहित' समझना न्यायसंगत नहीं है।

(२) आस्टिन का द्वितीय प्रमेय यह है कि "सर्वोच्चसत्ता एक 'निश्चयात्मक श्रेष्ठ पुरुष' है और वह सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च विधान निर्माता है, जो कुछ वह आज्ञा देता है वही विधान है। यदि यह मान लिया जाय तो जितने परम्परागत रीतिरिवाज हैं वे सब विधान नहीं हैं। इंगलैंड में तो विधानों का बहुत बड़ा भाग वहाँ के परम्परागत रीति रिवाज ही हैं। वहाँ की पार्लियामेंट किसी भी विधान में परिवर्तन कर सकती है। इंगलैंड का राजा सपार्लियामेंट विधान में सब प्रकार का परिवर्तन कर सकता है, परन्तु यह बात सैद्धान्तिक ही है, वास्तविक नहीं है। वहाँ का राजा यह सब कार्य अपनी स्थिति को संकट में डाल कर ही कर सकता है अन्यथा नहीं। प्राच्य साम्राज्यों के स्वेच्छाचारी शासक भी जनता के परम्परागत नियम तथा

---

* ए आर लार्ड—प्रिंसिपल्स आफ पौलिटिक्स पृष्ठ ८८।

† जे० डब्लू० गार्नर—पौलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेन्ट पृष्ठ १७९-१८०।

विधानों में हस्तक्षेप नहीं करते थे। आस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार सब विधान केवल "आज्ञायें" हैं। यही इस सिद्धान्त में त्रुटि है। इसमें शक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। अतः यह सिद्धान्त निर्मूल है।

इन सब बातों से यह प्रकट होता है कि आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता ही पूर्ण-रूपेण विधान निर्माता नहीं है। डुग्विट (Dugvit) का विचार तो यह है कि राज्य विधान निर्माण कार्य नहीं करता है बल्कि विधान राज्य स्थापित करते हैं।

(३) आस्टिन का तृतीत प्रमेय है कि सर्वोच्चसत्ता अविभाज्य है।

(क) लार्ड का मत है कि आस्टिन का यह विचार निर्मूल है क्योंकि बिना विभाजन के राज्य कार्य हो ही नहीं सकता है। शासन-कार्य सफलता पूर्वक करने के लिये शासन के तीन भाग करना आवश्यक है। वे तीन भाग हैं व्यवस्थापक मंडल, कार्यपालिका और न्यायाधिकार वर्ग। ये तीनों अन्तिम सत्ताएँ "एक दूसरे से इस प्रकार स्वतन्त्र हैं कि कार्यपालिका सर्वोच्चसत्ता सदैव कार्य करती रहती है, अस्थायी रूप से व्यवस्थापक मंडल भंग कर दिया जाता है और न्यायाधिकार-वर्ग सदैव कार्य नहीं करता है" *। वास्तव में अन्तिम सत्ता लोकेच्छा ही है। इस प्रकार का विभाजन होने पर भी वास्तव में एक ही सत्ता के तीन रूप हैं। इनका ध्येय भी एक ही है।

(ख) वैधानिक और राजनैतिक सत्ताओं के भेद को कुछ लोग सर्वोच्चसत्ता का विभाजन समझते हैं। आस्टिन का विचार है कि इंगलैण्ड के लोग सर्वोच्चसत्ता में भागीदार हैं। परन्तु वह राजनैतिक और वैधानिक सर्वोच्चसत्ता के भेद की कल्पना न कर सका और उस ने यह विश्वास करने में भूल की है कि लोग वैधानिक सर्वोच्चसत्ता के भागीदार हैं। गिलक्रिस्ट लिखता है कि आस्टिन विविध प्रकार से यह कहता है कि

(अ) पार्लियामेंट सर्वोच्चसत्ता है।

(आ) सम्राट और लार्ड्स और निर्वाचक सर्वोच्चसत्ता हैं।

(इ) जब पार्लियामेंट भंग हो जाती है तब निर्वाचक ही सर्वोच्च-सत्ता हैं।

(ई) साधारण सभा की शक्ति न्यासधारी है और साधारण सभा की शक्ति न्यास से स्वतन्त्र है †।

---

* लार्ड-प्रिंस्पिल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ८९

† आर० एन० गिलक्रिस्ट-प्रिंस्पल्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ट ११६

(४) आस्टिन का चतुर्थ प्रमेय यह है कि सर्वोच्चसत्तापूर्ण तथा अपरिमित है। बहुलवादियों ने इसका खंडन किया है। जो बहुलवादी नहीं हैं वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यद्यपि वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्चसत्ता अपरिमित है तथापि कुछ राजनैतिक और ऐतिहासिक सीमाएँ अवश्य हैं। उनका विचार है कि सर्वोच्चसत्ता की अपरिमित शक्ति और अनन्त अधिकार केवल न्यायशास्त्र के अनुचयन अथवा सिद्धांतीकरण (Abstractions) हैं।

(क) ब्लंशली का कथन है कि "सामूहिक रूप में राज्य सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि वाह्य विषयों में वह अन्य राष्ट्रों के अधिकारों से परिमित है। आन्तरिक विषयों में वह अपनी प्रकृति तथा प्रजा के व्यक्तिगत अधिकारों से परिमित है"। बेन्थम का मत है कि राज्य की सर्वोच्चसत्ता अन्य राष्ट्रों के साथ संधियों से परिमित है। आस्टिन के सिद्धान्त के अनुयायी इनके उत्तर में यह कहते हैं कि ये सीमाएँ वैधानिक नहीं हैं, सैद्धान्तिक और स्वयमारोपित हैं। "वैधानिक भाषा में राज्य सर्वशक्तिमान है" *.

(ख) संसार के कुछ भागों में रीति-रिवाज वास्तव में सर्वोच्चसत्ता को परिमित करते हैं। सर जेम्स स्टीफेन (Sir James Stephen) का कथन है कि "जिस प्रकार प्रकृति में कोई पूर्ण जकड़बन्ध समवाय नहीं है अथवा यान्त्रिक प्रणाली नहीं है जिसमें घर्षण न हो, अथवा समाज की दशा ऐसी नहीं है, जिसमें मनुष्य केवल लाभ के लिये कार्य करते हों, उसी प्रकार प्रकृति में पूर्ण सर्वोच्चसत्ता भी नहीं है" †। अपार शक्ति नहीं है। स्वेच्छाचारी राज्यों में भी भिन्न भिन्न प्रकार के प्रभाव सर्वोच्चसत्ता को प्रभावित करते हैं। एक संगठित और स्वतन्त्र राजनैतिक समुदाय में इस प्रकार के सब प्रभावों के सामूहिक रूप का नाम राजनैतिक सर्वोच्चसत्ता है।

(ग) संघवादी भी स्वेच्छाचारी अथवा पूर्ण सर्वोच्चसत्ता के विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि आस्टिन ने अपने सिद्धान्त का उस समय प्रचार किया था जिस समय संघीय राज्य आरम्भिक तथा अपूर्ण अवस्था में थे। उनका यह विचार भी है कि इस सिद्धान्त का एकात्मक राज्य पर कुछ भी प्रभाव हो, परन्तु संघीय राज्य में इस सिद्धांत के लिये कोई स्थान नहीं है।

---

* एन० लीकाक—ऐलीमेंन्ट्स आफ पौलीटिकल साइंस पृष्ठ ५१।

† लीकाक—द्वारा उद्धत ,, ,, ,, ,, ५७।

(घ) कुछ लोगों का मत है कि इस सिद्धान्त का परिणाम होगा वैधानिक स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना। आस्टिन को इस प्रकार की आलोचना की आशा थी अतः उसने लिखा है कि एक के ऊपर दूसरी संघठित सर्वोपरिता सृजकों का सहयोग, तथा अनन्त समय तक परम्परागत सिंहासनारूढ़ राजा" नहीं रह सकते *। आस्टिन ने इंगलैण्ड में शासनसुधार कराने के विचार से अपने सिद्धान्त का प्रचार किया था। उसका मत है कि रीतिरिवाज, धार्मिक नियम आदि राज्य के अधीन हैं अतः सर्वश्रेष्ठ, महान व्यवस्थापक मंडल ही वास्तव में वैधानिक दृष्टि से सब प्रकार से कर्त्ताधर्त्ता है"।

(ङ) लैस्की ने लोक लाभ, बहुलवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद के आधार पर आस्टिन के अपरिमित और निर्बाध सर्वोच्चसत्ता-सिद्धान्त की आलोचना की है। ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर उसका यह मत है कि "राजा के पास कभी कहीं अपरिमित शक्ति नहीं रही है, और जब अपरिमित शक्ति का प्रयोग किया गया है तभी 'सुरक्षणों, की स्थापना हुई है" †। व्यवहार में ब्रिटिश पार्लियामेंट को भी पूर्ण शक्ति प्राप्त नहीं है। "वैधानिक दृष्टि से सपार्लियामैन्ट सम्राट जन सम्मति की अवहेलना कर सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से वह ऐसा इसी शर्त पर कर सकता है कि उसके फलस्वरूप वह सपार्लियामेंट सम्राट नहीं रह जाता"। परिणाम यह होता है कि देखने में तो आस्टिन का सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

बहुलवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद सिद्धांतों के अनुसार लैस्की सर्वोच्चसत्ता को राज्य के अनेक संवासों के हितों के लिये सीमित करना चाहता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी विषयों में भी उसे परिमित करना चाहता है। उसका विचार है कि राज्य के अन्य संवासों की शक्ति भी वैसी ही मौलिक तथा पूर्ण है जैसी राज्य की। उसका कथन है कि "ये संवास भी अपने-अपने क्षेत्रों में राज्य से कम सर्वोच्चसत्ताधारी नहीं हैं" ।‡ अतः "यह कल्पना कि सत्ता केवल सीमित ही नहीं है बल्कि उसे सीमित होना चाहिये, राजनैतिक दर्शन की मूलभूत है" ।×

---

* जे० डब्ल्यू० गार्नर—पौलीटिकल साइंस ऐण्ड गवर्नमेंट पृष्ट १८१।

† एच० जे० लैस्की—ग्रामर आफ पौलिटिक्स पृ० ५१।

‡ " " " " " " पृ० ६०।

× " " " " " " पृ० ६३।

लैस्की का विचार है कि मानव समाज के हित के लिये सर्वोच्चसत्ता का सीमित करना आवश्यक है। उसका मत है कि संसार में भिन्न-भिन्न स्वतंन्त्र राज्यों के एक दूसरे के साथ परस्पर प्रतियोगिता करने का परिणाम यह होगा कि संसार की शान्ति और एकता संकट में पड़ जायगी।

वैधानिक दृष्टि से आस्टिन का सिद्धान्त ठीक है। यह सिद्धान्त न्याययुक्त है और स्पष्ट है।

बहुलवाद और सर्वोच्चसत्ता– बहुलवाद का आरम्भ यूरोप में मध्य-काल में हुआ था उस समय यूरोप में शक्तिशाली शासकों के न होने के कारण वहाँ बड़ी अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई थी। पूर्ण तथा अपरिमित शक्तिशाली राजा न होने के कारण व्यक्तियों और समुदायों में व्यवस्था स्थापित न रह सकी इसका परिणाम यह हुआ कि अपने समुदाय की सुरक्षा तथा सुव्यवस्था के अभिप्राय से शिल्पसंघों की स्थापना हुई। व्यापारी, उद्योगी और व्यवसाइयों ने अपने आपको संघरूप में संगठित कर लिया और अपने अपने समुदायों में इन संघों ने व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित की। ये संघ अपना अपना प्रबन्ध स्वयं करते थे। अपनी रक्षा के लिये इन के पास शस्त्र भी रहते थे। इनको शिल्प-संघ (Guilds) के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यही शिल्प-संघ कालान्तर में संस्थानों (Corporations) के रूप में परिवर्तित हो गये। ये स्वायत्त संस्थाएँ बन गई और ऐसे समय में जबकि यूरोप में कोई ऐसा शक्तिशाली शासक न था जो वहाँ शान्ति स्थापित रख सकता, इन संस्थाओं ने वहाँ शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखी और अराजकता न फैलने दी। मध्यकाल के अन्त और 'सुधार कार्यों' (Reformation) से लेकर वर्तमान समय तक लोगों की वृत्तियों में परिवर्तन हुआ और इस बीच में केन्द्रीय-राष्ट्रीय-राज्य स्थापित करने का वेग के साथ प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि अनेक ऐसे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इन स्वतन्त्र केन्द्रीय-राष्ट्रीय-राज्य के शासकों ने पूर्ण रूप से निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होकर राज्य किया। यदि कोई शासक उदार और दयालु होता था तो प्रजा को सुख और शान्ति मिलती थी और यदि इसके विपरीत होता तो प्रजा को कष्ट मिलता था और उसका शोषण होता था।

आधुनिककाल में लोगों के विचारों में फिर परिवर्तन हुआ और निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। लगभग दो शताब्दियों से लोगों में यह राजनैतिक चेतना कार्य कर रही है और इस

समय संसार के अधिकतर देशों में जनतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गई है। इस परिवर्तन के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) केन्ट हैगल आदि जर्मन दार्शनिकों तथा उसके अनुयायियों ने राज्य को बड़ा महत्व दिया। वैधानिक और नैतिक सत्ता राज्य को सौंप दी गई। राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर' की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन लोगों ने राज्य को इतना महत्व दिया कि राज्य के लिये मनुष्य के व्यक्तित्व को भी कुछ न समझा। इन लोगों का मत है कि मनुष्यों का कर्तव्य है कि राज्य के लिये सब कुछ अर्पण कर दें। यहाँ तक कि स्वयं बलि हो जायें। परन्तु इस अस्वाभाविक वृत्ति का अधिक प्रभाव न हो सका। लोगों ने व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वातन्त्र्य को राज्य की महत्ता की अपेक्षा अधिक आवश्यक समझा। भिन्न भिन्न संवासों तथा समाजों को राज्य के हस्तक्षेप से बचने का प्रयत्न किया और इस राजनैतिक चेतना ने बहुलवाद को जन्म दिया. बहुलवादियों का मत है कि अन्य संवासों के समान राज्य भी एक संवास है और उसकी भी सत्ता परिमिति है।

(२) जनतन्त्रीय संस्थाओं की सफलता के कारण बहुलवाद के प्रचार को प्रोत्साहन मिला, बहुलवादियों का विचार है कि प्रदेशीय प्रतिनिधित्व प्रणाली संतोषजनक नहीं है। इस प्रणाली के द्वारा भिन्न भिन्न जातियों, समुदायों तथा हितों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं होता है, अल्पमतों के हितों का संरक्षण भी नहीं होता है और शान्ति तथा व्यवस्था का उचित प्रबन्ध भी नहीं होता है अतः इन लोगों का विचार है कि मनुष्य समाज का संगठन भिन्न भिन्न व्यापारिक, औद्योगिक, धार्मिक तथा व्यवसायिक संवासों के आधार पर होना चाहिये और इन्हीं का प्रतिनिधित्व भी होना चाहिये तभी वास्तव में सब प्रकार के हितों की रक्षा हो सकती है। इन संवासों को जनतन्त्रीय प्रणाली के अनुसार सङ्गठित करना चाहिये और इनको राजनैतिक अधिकार सौंप देना चाहिये।

(३) बहुलवादियों का मत है कि राजनैतिक संस्था ने सम्पूर्ण शासनाधिकार अपने हाथ में ले रखा है। एक ही संस्था के हाथ में सम्पूर्ण राज्य का शासनाधिकार होने से शासन कार्य सफलता पूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि शासन कार्य बहुत कठिन है। आधुनिक काल में सभ्यता

वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण मनष्य समाज बड़ा जटिल हो गया है। अनेक संवास और संस्थाएं स्थापित हो गई हैं। राज्य भी इन्हीं संवासों के समान एक राजनैतिक संवास है। राजनैतिक संवास को अन्य संवासों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं समझना चाहिये न इस संवास के हाथ में अन्य संवासों से अधिक शक्ति ही होनी चाहिये। इसको अन्य संवासों के समान ही समझना चाहिये और सब संवासों के अधिकार समान होने चाहियें। संवासों को समान अधिकार प्राप्त होने पर ही सम्पूर्ण मनुष्य समाज का कल्याण हो सकता है। आधुनिक काल में राजनैतिक संवास ने अपने हाथ में सम्पूर्ण शासन शक्ति लेकर अपने ऊपर बड़ा भारी बोझ रख लिया है इस बोझ को वह नहीं झेल सकता है क्योंकि इतना बड़ा कार्य उसकी शक्ति से बाहर है। इसलिये वार्ड (Ward) के कथनानुसार "केन्द्र में पक्षाघात और दूरस्थ अवयवों में रक्त की न्यूनता है" (There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities)* । अतः बहुलवादियों का मत है कि केन्द्रीय शासन का सुधार और सामाजिक कर्म कौशल की उन्नति करने के विकेंद्रीयकरण की आवश्यकता है। मैकईवर (Mac Iver) का मत है कि "सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ अक्षमता है" † । वास्तव में बहुलवाद सिद्धान्त राज्य का अन्त करने के पक्ष में है परन्तु जिस प्रकार शिल्पसंघवादी और अराजकतावादी राज्य का बिल्कुल अन्त करना चाहते हैं उसी प्रकार बहुत से बहुलवादी राज्य का अन्त कर देने के पक्ष में नहीं हैं। बहुलवादियों का उद्देश्य केवल यह है कि सर्वोच्चसत्ता राज्य से पृथक् करदी जाय। बहुलवादियों का विश्वास है कि यूरोप में अराजकता, अशान्ति तथा अव्यवस्था होने के कारण सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त का उदय हुआ और ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था। परतु आधुनिक काल में जब कि विश्व में सापेक्षतया शान्ति और व्यवस्था स्थापित है, एक सत्तात्मक राज्य की आवश्यकता नहीं है और राष्ट्रीय हित के लिये एकात्मकवादी सिद्धान्त की अपेक्षा बहुलवादी सिद्धांत अधिक उपयोगी है।

---

* जे डब्ल्यू० वार्ड—सौवरनटी पृष्ठ ८६।

† Omnipotence means incompetence.

बहुलवादियों का कथन है कि राज्य अन्य संवासों के समान एक संवास है अतः सर्वोच्चसत्ता को संवास अथवा समुदायों में विभाजित कर देना चाहिये। इस प्रकार बहुलवादी राज्य की आन्तरिक सर्वोच्चसत्ता का खंडन करते हैं। वाह्य अथवा वैदेशिक सम्बन्ध के विषय में उनका यह मत है कि वैधानिक दृष्टि से एक राज्य दूसरे राज्य से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं होना चाहिये। वैदेशिक विषयों में भी सर्वोच्चसत्ता सीमित होनी चाहिये। 'विधान' केवल श्रेष्ठ पुरुष को हीन पुरुष के लिये 'आज्ञाएँ' ही नहीं हैं। विधान राज्य से उच्च हैं, वे राज्य से स्वतन्त्र हैं, राज्य के विधानों के अधीन हैं।

बहुलवादियों का सिद्धान्त है कि आधुनिक काल की परिवर्तित स्थिति में राज्य को सर्वेसर्वा समझना अनर्गल है। जिस समय श्रमिक-संघ, प्रमोद गोष्ठियां (Clubs), शिल्पसंघ आदि स्थापित नहीं हुए थे अथवा अपूर्ण दशा में थे उस समय राज्य को इस प्रकार के सब संवासों से श्रेष्ठ समझना उचित था। परन्तु आजकल इतनी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, श्रमिक संस्थाएँ तथा संवास स्थापित हो गये हैं और इतनी अच्छी तरह अपना अपना प्रबन्ध कर रहे हैं कि इन संवासों के होते हुए राज्य की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। राज्य की अपेक्षा जनसाधारण इन संवासों के अधिक भक्त हैं। अतः राज्य को अन्य संवासों के समान ही हो जाना चाहिये अर्थात् सर्वोच्च-सत्ता को समुदायों और संवासों में विभाजित कर देना चाहिये। बहुलवादी सर्वोच्चसता के विकेन्द्रीयकरण के पक्ष में हैं।

बहुलवादियों का सिद्धान्त बहुत कुछ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि यह सिद्धान्त राज्य की श्रेष्ठता का विरोध करता है। राज्य वैधानिक दृष्टि से श्रेष्ट ही क्यों न हो परन्तु वह अनेक नैतिक निरोधों द्वारा परिमित है। राज्य स्वयं ध्येय नहीं है। वह नैतिक निरोधों से स्वतन्त्र नहीं है। हाब्ज के सिद्धान्त की अपेक्षा इस विषय में बोदाँ का सिद्धान्त अधिक संतोषजनक है। गैटिल का कथन है कि आस्टिन की सर्वोच्चसत्ता का बहुलवादियों ने उचित उत्तर दिया है। बहुलवादियों ने उन बातों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया है जिनके कारण राज्य अन्य समुदायों और संवासों के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करता है। संघीय शासन पद्धति तथा व्यवस्थापक मंडलों में समुदाय और संवासों का प्रतिनिधित्व बहुलवादी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

मिस फॉलैट (Miss Follet) ने अपनी "न्यूट स्टेट" नामक प्रसिद्ध पुस्तक में बहुलवाद में निम्नलिखित गुण बतलाये हैं—

(क) बहुलवादियों ने वर्तमानकाल के राज्य के सर्वोच्चसत्ता के अधिकार का भंडाफोड़ किया है।

(ख) बहुलवादियों ने आधुनिक काल के सामुदायिक जीवन के महत्व को प्रकट किया है और यह बतलाया है कि राजनैतिक क्षेत्रों में समुदायों का विशेष स्थान चाहिये।

(ग) उन्होंने स्थानीय जीवन की महत्ता को स्पष्ट किया है और उसकी प्रगति के पक्ष में हैं।

(घ) बहुलवादियों का मत है कि राज्य तथा उसके अन्य विभागों अथवा अंशों के हितों में भेद है। दोनों के हित समान नहीं हैं।

(ङ) बहुलवाद के उदय के कारण भीड़ अथवा अव्यवस्थित समूहों का अन्त होता जा रहा है और व्यवस्थित संवासों की स्थापना होती जा रही है।

(च) बहुलवाद ने संघवाद (Federalism) और संवास की समानता के प्रश्न पर प्रकाश डाला है।

बहुलवाद में इतने गुण होते हुए भी उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि—

(क) यदि बहुलवाद को कार्य रूप में परिणित किया जायगा तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलेगा कि अराजकतावादी व्यक्तिवाद का प्रचार हो जायगा। परन्तु इस आक्षेप को बहुलवादी स्वीकार नहीं करते हैं। सर्वोच्चसत्ता को विभाजित करने का अर्थ उसे नष्ट कर देना है। राज्य में कोई अन्य ऐसे संवास की आवश्यकता नहीं है जो जनसाधारण के हित के विरुद्ध हो। राज्य को सब संवास समान दृष्टि से देखने चाहिये, एक को दूसरे से अधिक श्रेष्ठ नहीं समझना चाहिये। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह इस बात को देखे और नियंत्रण रखे कि कोई संवास भिन्न भिन्न प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक अथवा धार्मिक कार्य एक साथ तो नहीं कर रहा है। उदाहरणार्थ किसी धार्मिक अथवा व्यापारिक संघ को अपने संघ सम्बन्धी कार्यों के साथ साथ किसी प्रकार का राजनैतिक कर प्राप्त करने का कार्य नहीं करने देना चाहिये। राज्य ही वास्तव में एक सर्वोच्चसत्ता होनी चाहिये।

(ख) बहुलवादियों का यह कथन अनर्गल है कि राज्य के अन्तर्गत

सब संवास पूर्णरूप से एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और उनका परस्पर एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में उनका एक दूसरे से सम्बन्ध होता है। एक दूसरे के हितों में कभी कभी बड़ा विरोध होता है और स्थिति ऐसी हो जाती है कि यदि राज्य हस्तक्षेप न करे तो शान्ति भंग हो सकती है। अतः इन संवासों का पारस्परिक निर्णय करने तथा व्यवस्था स्थापित रखने के लिये इनसे अधिक शक्तिशाली राज्यरूपी संस्था की आवश्यकता है।

(ग) गैटिल ने ठीक कहा है कि राज्य को नैतिक दायित्व तथा कर्तव्यों को स्वीकार करना चाहिये, अपने कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहिये, अकेन्द्रीयकरण करना चाहिये और सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व होने देना चाहिये। परन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि ऐसा करने में राज्य की वैधानिक सर्वोच्चसत्ता पर कोई आघात न पहुंचे। परम्परागत सिद्धांतवादी दार्शनिक बोदां, हाब्ज, रूसो और आस्टिन का भी यह मत नहीं है कि "राज्य की सत्ता की आलोचना करना, उसका विरोध करना, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना अथवा उसको चुनौती देना वास्तव में अनैतिक, अनाचारिक, तर्कहीन असामाजिक तथा अव्यावहारिक है"*।

कांकर ने एकतावादियों के निम्नलिखित सिद्धांत बतलाये हैं—

(१) व्यक्तियों तथा समुदायों के पारस्परिक सम्बन्ध को नियम न करने के लिये ऐक्य तथा सहयोग की आवश्यकता है।

(२) इन सम्बन्धों को ठीक प्रकार से स्थापित रखने के लिये एक दबाव डालने वाली शक्ति की आवश्यकता है जिसके भय से ये व्यक्ति तथा समुदाय ठीक प्रकार से कार्य करते रहें।

(३) किसी राज्य में इस प्रकार की दबाव डालने वाली और सब व्यक्तियों तथा समुदायों को नियंत्रण में रखने वाली एक से अधिक संस्था नहीं हो सकती।

(४) राज्य का विशेष लक्षण यह है कि उसका संगठन वृहत् होता है और वह बलपूर्वक कार्य करने की शक्ति रखता है। लिन्ड्से (Lendsay) इस बात को स्वीकार करता है कि राज्य का यह विशेष लक्षण है परन्तु वह यह मानता है कि एक सर्वोच्च सत्तायुक्त राज्य स्थापित करना ही पर्याप्त नहीं है।

---

*एफ. डब्ल्यू. काकर (F. W. Cocker)

वास्तव में राज्य सब संवासों और समुदायों से ऊपर है और अधिक श्रेष्ठ है। वही शक्ति का प्रयोग कर सकता है। वही मनुष्य समाज के हितों की रक्षा कर सकता है अन्य सब संवास तो अपने संवास सम्बन्धी ही हितों की पूर्ति का ध्यान रखते हैं। राज्य ही व्यवस्था और शान्ति स्थापित रख सकता है और अराजकता को रोक सकता है।

(ङ) बहुलवादी लोग सर्वोच्चसत्ता रहित राज्य के ध्येय की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बहुलवादी राज्य की अन्य संवासों से समानता स्थापित करते हैं परन्तु राज्य को अन्य संवासों से अधिक श्रेष्ठ समझना और उसे अन्य संवासों की अपेक्षा उच्च स्थान देना न्याय्य-संगत प्रतीत होता है * १। गाइयार्की (Gierke) और मेटलैंड (Maitland) संवासों और समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु वे यह भी मानते हैं कि राज्य अन्य सब सामाजिक संवासों तथा संस्थाओं से ऊपर और अधिक श्रेष्ठ हैं। पॉल-बोंकुर (Paul-Boncour) का मत है कि सार्वजनिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला और राष्ट्रीय दृढ़ता को स्थापित रखने वाला केवल राज्य ही है। वह अन्य संवासों को श्रेष्ठ तथा सत्तायुक्त बतलाता है परन्तु उन्हें राज के आधीन ही स्थान देता है। वह कहता है कि राज्य सहयोग स्थापित करने वाली और समनुनय करने वाली संस्था है। फिगिस (Figgis) का विचार है कि राज्य समुदायों का समुदाय है और उसने इसे अन्य समुदायों से उच्च स्थान दिया है। उसका मत है कि यह समुदाय अन्य समुदायों में सहयोग और अनुनय स्थापित करता है। ई० बारकर (E. Barker) लिखता है कि "शिल्पिसंघ' राष्ट्रीय समुदाय, ईसाई धर्म संघ के सम्मुख हम राज्य को पीछे हटते देखते हैं। ये समुदाय कुछ भी अधिकार प्राप्त करें अथवा उनकी स्वत्व-याचना करें।

परन्तु राज्य एक अनुनय करने वाली शक्ति रहेगी। और यह भी संभव है कि समुदाय उन्नति करें, राज्य भी उन्नति करेगा और जितना राज्य का ह्रास होगा उससे अधिक उसकी उन्नति होगी क्योंकि यह एक ऐसी शक्ति है जो बड़ी गंभीर और महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करती है, समनुनय करती है * २।

(च) बहुलवादियों का यह सिद्धान्त कि राज्य भी अन्य संवास और समुदायों की भाँति एक संवास अथवा समुदाय है और उनके समान है, युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। यदि राज्य भी अन्य समुदायों के समान एक समुदाय समझ लिया

---

* १ ऐफ० डब्ल्यू० काकर

* २ ई० बारकर—पोलीटिकल थाट इन इंगलैन्ड फ्राम स्पैन्सर टु टुडे पृष्ठ १८३

जाय तो उस दशा में अन्य सब समुदायों से कर प्राप्त करने का इसे अधिकार न रहेगा, न दो समुदायों के पारस्परिक झगड़ों के निर्णय करने का इसे अधिकार रहेगा। क्योंकि यदि राज्य ऐसा करेगा तो वह अन्य समुदायों से श्रेष्ठ तथा उच्च समझा जायगा और वास्तव में उच्च होगा भी। क्योंकि यदि राज्य अन्य समुदायों में उच्च तथा अधिक शक्तिशाली न होगा तो वह उनमें व्यवस्था किस प्रकार स्थापित कर सकेगा ? अतः यह आवश्यक है कि एक ऐसी संस्था अथवा संवाद रहे जो अन्य संवादों से उच्च तथा अधिक शक्तिशाली हो और जो अन्य सब संवादों में शान्ति स्थापित रख सके। ऐफ० डब्ल्यू० काकर का कथन है कि "राज्य की सर्वोच्चसत्ता सिद्धान्त को त्यागना न तो उपयोगी प्रतीत होता है न आवश्यक" उसका मत है कि राज्य की नीति को कार्यरूप में परिणित करने के लिये तथा व्यवस्था और शांति स्थापित रखने के लिये राज्य की सर्वोच्चसत्ता की आवश्यकता है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

डब्ल्यू० डब्ल्यू० विलोबी-नेचर आफ दी स्टेट।
ऐन० वाइल्ड—ऐथीकल बेसिस आफ दी स्टेट।
पी० डब्ल्यू वार्ड-सार्जेन्ट—स्टडी आफ कन्टेम्परेरी पोलीटिकल नोशन
ऐच० सिजविक—ऐलीमेन्ट्स आफ पौलिटिक्स
जे० जे० रूसो—सोशल कान्ट्रेक्ट
ऐफ पौलक—हिस्ट्री आफ दी साइंस आफ पौलिटिक्स
आर० ऐम० मैकईवर—माडर्न स्टेट
ए० आर० लार्ड—प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल साइंस
ऐस० लीकाक—ऐलीमेन्ट्स आफ पोलीटिकल साइंस
ऐच० जे० लैस्की—ग्रामर आफ पोलीटिक्स
आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—प्रिन्सिपल्स आफ पोलीटिकल साइंस
आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस
जे० डब्ल्यू० गार्नर—पोलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेंट
ऐम० पी० फालेट—न्यू स्टेट
ए० बी० डायसी—ला आफ कान्स्टीट्यूशन
,, ,, ,, —ला ऐन्ड पब्लिक ओपीनियन
ऐफ० डब्ल्यू० कोकर—पोलीटिकल थ्यौरी इन रीसेन्ट टाइम्स बाई मेरियम बार्न्स ऐन्ड अदर्स
ई० बारकर—पोलीटिकल थाट इन इंगलैंड फ्रोम स्पेन्सर टु टुडे
बी० बोसांके—फिलासाफिकल थ्यौरी आफ दी स्टेट
जे० आस्टिन—लैक्चर्स आन जुरिस्प्रूडैन्स

